संघ-ग्रन्थमाला का प्रथम-पुष्प—

विरोध परिहार

लेखकः—

पं० राजेन्द्रकुमारजी जैन शास्त्री, कासगञ्ज यू० पी०

प्रकाशकः—

मंत्री—प्रकाशन-विभाग, भा० दि० जैन संघ अम्बाला।

प्रति १००० } फरवरी १९३८ { मूल्य ।ु)

Rs 5-0P0

विषय-सूची

प्रथम अध्याय— पृष्ठ

(१) जैनधर्म के अनेक तीर्थंकर १—११
(२) भ० पार्श्वनाथ जैन तीर्थंकर थे १२—२१
(३) भ० पार्श्वनाथ से पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व २२—७१

दूसरा अध्याय—

(१) सर्वज्ञता ७२—१२८
(२) युक्तियों में युक्त्याभास की कल्पना १२८—२१६
(३) केवली और क्रमिक ज्ञान २१६—२६७
(४) दर्शनोपयोग का वास्तविक स्वरूप २६७—२६१
(५) केवली और मन २६२—३२८
(६) केवली और अन्य ज्ञान ३२८—३८२
(७) सर्वज्ञ शब्द का अर्थ ३८२—३६५
(८) निष्कर्ष ३६५—४१४

तीसरा अध्याय—

(१) भ० पार्श्वनाथ साधु वस्त्रधारी नहीं थे ४१५—४२५
(२) भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर के शासन में भेद नहीं है ४२५—४३६
(३) भ० पार्श्वनाथ के शासन की बातें अनिश्चित नहीं थीं। ४३६—४४८

Rs 5 - 0 P 0

* नमोजिनायः *

विरोधपरिहार

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक-चर्चा

मुक्तामुक्तैक रूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्त्तिं नमामितम्॥

अवतारवाद के सम्बन्ध में गीता में लिखा है कि "जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की बढ़ोतरी होने लगती है, तब-तब सज्जनों की रक्षा दुष्टों के निग्रह और धर्म की स्थापना के लिये मैं जन्म लेता हूँ।"

ठीक यही बात आक्षेपक ने धर्म-संस्थाओं की स्थापना के

१—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

गीता अध्याय ४ श्लोक ७-८

सम्बन्ध में लिखी है। आपका कहना है कि जब-जब संसार में खराब हालतें हुई हैं, तब-तब उनके सुधार के लिये धर्म-संस्थाओं का जन्म हुआ है। इन धर्म-संस्थाओं ने अपने-अपने समय में देश और समाज की उल्लेख-योग्य सेवायें की हैं। अतः अपने-अपने समय के लिहाज से ये सबही कल्याणकारक हैं; किन्तु फिर भी इनके जन्म समयविशेष की दशा के सुधार को हुए थे। अतः इनको धर्म या कल्याण-मार्ग का सार्वकालिक रूप न कहकर उसका सामायिक रूप ही कहना होगा। इन धर्म-संस्थाओं के जन्मदाता ही आगे चल कर अवतार, तीर्थङ्कर और पैग़म्बर आदि के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। जैन-धर्म भी इन्हीं में से एक है, इसका जन्म भी समय-विशेष की परिस्थिति के सुधार के लिये हुआ था। अतः इसका भी कोई संस्थापक या तीर्थङ्कर होना चाहिये। आधुनिक जैन-शास्त्र चौबीस तीर्थंकर बतलाते हैं; किन्तु यह बात काल्पनिक है। तीर्थ, धर्म के सामायिक रूप का नाम है। अतः किसी भी तीर्थ के क्रमशः दो तीर्थंकर नहीं हो सकते। जो

२—धर्म-संस्थाओं की स्थापना जन-समाज के कल्याण के लिये और उसकी उन्नति के लिये हुआ करती है, इसलिये धर्म संस्था का निर्माण भी जन समाज की परिस्थिति के अनुकूल हुआ करता है। एक ही आदमी दो भिन्न-भिन्न देशों और समयों में अगर धर्म-संस्था बनावें तो दोनों ही संस्थायें जुदे जुदे ढङ्ग की होंगी। इससे समझा जा सकता है कि धर्म-संस्थाओं के नियम अटल अचल नहीं हैं; किन्तु देशकाल की परिस्थिति के फल हैं। इसलिये देशकाल के बदलने पर उनको बदलने का कार्य उचित है। जैन-धर्म मीमांसा ५२

नया तीर्थ बनाता है, वही तीर्थंकर कहलाता है। इसलिये हम महावीर स्वामी को ही जैन-तीर्थंकर—जैन-धर्म का संस्थापक कह सकते हैं।

आक्षेपक ने अपने ये विचार मार्च सन् ३६ में प्रकट किये हैं। इससे पूर्व इस सम्बन्ध में आपके दूसरे ही विचार थे। आप भगवान् महावीर के साथ ही साथ भगवान् पार्श्वनाथ को भी जैन-तीर्थंकर स्वीकार करते थे तथा शेष बाईस तीर्थंकरों का सद्भाव या अभाव न मान कर उनके अस्तित्व को अन्धकार में स्वीकार करते थे[३]। वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में आपके ये विचार थे। वैसे तो अन्य युगों की अपेक्षा आप जैन-धर्म को अनादि भी स्वीकार करते थे[४]। अब विचारणीय यह है कि—

(१) क्या जैन-धर्म के अनेक तीर्थंकर हो सकते हैं?

(२) क्या भगवान् पार्श्वनाथ जैन-तीर्थंकर थे?

(३) क्या जैन-धर्म भगवान् पार्श्वनाथ से प्राचीन है?

३—पहिले वर्णन से यह बात तो निश्चित है कि महावीर के पहिले जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ थे। इससे जैन-धर्म क़रीब २७५० वर्ष पहिले का सिद्ध हो जाता है। इसके पहिले जैन-धर्म था कि नहीं था? इस विषय का कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता है।

जैन-जगत वर्ष ७ अंक ६–१०

४—जैन-धर्म अनादि है, इतना ही नहीं; किन्तु अन्य धर्म भी अनादि हैं। हाँ, कभी किसी का आविर्भाव और कभी किसी का तिरोभाव होता है। यहाँ हमें इस बात का विचार करना है कि इस युग में जैन-धर्म का आविर्भाव कब हुआ।

जैन-जगत वर्ष ७ अंक ६–१०

आक्षेपक के वर्तमान विचारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, एक दार्शनिक और दूसरे ऐतिहासिक। दर्शन शक्ति पर विचार करता है और इतिहास होने पर। अतः जहाँ तक आपके इन विचारों का एक तीर्थ के दो तीर्थंकर न हो सकने का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो आपके ये विचार दार्शनिक विचार हैं; किन्तु जब आप एक तीर्थ के दो तीर्थंकर न होने की बात कहते हैं, तब आपके येही विचार ऐतिहासिक रूप धारण कर लेते हैं। जहाँ तक आपके विचारों के दार्शनिक दृष्टिकोण की बात है, आपने इसके समर्थन में इतना ही लिखा है कि जैन-धर्म की स्थापना परिस्थिति विशेष में तथा उनके ही सुधार के लिये हुई है। अतः यह कल्याण-मार्ग का सामायिक रूप है। इससे आप यही सिद्ध करना चाहते हैं कि जब जैन-धर्म ही सामायिक ध्येय को लेकर उत्पन्न हुआ है, तब यह कैसे हो सकता है कि उसके तीर्थंकर भिन्न-भिन्न काल के स्वीकार किये जायँ। अतः यही स्वीकार करना पड़ेगा कि जैन-धर्म के अनेक तीर्थंकर नहीं हो सकते।

आक्षेपक के इस कथन को यदि अनुमान का रूप देना चाहें तो यों कहना चाहिये कि जैन धर्म के अनेक तीर्थङ्कर नहीं हो सकते क्योंकि उसकी उत्पत्ति परिस्थिति विशेष के ही सुधार के लिये हुई है। आक्षेपक इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि प्रचलित जैन मान्यता उनकी इन दोनों ही बातों के प्रतिकूल है। वह जैन-धर्म के अनेक तीर्थङ्कर स्वीकार करती है तथा उसकी स्थापना को भी परिस्थिति विशेष के ही सुधार के लिये नहीं मानती। इसके अनुसार जैन-धर्म सार्वदेशिक तथा सार्व-

कालिक है। आप यह भी जानते थे कि वह अपनी इस बात को बिना हेतुवाद के स्वीकार भी न करा सकेंगे। ऐसी दशा में उनका कर्तव्य था कि वह इस बात को सिद्ध करते कि अमुक परिस्थिति के सुधार के लिये अमुक समय में जैन धर्म की स्थापना हुई है। हमनें उनकी लेख माला तथा पुस्तक को इस दृष्टिकोण से बारीकी के साथ देखा है किन्तु हमको यह बात उनकी रचनाओं में नहीं मिली है, इससे हम तो यही कह सकते हैं कि उन्होंने इस दिशा में प्रयत्न ही नहीं किया है। यह कैसे संभव है कि जब तक किसी भी हेतु को प्रमाणित न कर दिया जाय तब तक उसको या उससे साध्य की सिद्धि को स्वीकार कर लिया जाय, अतः आक्षेपक के इस कथन के प्रतिकूल यदि दो शब्द भी न लिखे जांय तब भी इसको अपने साध्य को सिद्ध करने में असफल ही समझना चाहिये। भगवान् महावीर का जीवन वर्णन करते हुए आक्षेपक ने निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं[1]।

"बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण और पूर्ण मनन करने के बाद म० महावीर पूर्ण समभावी और मर्मज्ञ होगये। अब संसार की कोई वस्तु उन्हें दुःखी नहीं कर सकती थी। जिस अज्ञानता के कारण प्राणी दुःखी होता है वह अज्ञानता उनकी नष्ट होगई थी। आत्मा को स्वतन्त्र और सुखी बनाने का जो सच्चा मार्ग है, वह उन्हें प्रत्यक्ष झलकने लगा था। वे कृतकृत्य होगये थे। उनका कोई स्वार्थ बाकी न रहा था। फिर भी प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह लोक सेवा अवश्य करना चाहिये इसलिये

१ जैन धर्म मीमांसा १२३-४

उन्होंने विचार किया कि जब तक जीवन है तब तक मन बचन काय कुछ न कुछ काम तो करेंगे ही, तब उनसे विश्व कल्याण का ही काम क्यों न लिया जाय? इसलिये जिस अवस्था को वे स्वयं प्राप्त हुए थे, दूसरों को भी वही अवस्था प्राप्त कराने के लिये उन्होंने संघ रचना का विचार किया और इसके लिये वे धर्म प्रचारक बने।"

इनमें तो उन्होंने साफ साफ स्वीकार किया है कि जब भगवान् महावीर की अज्ञानता नष्ट होगई थी और वह कृतकृत्य होगये थे उस समय उन्होंने संसार को भी ऐसा ही बनाने के लिये सङ्घ रचना एवं धर्म प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया था। सङ्घ रचना से तात्पर्य जैन समाज की स्थापना से है तथा जैन धर्म प्रचार से तात्पर्य जैन तीर्थ की स्थापना से है। इस ही प्रकार अज्ञानता के नाश एवं कृतकृत्य होने से तात्पर्य जीवन मुक्ति से है अतः आक्षेपक के इन वाक्यों के आधार से तो यही कहा जासकता है कि भगवान् महावीर ने जैन समाज एवं जैन धर्म की स्थापना जगत को जीवन्मुक्ति या मुक्ति का मार्ग बतलाने के लिये की थी। इस ही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि भगवान् महावीर ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया था।

रस्सी में गांठ लगाते समय जो क्रिया की जाती है उसको खोलते समय ठीक उससे उल्टी क्रिया करनी पड़ती है, यही बात संसार और मुक्ति के सम्बन्ध में है। जिन जिन बातों से हम संसार के बन्धनों में जकड़े जाते हैं ठीक उनके प्रतिकूल कार्यों से ही हम उनसे छूट सकते हैं। बन्धनों से जकड़ने का नाम संसार

तथा उनसे छूटने का नाम ही मुक्ति है। किसी भी गांठ लगाने या खोलने में हमको आज जो क्रिया करनी पड़ती है उसके लिये दूसरे समय में भी हमको वही क्रिया करनी होगी। ठीक यही बात बन्धन और मुक्ति के सम्बन्ध में है। आज जो जो बातें हमको बन्धन में डाल सकती हैं दूसरे समय में भी वे ही बातें हमारे बन्धन का कारण हो सकेंगी, इस ही प्रकार जिस मार्ग से आज हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं दूसरे समय में भी हमको मुक्ति के लिये उस ही मार्ग का अवलम्बन लेना होगा इससे स्पष्ट है कि बन्धन और मुक्ति के मार्ग व्यक्ति विशेष और काल विशेष से सम्बन्धित नहीं है किन्तु ये तो सर्वज्ञ और सब के लिये एक से हैं। भगवान् ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार का कारण बतलाया है। इन ही को यदि संक्षेप में कहना चाहें तो मोक्ष मार्ग को "वीतरागभाव" एवं संसार मार्ग को कषायभाव कह सकते हैं। इस ही कषायभाव के क्रोध, मान, माया और लोभादिक अनेक भेद हैं। संसार में मानसिक, वाचनिक और कायिक किसी भी प्रकार का कष्ट क्यों न हो किन्तु उसके जड़ में इन्हीं कषायभावों में से कोई न कोई जरूर मिलेगा। अतः इन कषायभावों को छोड़ देना या दुःख मात्र से छुटकारा पा लेना एक ही बात है। सम्पूर्ण दुःखों से छूटना ही अनन्त सुख की प्राप्ति है अतः मोक्ष-मार्ग कहिये या कल्याणमार्ग कहिये एक ही बात है। आज यदि हम इन क्रोध, मान, माया और लोभादिक विकारीभावों से कष्ट

पाते हैं तो भूतकाल में भी हमारे कष्टों के ये ही कारण थे तथा भविष्य कष्टों के भी ये ही साधन रहेंगे। यदि बन्धन के कारणों के सम्बन्ध में यह बात है तो यही बात मुक्ति के कारणों के सम्बन्ध में है। अतः रत्नत्रय मोक्ष का सार्वकालिक साधन है। इस ही को सर्व प्रकार के सुखों या कल्याण का सार्व कालिक एवं सार्वदेशिक साधन कहना चाहिये।

भगवान् ने ये सब बातें केवल अपने ज्ञान के द्वारा ही जान कर नहीं बतलाई थीं किन्तु उन्होंने स्वयं इनका अनुभव किया था। अनुभव करते-करते जीवन्मुक्त हो जाने के बाद ही उन्होंने इन बातों को संसार के सामने रक्खा था। आक्षेपक को स्वयं स्वीकार करके भी कि भगवान् महावीर ने जनता को अपने समान बनाने का ही उपदेश दिया था। यह लिखना कि जैन धर्म का उदय परिस्थिति विशेष के हा सुधार के लिये हुआ है अवश्य आश्चर्य की बात है। यह तो तब ही सम्भव हो सकता था जब कि भगवान् महावीर जनता को तत्कालीन परिस्थिति के सुधार का ही मार्ग बतलाते, उन्होंने तो उसको मोक्ष-मार्ग बतलाया था तथा इस में सब ही बातों का सुधार है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-धर्म को परिस्थिति विशेष के ही सुधार का मार्ग बतलाना केवल कल्पनामात्र है।

यदि मोक्षमार्ग का ही नाम जैनधर्म है तो इसने अहिंसावाद के ही सम्बन्ध में प्रसिद्धि क्यों प्राप्त की है? यह बात सत्य है कि जैनधर्म की अहिंसा प्रसिद्ध है और वह भी पशुओं के सम्बन्ध में। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि आज जैनधर्म के जिस

तीर्थंकर का शासन चालू है उनके समय में हिंसा का प्राबल्य था और वह भी पशुओं के सम्बन्ध में। उस समय यज्ञवाद का जमाना था; धर्म के लिये यज्ञ में पशुओं की आहुतियां दी जाती थीं। भारत के एक महाकवि ने इन्हीं यज्ञों का वर्णन करते हुए लिखा है * कि इनमें से इतना खून निकलता था कि उसके रङ्ग से चम्बल नदी का पानी भी रंग जाया करता था। यदि महाकवि के इस वर्णन को अतिशयोक्तिपूर्ण भी मान लिया जाय तब भी इतना तो निश्चित है कि उस समय यज्ञों का प्राबल्य था तथा इनमें धर्म के नाम पर घोर हिंसा होती थी। महावीर स्वामी के उपदेश में अहिंसा की प्रबलता थी और वह इसमें सफल भी हुए। उनके उपदेश द्वारा भारत से इस हिंसामई यज्ञवाद की बिदाई हुई। भगवान् महावीर के सन्देश में हिंसा के त्याग के साथ ही साथ पशुओं की रक्षा पर विशेष जोर था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी हिंसा पशुओं ही तक सीमित थी किन्तु उस समय पशु-हिंसा का अधिक प्रचार था अतः इस ही के रोकने की आवश्यकता भी थी। यदि पशुओं के स्थान पर उस समय मनुष्यों की हिंसा का प्राबल्य होता तो भगवान् के उपदेश से भी हिंसा के त्याग में मनुष्यों का विशेष उल्लेख होता। इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म का अहिंसा का सिद्धान्त तो बहुत व्यापक है। मनुष्य और पशुओं की तो बात ही क्या है इसमें तो अपने परिणामों तक की रक्षा का विधान है किन्तु इसको पशुओं की हिंसा का ही मुख्यतः सामना करना पड़ा था अतः यह उस ही के

---

* मेघदूत ४५ (पर्व) टीका।

लिये प्रचलित सा होगया था। अहिंसा के इस दृष्टान्त से यह बात साफ है कि जिस प्रकार इसमें व्यापक रूप रखने पर भी परिस्थिति विशेष के कारण व्याप्य में ख्याति प्राप्त की है इस ही प्रकार मोक्ष-मार्ग स्वरूप जैनधर्म ने भी अहिंसा में अधिक ख्याति प्राप्त की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनधर्म का सन्देश केवल तत्कालीन परिस्थिति के सुधार के ही लिये नहीं था किन्तु उसमें सर्वोच्च आत्मविकाश का मूलमन्त्र था। इसमें ऐसी-ऐसी बातें थीं जिससे भिन्न-भिन्न कालीन परिस्थितियों के सुधार के साथ ही साथ आत्मा इसके द्वार निर्वाण को भी प्राप्त कर सकता है। अतः इसको परिस्थिति विशेष के सुधार से सीमित नहीं किया जासकता यदि थोड़ी देर के लिये आक्षेपक की इस बात को सत्यता के बिना विचार किये ही स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी इससे उनकी मान्यता की पुष्टि नहीं हो सकती......। यह तो तभी सम्भव हो सकता था जबकि एक प्रकार की परिस्थिति का दुबारा होना ही असम्भव होता। यदि एक ही प्रकार की परिस्थिति दुबारा भी हो सकती है तो उस ही के अनुरूप दूसरे तीर्थंकर का उदय भी दुबारा हो सकता है। दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा—किसी कुटुम्ब में एक आदमी बीमार होता है और उसकी चिकित्सा के लिये वैद्य बुलाया जाता है। इस ही प्रकार यह व्यक्ति जब-जब भी बीमार होगा तब २ भी वैद्य बुलाया जा सकेगा। जिस बेतार के तार का स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्रजी बोस ने भारत में आविष्कार किया था, उसही का आविष्कार एक दूसरे विद्वान् ने यूरोप

में भी किया था। ऐसी अन्य भी सैकड़ों बातें हैं जो कि एक ही काल में या भिन्न २ कालों में अनेक व्यक्तियों को एक ही ढङ्ग से एवं एक ही रूप से सूझा करती हैं। इन सब बातों की उपस्थिति में यह नहीं कहा जासकता कि अमुक धर्म संस्था की स्थापना के समय जैसी परिस्थिति थी वैसी दुबारा हो ही नहीं सकती। यदि एक ही प्रकार की परिस्थितियां भिन्न २ समयों में भी सम्भव है तो यह कैसे सम्भव नहीं है कि भिन्न २ समयों में उस ही प्रकार की परिस्थितियों में उसी प्रकार की धर्म संस्था की स्थापना भी हो सकती है। जिस परिस्थिति में जो बात एक बार पैदा हो।सकती है उसही परिस्थिति में वह बात दुबारा नहीं हो सकेगी इसको किसी भी प्रकार सम्भवनहीं ठहराया जासकता है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि परिस्थिति विशेष के सुधार के लिये ही जैन धर्म की स्थापना नहीं हुई है। अतः इसको धर्म का सामायिक रूप भी नहीं कह सकते। यदि अभ्युपगम सिद्धांत से इसको स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी यह इसके अनेक तीर्थङ्करों का अभाव प्रमाणित करने में असमर्थ है। आक्षेपक के प्रस्तुत विषय के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विचार को भी दो विभागों में बांटना होगा। एक भगवान पार्श्वनाथ का जैन तीर्थ-ङ्कर होना और दूसरे भगवान् पार्श्वनाथ से पूर्व जैन-धर्म का अस्तित्व। इन दोनों बातों में से प्रथम हम भगवान पार्श्वनाथ के जैन-तीर्थ होने के विषय में विचार करेंगे।

भगवान पार्श्वनाथ जैन तीर्थंकर थे

इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने निम्न लिखित वाक्य लिखे हैं—

"म० पार्श्वनाथ अवश्य ही एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका धर्म करीब दो-ढाई सौ वर्ष तक चला परन्तु उसमें शिथिलता आ जाने से उसके अनुयायी जैन-धर्म में मिल गये। इसलिये पार्श्वधर्म और वीर धर्म दो धर्म के रूप में एक साथ न रह सके। इसलिये बहुत-से ऐतिहासिक विद्वान् भी महा० पार्श्वनाथ के धर्म को भी जैन-धर्म ही समझते हैं। परन्तु जब दोनों ही तीर्थंकर थे तब दोनों के धर्म एक नहीं हो सकते। हां अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा उनमें कुछ अधिक समानता हो सकती है। दुर्भाग्य यह है कि पार्श्व धर्म का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता और वीर धर्म का साहित्य भी ज्यों का त्यों उपलब्ध नहीं है। केशी-गौतम-संवाद ही एक ऐसी घटना है जिससे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। परन्तु वह भी इतना अविकृत नहीं है कि उससे सब बातो का ठीक-ठीक परिचय मिल सके। उससे सिर्फ महात्मा पार्श्वनाथ का अस्तित्व सिद्ध होता है और वीर धर्म से वह जुदा धर्म था। जिसके अनुयायी विरोध करने के बाद वीर धर्म में आगये थे, यह भी मालूम होता है।[१]

आपके इन वाक्यों से स्पष्ट है कि आप भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक तीर्थङ्कर तो स्वीकार करते हैं, किन्तु यह नहीं मानते कि वह जैन तीर्थङ्कर थे। अतः विचारणीय यह है कि क्या

१—जैन धर्म मीमांसा ६१। २

भगवान् पार्श्वनाथ जैन तीर्थंकर थे ? आक्षेपक का कहना है कि भगवान पार्श्वनाथ का शासन भगवान महावीर के शासन से भिन्न था। अतः भगवान् महावीर को ही जैन धर्म का संस्थापक मानना चाहिये। इन दोनों तीर्थङ्करों के शासन-भेद के समर्थन में आपने उत्तराध्ययन का केशि-गौतम-सम्वाद और मूलाचार की शासन-भेद वाली गाथा उपस्थित की है। केशि और गौतम के सम्वाद में बारह प्रश्न और बारह उत्तर हैं। इनमें से आदि के दो प्रश्न और दो उत्तर तो शासन-भेद से सम्बन्ध रखते हैं तथा शेष का सम्बन्ध धर्म-सम्बन्धी विशेष ज्ञान से है। यद्यपि हमने इनके मूल को फुटनोट के रूप में उद्धृत कर दिया है।[२] किंतु

२—चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पञ्च सिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पचओ न ते ॥
तओ किसं बुवंतं तु, गो अमो इणमब्बवी।
पण्णा समिक्खए धम्मं तत्तं तत्त विणिच्छयं ॥
पुरिमा उज्जुजडाउ, वक्कजड़ा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपण्णा उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥
साहु गोयम पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥
अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाणं, विससे किं नु कारणं।

फिर भी जब तक इसका हिन्दी भाषान्तर सामने नहीं आता तब तक पाठक इस पर भली-भाँति विचार नहीं कर सकते। अतः यहां हम इनका आक्षेपक का ही हिन्दी भाषान्तर उपस्थित करते हैं।

केशि—महाभाग, मैं तुम से कुछ पूछना चाहता हूँ।

गौतम—भदन्त, इच्छानुसार पूछिये।

केशि १—चार प्रकार के चारित्र रूप धर्म को महावीर ने पांच प्रकार का क्यों बताया ? जब दोनों का एक ही ध्येय है तब इस अन्तर का कारण क्या है ?

गौतम १—पार्श्वनाथ के समय में लोग सरलप्रकृति के थे, इसलिये वे चार में पाँच का अर्थ कर लेते थे। अब कुटिल प्रकृति के लोग हैं। उनको स्पष्ट समझाने के लिये ब्रह्मचर्य के विधान की अलग आवश्यकता हुई।

केशि २—महावीर ने दिगम्बर वेष क्यों चलाया ?

गौतम २—जिसको जो उचित है, उसको वैसा धर्मोपकरण बतलाया है। दूसरी बात यह है कि लिङ्ग तो लोगों को यह

धम्मे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते ॥
केसिमेवं वयंतं तु, गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म, धम्म साहण मिच्छियं ॥
पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविह विगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगप ओयणं ॥
अह भवे पइन्नाउ, मोक्खसब्भूप साहणा।
नाणं च देसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥

उत्तराध्ययन २३, ३३ केशि-गौतम सम्वाद

विश्वास कराने के लिये है कि "यह साधु है"। इसलिये दिगम्बर लिङ्ग धारण करने पर भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि यह भी लोक प्रत्यय का कारण हो सकता है। तीसरी बात यह है कि संयम निर्वाह के लिये लिङ्ग है। चौथी बात यह है कि "मै साधु हूँ" इस प्रकार की भावना बनाये रहने के लिये लिङ्ग है। (ये सब काम दिगम्बर लिङ्ग से भी हो सकते हैं) और वास्तव में तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही मोक्ष के साधक हैं, लिङ्ग नहीं।"

शासन-भेद सम्बन्धी मूलाचार की गाथा का भी आक्षेपक का हिन्दी भाषान्तर निम्न प्रकार है।

"बाईस तीर्थङ्कर सामायिक संयम का उपदेश करते हैं। और भगवान् ऋषभ और वीर छेदोपस्थापना का उपदेश करते हैं[१]।" इन दोनों शास्त्रों के अतिरिक्त भी अनागारधर्मामृत[२], चारित्रभक्ति[३],

---

१—बावीसं तित्थपरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसह य वीरो य॥

मूलाचार ७-३२

२—आदिमान्तिमतीर्थंकरावेव व्रतादिभेदेन सामायिकमुपदिशतः स्म नाऽजितादयो द्वाविंशतिरिति सहेतुकं व्याचष्टे—
दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा।
दुष्पालं वक्र जडैरिति साम्यं ना परे सुपटुशिष्याः॥

अनागार धर्मामृत ९-८७

३—तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषा निमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै—
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान्नमामो वयम्॥

चारित्रभक्ति ७

आवश्यक[४] निर्युक्ति और 'प्रज्ञापना सूत्र की मलयागिरि टीका'[५] आदि में इस विषय का वर्णन आया है तथा वह ठीक मूलाचार के अनुरूप ही है। मूलाचार की उद्धृत गाथा के साथ यदि उससे आगे की गाथा को और मिला दिया जाय तो उसका भाव बिलकुल स्पष्ट हो जायगा। अतः हम उसको फुटनोट[६] में तथा यहाँ उसके हिन्दी भाषान्तर को उद्धृत किये देते हैं। "पांच-महाव्रतों (छेदोपस्थापना) का कथन इस वजह से किया गया है कि इनके द्वारा सामायिक का दूसरों को उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना, पृथक-पृथक रूप से भावना में लाना और सविशेष रूप से समझना सुगम हो जाता है। आदिमतीर्थ में शिष्य मुश्किल से शुद्ध किये जाते हैं, क्योंकि वे अतिशय सरल स्वभाव

४—सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं॥
बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति।
छो ओवट्ठावणयं पुण वयन्ति उसभो य वीरो य॥
आवश्यक निर्युक्ति १२४४–१२४६

५—यद्यपि सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादि विशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते।
मलयगिरि टीका प्रज्ञापनासूत्र

६—आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता॥
आदीए दुव्विसोधणे णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपालेया।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥
अनागार धर्मामृत ७—३३, ३४

होते हैं। और अन्तिम तीर्थ में शिष्यजन कठिनता से निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे अतिशय वक्रस्वभाव होते हैं। साथ ही इन दोनों समयों के शिष्य स्पष्ट रूप से योग्य अयोग्य को नहीं जानते हैं। इस आदि और अन्त के तीर्थ में इस छेदोपस्थापना के उपदेश की जरूरत पैदा हुई है।

इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता एवं उनके हिन्दी भाषान्तर की आलोचना तो हमने इस पुस्तक के दिगम्बर सम्बन्धी अध्याय में की है। यहाँ तो यदि हम इसको बिलकुल ठीक भी स्वीकार करलें तब भी इनसे आक्षेपक की मान्यता का समर्थन नहीं होता। केशि-गौतम सम्बाद के पहिले प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार है "पार्श्वनाथ के समय में लोग सरल प्रकृति के थे इसलिये वे चार में पांच का अर्थ कर लेते थे। अब कुटिल प्रकृति के लोग हैं उनको स्पष्ट समझाने के लिये ब्रह्मचर्य के विधान की अलग आवश्यकता हुई"।

उत्तर बिलकुल स्पष्ट है। इसमें साफ साफ लिखा है कि भगवान् पार्श्वनाथ के समय में जनता अपनी सरलता के कारण जिस बात को चार यमों से ही समझ लेती थी उसही को साफ-साफ समझाने के लिये भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया है। इससे स्पष्ट है इन तीर्थङ्करों के शासन में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रहा। यदि अन्तर रहा है तो वह केवल शब्दों का रहा है। एक ने यदि थोड़े शब्दों का प्रयोग किया है तो दूसरे ने कुछ अधिक शब्दों का। इस ही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो इनको संक्षिप्त और विशद या सामान्य और विशेष कथन कह सकते हैं। किसी भी विषय के सम्बन्ध में सामान्य

और विशेष कथन विरोधात्मक कथन नहीं। विरोधात्मक कथन तो उन्हीं को कहा जा सकता है जिनमें से एक कथन दूसरे कथन को मिथ्या बतलाता हो, जैसे जीव है, और जीव नहीं है, जीव है यदि यह सत्य है तो यही जीव नहीं है को मिथ्या सिद्ध करता है। इस ही प्रकार यदि दूसरा सत्य सिद्ध होजाता है तो वह पहिले को मिथ्या प्रमाणित कर देता है। अतः ये कथन विरोधात्मक कथन है न कि "जीव है, जीव के संसारी और मुक्ति दो भेद हैं"।

ये कथन, इनमें एक कथन दूसरे कथन को मिथ्या सिद्ध नहीं करता। इनमें तो दोनों ही सत्य हो सकते हैं। इन दोनों कथनों में तो अर्थ भेद भी है किन्तु पहिले उत्तर में आये हुए कथनों में तो इस बात का भी अभाव है। अतः यह निसन्देह बात है कि पहिले उत्तर के कथन भेदात्मक या विरोधात्मक कथन नहीं हैं।

यही बात संवाद के दूसरे उत्तर के सम्बन्ध में है। इस में भी साफ साफ लिखा है कि "ये सब काम दिगम्बर लिङ्ग से भी हो सकते हैं"।

इस प्रश्नोत्तर की समीचीनता की भी आलोचना हमने इस पुस्तक के दिगम्बरत्व प्रकरण में की हैं, यहां तो हमको इतना ही लिखना है कि यदि इसको मान भी लिया जाय तब भी इसके आधार से दोनों तीर्थङ्करों के शासनों में विभिन्नता सिद्ध नहीं होती। यह उत्तर दोनों तीर्थङ्करों में वेश का आग्रह नहीं बतलाता। यह तो यही बतलाता है कि दोनों ही लिङ्गों से कार्य चल सकता है। सीधी बात तो यह है कि जहां किसी भी बात के साथ

"भी" का प्रयोग है वहाँ विरोध की तो चर्चा ही व्यर्थ है। यह तो विरोध का संहारक है, इसने तो बड़े-बड़े विरोधों का विरोध किया है। अतः प्रश्नोत्तर भी दोनों तीर्थङ्करों के शासनों में भेद प्रमाणित करने में असफल ही रहा है।

यही बात मूलाचार के सम्बन्ध में है, मूलाचार भी एक ही अर्थ को दो प्रकार के शब्दों में प्रतिपादन का समर्थन करता है। सामायिक और छेदोपस्थापना का एक ही अर्थ है। अन्तर केवल इतना है कि सामायिक उसही को अभेद रूप से बतलाता है और छेदोपस्थापना भेद रूप से तथा यह सब परिस्थिति विशेष से हुआ है। इसका वर्णन विवादस्थ गाथा की आगे की गाथा में साफ साफ मौजूद है। जहां तक परिस्थिति भेद की बात है उत्तराध्यन और मूलाचार एक ही बात का वर्णन करते हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ, बीच के तीर्थङ्करों के समय को सरल और अंतिम तीर्थङ्कर के समय को वक्र प्रतिपादन करते हैं। इनके कथन के अनुसार बीच के समय के व्यक्ति संक्षेप से ही समझ लेते थे, किन्तु अन्तिम तीर्थंकर के शासन के लोगों के लिये विस्तार की आवश्यकता पड़ती रही है।

जहां कि परिस्थिति के वर्णन में इन दोनों ग्रंथों में समानता है वहीं यह बात भी ये दोनों एक रूप से बतलाते हैं कि परिस्थिति का ध्यान रखने के ही मध्य के और अन्तिम तीर्थंकर ने एक ही बात को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा संक्षेप और विस्तार के साथ समझाया है। इन दोनों में अन्तर तो केवल उन बातों के सम्बन्ध में है जो कि संक्षेप और विस्तार से समझाई गई थी। एक यदि

इनको चतुर्याय और पञ्च व्रत रूप बतलाता है तो दूसरा सामायिक संयम और छेदोपस्थापना रूप प्रतिपादन करता है। कुछ भी सही यहां इस बात की आवश्यकता नहीं कि ऐसी बातें कौन २ थीं ? यहां तो केवल इतना ही देखना है कि दोनों तीर्थंकरों ने एक ही बात के सम्बन्ध में दो प्रकार के वर्णन तो नहीं किये हैं तथा इसका समाधान इन दोनों ही ग्रन्थों से ठीक-ठीक हो जाता है! आक्षेपक स्वयं भी मूलाचार के इस कथन को सामान्य विशेषात्मक तथा अविरोधात्मक स्वीकार करते हैं। इसके सम्बन्ध में आपके निम्न लिखित वाक्य देखने योग्य हैं।[1] "वास्तव में सामायिक और छेदोपस्थापना में सामान्य विशेषात्मक होने से अविरोध ही है। क्योंकि सामायिक में भेद किये बिना वर्णन है और छेदोपस्थापना में भेद करके। सामान्य और विशेष में भेद होता है तो वह लोगों को खटकता है। जैसे कोई गुणस्थान का सामान्य विवेचन करे और कोई चौदह भेदों में विवेचन करे, तो इसमें लोगों को एतराज कम होगा या न होगा।" परन्तु कोई चौदह-पन्द्रह गुणस्थान बनावे तो एतराज अधिक होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार उत्तराध्ययन दोनों तीर्थंकरों के शासनों में भेद-विरोध प्रमाणित नहीं करता उस ही प्रकार मूलाचार भी।

इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इन ही बातों के विवेचन हैं। अतः उनके आधार से भी दोनों तीर्थङ्करों के शासन में विरोध सिद्ध नहीं किया जा सकता। यहां एक बात और भी उठाई जा

---

१ जैन धर्म मीमांसा ७५—६।

सकती है और वह यह है कि विरोध का न होना और एकता का होना एक बात नहीं। भौतिक विज्ञान मनोविज्ञान का विरोध नहीं करता, किन्तु फिर भी ये दोनों एक नहीं हैं। इस ही प्रकार यह स्वीकार कर लेने पर भी कि इन दोनों तीर्थंकरों के शासन में विरोध नहीं था यह तो फिर भी सिद्ध करना ही चाहिये कि इन दोनों का एक ही शासन था।

विरोध के न होने पर एकता की व्याप्ति भी है और नहीं भी है। जिन दो व्यक्तियों का कथन भिन्न-भिन्न विषय का होता है वहां विरोध के अभाव से एकता सिद्ध नहीं की जा सकती। जैसे कि भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान। जबकि दो वक्ता एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं तब या तो उनके कथन एक रूप होने चाहिये या उनमें विरोध होना चाहिये। ऐसी दशा में विरोध के अभाव से एकता सिद्ध की जा सकती है। इन दोनों तीर्थंकरों के शासन में विषय-भेद नहीं है। अतः यहां विरोध के अभाव से एकता ही सिद्ध होती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आक्षेपक द्वारा उपस्थिति किये गये प्रमाण भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर में शासन भेद के स्थान पर शासनाभेद ही सिद्ध करते हैं। अतः स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक व्यक्तित्व और तीर्थंकरत्व के समान उनका जैन-तीर्थंकरत्व भी निस्सन्देह है।

भगवान पार्श्वनाथ से पूर्व
जैनधर्म का अस्तित्व !

आक्षेपक भगवान पार्श्वनाथ से पूर्व जैनधर्म का अस्तित्व अन्धकार में बतलाते थे। आपका कहना था कि जिस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणों से निश्चित है उसही प्रकार उनसे पूर्व तीर्थंकरों का नहीं। आज तक एक भी ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला जिससे भ० पार्श्वनाथ से पहिले तीर्थंकरों का भी अस्तित्व स्वीकार किया जा सके।

विद्वान् आक्षेपक की बात को यदि ध्रुव सत्य भी स्वीकार कर लिया जाय तब भी इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भगवान पार्श्वनाथसे पहिले जैनधर्म का अस्तित्व अनिश्चित है। ऐसी सैकड़ों बातें मिलेंगी जिनके समर्थक स्वतंत्र ऐतिहासिक प्रमाण नहीं किन्तु फिर भी उनको साम्प्रदायिक मान्यता से ही सत्य स्वीकार किया जाता है। अभी थोड़े ही समय की बात है कि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जैन नहीं माना जाता था और न इस विषय की जैन कथाओं को ही सत्य समझा जाता था किन्तु समय ने पलटा खाया और मौर्य सम्राट जैन माना जाने लगा तथा इस विषयक जैन कथायें भी सत्य स्वीकार की गईं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् मि० स्मिथ ने लिखा है कि मुझे अब विश्वास हो चला है कि जैनियों के कथन बहुत करके मुख्य २ बातों में सत्य हैं और चन्द्रगुप्त वास्तव में राज्य त्याग कर जैन

मुनि हुए थे + श्री जायसवाल* और मि० टामस¶ ने भी ऐसा ही लिखा है। दूर जाने की जरूरत नहीं स्वयं आक्षेपक ने उत्तराध्ययन

+ I am now disposed to believe that the tradition probably is true in it's main line and that Chandragupta really abdicated and became a Jain ascetic.

—V. Smith E. H. I. P. 146.

* My studies have compelled me to respect the historical data of Jain writings, & I see no reason why we should not accept the Jain claim that Chandragupta at the end of his reign accepted Jainism and abdicated and died as a Jain ascetic.

—J. B. O. R. S. Vol. III

अर्थात्—मेरे अध्ययन ने मुझे जैन ग्रन्थों के ऐतिहासिक कथनों को स्वीकार करने के लिये वाध्य किया है। कोई कारण नहीं कि हम जैनियों के इस कथन को कि चन्द्रगुप्त अपने राज्य के अन्तिम भाग में जैनी हो गया था और उसने जिन दीक्षा ले मुनिवृत्ति से अपने शरीर को छोड़ा था, विश्वास न करें।

¶ That Chandragupta was a member of a Jaina Community, is taken by their writers as a matter of course and treated as a known fact, which needed neither arggument nor demonstration.

—Jainism or early faith of Ashoka p. 23.

अर्थात्—चन्द्रगुप्त जैन थे यह जैन लेखकों ने एक स्वयं सिद्ध और सर्व मान्य बात के रूप में लिखा है। इसके लिये उन्हें कोई युक्ति या प्रमाण उपस्थिति करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

सम्बन्धी साम्प्रदायिक विवेचन को सत्य स्वीकार किया था†। इन सब बातों से तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी विषय के सम्बन्ध में जैन मान्यता को एक दम अविश्वासनीय कह देना ठीक नहीं।

शिलालेख आदि ऐतिहासिक सामिग्री को भी एक दम सत्य स्वीकार नहीं कर लिया जाता है किन्तु इनकी भी परीक्षा होती है। यदि ये परीक्षा में निर्दोष ठहरते हैं तो इनको सत्य स्वीकार किया जाता है। यही बात जैन कथा या अन्य साम्प्रदायिक बातों के सम्बन्ध में हो सकती है। हमारा कर्तव्य है कि हम इनकी भी परीक्षा करें और यदि ये हमको असम्भवता, परस्पर विरोध, अप्राकृतिकता और अन्य प्रमाणों के प्रतिकूल आदि दोषों से रहित प्रतीत हों तो हम इनको भी सत्य स्वीकार करें। जब तक जैन पुराणों के कथनों में इस प्रकार की बातें नहीं मिलतीं तब तक इनकी सत्यता में सन्देह करना बुद्धिमानी का कार्य नहीं।

जैनधर्म उप सम्प्रदायों में विभाजित है और ऐसी बहुतसी बातें भी हैं जिनके सम्बन्ध में एक उप सम्प्रदाय दूसरे उप सम्प्रदाय से एक मत नहीं है। ऐसा होने पर भी ये सब चौबीस तीर्थंकरों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इन्होंने केवल चौबीस तीर्थंकरों को ही स्वीकार नहीं किया, किन्तु उनका वर्णन भी प्रायः एकसा किया है। अतः जैनियों की इस मान्यता को कभी भी अनैतिहासिक स्वीकार नहीं किया जा सकता। जर्मनी के

† जैन जगत वर्ष ७ अङ्क ९–१०

प्रसिद्ध विद्वान् डा० जैकोबी ने भी जैनियों के इस प्रकार के विवेचन में सत्यता की संभावना स्वीकार की है *। वरदाकांत M. A. आदि अन्य प्रसिद्ध विद्वान् भी जैनियों की मान्यता को स्वीकार कर चुके हैं †।

वर्तमान चौबीस तोर्थंकरों में से भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर हुए हैं। इस कल्पकाल में सर्व प्रथम आप ही ने जनता को धर्म और कर्म का ज्ञान दिया था। आपके पिता का नाम श्री नाभिराय और माता का श्री मरुदेवी था। आप ही के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है। भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में जैन पुराणों में इन सब बातों का स्पष्ट वर्णन

---

* There is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha the first tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition wich makes him the first tirthankara.

—Indian Antiquary Vol. IX. P. 163.

अर्थात्—पार्श्वनाथ को जैनधर्म का संस्थापक सिद्ध करने के लिये प्रमाण का अभाव है। जैन मान्यता ऋषभदेव को अविरोध जैनधर्म का संस्थापक स्वीकार करती है। जैनियों की इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।

† लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे। किन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था, इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।

—वरदाकान्त मुख्योपाध्याय M. A.

मिलता है † ।

जैन पुराणों के अतिरिक्त जैनेतर पुराण भी आपके सम्बन्ध में इस ही प्रकार का वर्णन करते हैं * ।

---

† हरिवंश पुराण सर्ग ८ श्लोक ५५, १०४ व सर्ग ६ श्लोक २१

* अग्नींध्र सूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताद्वरः ॥३६॥
सोभि शिंच्यर्षभः पुत्रं महा प्रावाज्य मास्थितः ।
तपस्तेये महाभागः पुलहाश्रम शंसयः ॥४०॥
हिमाव्हं दक्षिणं वर्षं भरताय पिताददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥
—मार्कण्डेय पुराण अध्याय ५० पृष्ठ १५० ।

हिमाव्हयं तु यद्वर्षं नाभे रासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभत्पुत्रो मेरु देव्या महा द्युति ॥३७॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः ।
सोऽभिशिंच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवी पतिः ॥३८॥
कूर्म पुराण अध्याय ४१ पृष्ठ ६१ ।

जरा मृत्यु भयं नास्ति धर्मा धर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशातु नाभितः ॥१०॥
ऋषभो मरु देव्यां च ऋषभात भरतो भवत् ।
ऋषभोदत्त श्री पुत्रे शाल्य ग्रामे हरिं गतः ॥११॥
भरताद् भारतं वर्षं भरता सुमति स्वभूत् ॥१२॥
—अग्निपुराण अध्याय १० पृष्ठ ६२ ।

नाभि स्व जनयत्पुत्रं मरु देव्यां महा द्युतिः ।
ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ।
सोऽभिशिंच्याप्य भरतः पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥५१॥

इससे प्रकट है कि जहाँ तक भगवान् ऋषभदेव के वंश परिचय का सम्बन्ध है वहाँ तक भारतीय साहित्य एकमत है। भगवान् ऋषभदेव के वंश परिचय के साथ उनके आदि जैन

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरतायन्य वेदयत् ।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥५२॥
—वायु महा पुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३ पृष्ठ ५१ ।

नाभिस्त्वं जनयत्पुत्रं मरू देव्यां महा द्युतिम ॥५६॥
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ॥६०॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्य मस्थितः ।
हिमाव्हं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥६१॥
ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध अनुषङ्ग पाद अध्याय १४ पृ० २४ ।

नाभेर्मेरु देव्यां पुत्रमजनय ऋषभनामानं तस्यभरतो ।
पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः—
हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद भारतं नाम शशास ॥
—वाराह पुराण अध्याय ७४ पृ० ४६ ।

[अत्र नाभेः सर्गं कथयामि]

नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिंमाकेस्मिन्नि बोधतः ।
नाभिस्त्वं जनयत्पुत्रं मरू देव्यां महामतिः ॥१६॥
ऋषभं पार्थिवः श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूजितं ।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ॥२०॥
सोऽभिर्शिच्याप्य ऋषभो भरतं पुत्र वत्सलः ।
ज्ञान वैराग्य माश्रित्य जितेन्द्रिय महोरगान ॥२१॥
सर्वात्म नात्म निस्थाप्य परमात्मा नमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारो चीरी ध्वांत गतो हिसः ॥२२॥
निराशस्त्यक्त सन्देहः शैवमाप परं पदम् ।

तीर्थंकर होने का समर्थन भी भारतीय साहित्य से होता है।*
इससे यह भी प्रकट है कि भगवान् ऋषभदेव के वंश परिचय के समान उनके आदि जैन तीर्थंकर होने के सम्बन्ध में भी उपलब्ध भारतीय साहित्य एक मत है।

प्रश्न—भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व के सम्बन्ध में यदि उपलब्ध भारतीय साहित्य को एक मत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं; किन्तु उनके आदि जैन तीर्थंकर होने के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। जिन भगवान् ऋषभदेव को

हिमाद्रे दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

—लिङ्ग पुराण अध्याय ४७ पृष्ठ ६८

नते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्ट सुसवदा।
हिमाह्वयं तुवै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ॥२७॥
तस्यर्षभो भवत्पुत्रो मेरु देव्यां महा द्युति।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्र शतस्य सः ॥२८॥

—विष्णु पुराण द्वितीयांश अध्याय १ पृष्ठ ७७ वैंकटेश्वर छापा बंबई का

नाभे पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद्भरतो भवत्।
तस्य नाम्ना त्विहं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥

—स्कन्ध पुराण माहेश्वर खण्ड के कौमार खण्ड अध्याय ३७

* भागवत् स्कन्ध २ अध्याय ७ श्लोक १०

इसके अर्थमें वेदभाष्यकार पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र ने निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—"……ऋषियों ने नमस्कार कीनो, स्वस्थ शान्त इन्द्रिय सब संग त्यागे ऋषभदेवजी भये जिनसे जैनमत प्रकट भयो।"

जैन साहित्य आदि जैन तीर्थंकर बतलाता है, उन्ही को भागवत् पुराण आदि में विष्णु का आठवां अवतार स्वीकार किया गया है।† फिर इसमें अविरोध कैसा ?

उत्तर—जिस भागवत् में भगवान् ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना है उसही में यह भी लिखा है कि इनही की शिक्षा को लेकर कलयुग में अमुक-अमुक व्यक्ति जैन-धर्म का प्रचार करेंगे।‡ इससे यह तो प्रमाणित है कि भ० ऋषभदेव को विष्णु का अष्टम अवतार लिखने वाली भागवत् ही जैन-धर्म और भगवान् ऋषभदेव की शिक्षा में भिन्नता नहीं मानती। जिस महापुरुष ने जैन-धर्म स्वरूप ही शिक्षा दी है, वही जैन तीर्थंकर है। चाहे ऐसे महापुरुष को एकादि शास्त्र किसी भी नामान्तर से भले ही स्मरण करलें। इससे प्रकट है कि भारतीय साहित्य केवल भग० ऋषभदेव के वंश परिचय के सम्बन्ध में ही एक मत नहीं है अपितु उनके जैन तीर्थंकर होने के सम्बन्ध में भी एक मत है।

आक्षेपक ने अपनी जैन-धर्म मीमांसा में भगवान् ऋषभदेव जैन तीर्थंकर नहीं थे इसके समर्थन में निम्नलिखित युक्ति लिखी है:—

"भागवत पुराण का भगवान् ऋषभदेव का जीवन सब बातों में जैन तीर्थंकर ऋभषदेव के जीवन से नहीं मिलता। अतः भागवत् के आधार से भगवान् ऋषभदेव को जैन तीर्थंकर सिद्ध नहीं किया जा सकता।"

---

† भागवत प्रथम स्कन्ध अध्याय तीन श्लोक १३

‡ भागवत् स्कन्ध ५ अध्याय ६ श्लोक ८–११

जब एक ही व्यक्ति को दो सम्प्रदाय अपने-अपने महापुरुष के रूप में उपस्थित करते हैं, तब यह तो स्वाभाविक है कि उनका वर्णन एक-सा नहीं होता। वे दोनों ही महापुरुष की कुछ न कुछ बातों को विभिन्न रूप में ही लिखते हैं। यह तो दो सम्प्रदायों की बात है। आज तो एक ही सम्प्रदाय की विभिन्न शाखायें अपने एकही महापुरुष के सम्बन्ध में विभिन्नता का वर्णन करती हुई मिलती हैं। एक ही भगवान् महावीर है, किन्तु उनकी दिगम्बर शास्त्रों की जीवन-घटना से उनकी श्वेताम्बर शास्त्रों की दिनचर्या नहीं मिलती। स्वामी दयानन्द को तो अभी एकसौ वर्ष भी नहीं हुए; किन्तु इनका जीवन भी एक रूप नहीं मिलता। आर्यसमाज की कालेज-पार्टी यदि इनको मांस का समर्थक बतलाती है तो समाज की गुरुकुल पार्टी इसका निषेध करती है। ऐसी अवस्था में किसी भी महापुरुष का वास्तविक रहस्य मालूम करने के लिये उसके भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णनों से सारभूत बातें लेने की जरूरत है। भगवान् ऋषभदेव के जैन-पुराणों और भागवत् के जीवनों को सामने रखकर यदि इसही दृष्टिकोण से कार्य करेंगे तब ही उनके जीवन की वास्तविकता मालूम हो सकेगी। भलेही दोनों ने अपने-अपने साम्प्रदायिक शब्दों में लिखा हो, किन्तु जहां तक भगवान् ऋषभदेव के दिगम्बर वेषधारी और इसही वेष के प्रचारक की बात है वहाँ तक तो दोनों ही सम्प्रदायों के वर्णन एक रूप हैं।*

जैन-पुराण और भागवत् दोनों ही भगवान् ऋषभदेव को नग्न

* भागवत् पुराण ५-५-२८

तथा नग्नता का प्रचारक स्वीकार करते हैं। इसके साथ यह बात भी दोनों ही स्वीकार करते हैं कि उनका जीवन महान् था तथा उन्होंने महान् तपस्या भी की थी।† भगवान् के माता-पिता और उनके पुत्रों का विवेचन भी दोनों ही पुराणों का एक-सा है। भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में जहाँ भागवत् इन बातों को स्वीकार करती है, वही यह भी घोषित करती है कि उन्होंने श्रमणों को उपदेश देने के लिये अवतार लिया था।* श्रमण वेदों को विरोधी रहे हैं। यह बात वेदों से भी सिद्ध है तथा आक्षेपक भी इस बात को स्वीकार करते हैं।° जबकि भगवान् ऋषभदेव श्रमणों का वेष धारण करते थे तथा उन्हीं के सम्बोधन के लिये उन्होंने जन्म लिया था तब यह बात निःसन्देह हो जाती है कि

---

† भागवत् पुराण ५-५-३२

* बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णु भगवान् परमार्षिभिः प्रसादतो नाभेः प्रियचिकीर्षया तद्वरोधायने मरुदेव्यां धमनि दर्शयतु कामो वातरशनानां श्रमणानां मृषीणामूर्ध्व मन्थिना शुक्लया तनुवाऽवततार। भागवत् पुराण ५-५-२

………मरुदेवी में धर्म दिखायवे की कामना करके दिगम्बर रहिवेवारे तपस्वी ज्ञानी नैस्टिक ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता ऋषियों को उपदेश देने को शुक्ल वर्ण की देह धार श्री ऋषभदेव नाम का अवतार लिया।

° पार्श्वनाथ के पहिले जो श्रमण परम्परा या वेदविरोधी धर्म था उसे हम उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर जैन-धर्म नहीं कह सकते। हो सकता है कि कभी अन्य प्रमाणों के आधार पर हम ऐसा कह सकें। जैन-जगत् वर्ष ७ अङ्क ६-१०

उनका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से है। भागवत् के अध्ययन के बाद विश्वविख्यात दार्शनिक सर राधाकृष्ण* तथा भागवत् के भाषाभाष्यकार पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र† आदि विद्वान् भी इसही परिणाम पर पहुँचे हैं। इस प्रकार यह बात निसन्देह हो जाती है कि भगवान् ऋषभदेव जैन-तीर्थंकर थे।

प्रकृत पुराण चाहे वे जैन हैं या जैनेतर आज से दो हजार वर्ष के भीतर के ही हैं, फिर भी इनका आधार अति प्राचीन है।¶ यदि यह कहा जाय कि इनका आधार वैदिक साहित्य है तब भी कोई अत्युक्ति नहीं। पुराणों में ऐसी अनेक कथायें मिलती हैं जो वेदों और ब्राह्मणों में पहिले से ही मौजूद हैं। पुराणों के वर्तमान रूप में बाहिरी (शाब्दिक) अन्तर तो अवश्य है किन्तु

---

* The Bhagwata Purana endorses the view that Risabha was the founder of Jainism.

—Indian Philosophy. 287

† ऋषभ अवतार कहें हैं कि ईश्वर अगनीन्ध्र के पुत्र नाभि से सुदेवी पुत्र ऋषभदेवजी भये। समान दृष्टा जड की नांई योगाभ्यास करते भये, जिनके पारमहंस्य पद को ऋषियों ने नमस्कार कीनो, स्वस्थ शान्त इन्द्रिय सब संघ त्यागे ऋषभदेवजी भये जिनसे जैनमत प्रकट भयो।

भागवत् पुराण २–७–६–१० ज्वालाप्रसाद भाष्य

¶ The puranas undoubtedly reach back to great antiquity and are rooted in Vedic literature, many a legend, already familiar from Rgvedic hymns and from the Brahamanas, reappears in the puranas.

भीतरी बातें (भाव) प्राचीन हैं।¶ पुराण शब्द का उल्लेख भी वेद, ब्राह्मण, सूत्र और स्मृति साहित्य में मिलता है।× आपस्तम्भ धर्मसूत्र में तो पौराणिक घटनाओं विशेष कर भविष्यत्

¶Even the lastest production of this literature have the external form and the archaic frame of the oldest Puranas.

—History of Indian Literature V. I. P. 518
by Vinternity.

× ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं मजुषा सह।

—अथर्व ११, ७, २४।

स बृहतीं दिश मनुव्य चलत तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च।

—अथर्व १५, १, ६, १०–११।

अरेऽयस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विधा···

—श० का० १४ अ० ६ ब्रा ६ कं ११।

इतिहास पुराणं पचमं वेदानां वेद।

—छा० उ० प्र० ७ सनत्कुमार नारद सम्वाद।

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितदृदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणम्।

—बृ० ३ अ० २ ब्रा० ४ मं० १०।

स्वाध्यायं श्रावयेत मित्रे धर्मशास्त्राणि चैवहि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥

—मनु० अ० ३ श्रो० २३२।

पुराणं मानवो धर्मः सांगों वेदश्चिमित्सतम्।
आज्ञा सिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

—मं० भा०।

पुराण की एक घटना विशेष का उल्लेख भी मिलता है।* ऐतिहासिक विद्वानों ने इस धर्मसूत्र का समय ईसवी सन् से पाँच सौ चार सौ वर्ष प्राचीन स्वीकार किया है।× इससे प्रकट है कि वर्तमान पुराण कवियों के मस्तिष्क की केवल उपज मात्र ही नहीं हैं अपितु प्राचीन साहित्य के आधार से रचे गये शास्त्र विशेष हैं। यही बात जैन पुराणों के सम्बन्ध में है; जैन महापुराणाकार आचार्य जिनसेन ने भी प्राचीन पुराणकारों का स्मरण किया है।† समय की प्राचीनता एवं पौराणिक शैली के विवेचन से सम्भव है ये किसी अंश विशेष में चलित भी हो गये हों; अतः हम आँखों पर पट्टी बाँधकर एक दम इनको मानने की सलाह भी नहीं देते, किन्तु इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि एक दम इनके प्रतिकूल जह्वाद का झण्डा फहरा दिया जाय और इनके किसी अंश विशेष को भी सत्य स्वीकार न किया जाय। हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिये कि हम इनकी परीक्षा करें और जहां तक हमको इनका कथन निर्दोष प्रतीत हो वहाँ तक हम इनको सत्य स्वीकार करें।

ऐसी अवस्था में जहां कि किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में

---

* Apastambiya Dharamsutra contains not only two quotations from the Puranas but also a third quotations from Bhawisyat Purana.

× As there are good grounds for assigning the above mentioned Dharamsutra to the fifth or fourth century B. C.

† आदि पुराण की प्रशस्ति श्लोक ४१, ५१

पुराणों में विरोध प्रतीत नहीं होता या जिसका प्रतिपादन पुराणमात्र एक स्वर से करता है, इन सबका एक ही प्राचीन आधार है। भारतीय साहित्य के विशेषज्ञ डा० विण्टरनिटी ने भी इस विषय में ऐसा ही स्वीकार किया है।*

भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध का पौराणिक विवेचन अचलित एवं एक रूप है। अतः इसका आधार भी एक एवं प्राचीन अवश्य स्वीकार करना होगा। इससे प्रकट है कि भगवान् ऋषभदेव सम्बन्धी पौराणिक विवेचन को किसी भी प्रकार काल्पनिक एवं मिथ्या स्वीकार नहीं किया जा सकता !

इन सब बातों के अतिरिरिक्त भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐतिहासिक भमाणों का भी अभाव नहीं है। ऐतिहासिक प्रमाण जिनको हम यहाँ उपस्थित करेंगे निम्न प्रकार हैं:—

(१) उपलब्ध शिलालेख।

---

* In the numerous cases in which the puranas agree with each other with the Mahabharata, more or less literally, it is more probable that they all are derived from the sane old source, then that one work is dependent on the other. This old source was on the one hard oral tradition. Comprising Brahaman tradition reaching back to the Vedic times. as well as the hard peotry handed down in the circles of the Kastriyas and on the other hand it was a certain definate texts prbably far less in the bulk than our present Puranas.

—History of Indian Literature p. 521

(२) भगवान ऋषभदेव की मूर्तियाँ।

(३) भ० पार्श्वनाथ से प्राचीन साहित्य।

भ० ऋषभदेव के सम्बन्ध में अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, किन्तु इन सब में खण्डगिरि उदयगिरि की हाथी गुफा का शिलालेख विशेष महत्वशाली है। इसके निर्माता सम्राट् खारवेल हैं। आपने यह शिलालेख अपनी अनेक स्थानों की विजय एवं अपने अनेक महत्वशाली कार्यों के बाद लिखाया है। यह शिलालेख प्राय: पांच गज लम्बा और दो गज चौड़ा है। इसमें सत्तरह पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में तकरीबन एक सौ अक्षर हैं। सम्राट् खारवेल कलिङ्ग देश का अधिपति था। इसके समकालीन मगधेश का नाम पुष्यमित्र था। मगधेश पुष्यमित्र के पूर्वज भी मगध के अधिपति रह चुके हैं। पुष्यमित्र से तीन सौ वर्ष पूर्व मगध की बागडोर नन्दराज, नन्दवर्द्धन के हाथ में थी। इस ही समय मगध और कलिङ्ग में एक युद्ध भी हुआ था और इसमें मगधेश की विजय हुई थी। इस विजय के उपलक्ष में मगधेश नन्दराज कलिङ्ग से एक अग्रजिन की मूर्ति भी ले गया था। सम्राट् खारवेल को इन सब बातों का पता था। महाराज खारवेल एक तो वैसे ही सम्राट् होना चाहते थे और दूसरे कलिङ्ग से इस प्रकार अग्रजिन की मूर्ति का जाना भी आपको खटक रहा था; अत: आपने मगध पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में महाराज खारवेल को सफलता मिली और फिर वे इस विजय के उपलक्ष्य में अग्रजिन की उस ही मूर्ति को जिसको नन्दराज कलिङ्ग से ले गये थे वापिस कलिङ्ग ले आये।

इस घटना का वर्णन प्रस्तुत शिलालेख की ग्यारहवीं पंक्ति में मौजूद है। महाराज खारवेल ने प्रस्तुत शिलालेख ईसवी सन् से १७० वर्ष पूर्व लिखाया था। महाराज नन्दराज का समय प्रस्तुत शिलालेख से भी ३०० वर्ष प्राचीन है। इस प्रकार प्रस्तुत शिलालेख से कलिङ्ग में अग्रजिन की पूजा आज से चौबीस सौ वर्ष प्राचीन प्रमाणित होती है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का तो यह अभिमत है कि अग्रजिन की यह मूर्ति कलिङ्ग में कलिङ्गाधिपति के पूर्वजों से चली आ रही थी। इन विद्वानों ने यह परिणाम सम्भवतः अग्रजिन शब्द के साथ कलिङ्ग शब्द से निकाला है।† बात भी सत्य प्रतीत होती है। यदि प्रस्तुत मूर्ति का कलिङ्ग की वंश परम्परा से सम्बन्ध न होता तो प्रस्तुत शिलालेख में उसको कलिङ्ग जिन शब्द से स्मरण न किया गया होता। कोई भी वस्तु किसी भी देश या जाति के नाम से उस ही समय उल्लिखित हुआ करती है जब उसके साथ उसका सम्बन्ध कुछ समय का हो जाता है। कुछ भी सही, हाथी गुफा के इस शिलालेख से यह बात तो अवश्य माननी पड़ती है कि भगवान महावीर के निर्वाण के साठ वर्ष बाद कलिङ्ग में भगवान ऋषभदेव की अग्र-जिन के रूप में पूजा होती थी।

आक्षेपक ने इस शिलालेख के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे है:—

---

† नन्दराजनीतं च कलिंग जिनं संनिवेसं...।
—हाथी गुफालेख पंक्ति १२ वीं बिहार उड़ीसा जनरल जि० ४ भाग ४।

"महावीर और बुद्ध के समय में मनुष्यों की मूर्तियाँ बनती थीं, इसको प्रमाणित करने के लिए अभी काफी गुञ्जायश है। महावीर के बाद जब महावीर की मूर्ति बनी तभी जैन शास्त्रों के कल्पित और अकल्पित पात्रों की मूर्तियां बनने लगीं। यह मूर्ति-निर्माण पुराना होने पर भी महावीर से पुराना नहीं है जिससे चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता महावीर से पुरानी साबित हो सके। हाथी गुफा का शिलालेख महावीर से पुराना नहीं है और न उसमें उल्लिखित नन्दराजा महावीर से पुराना है। जब महावीर के सामने तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ साबित नहीं हैं तब महावीर इस कल्पना का विरोध कैसे करते"।

हाथी गुफा का प्रस्तुत शिलालेख एवं उसमें उल्लिखित नन्द-राजा अवश्य महावीर के बाद के हैं, किन्तु इन दोनों में अन्तर केवल साठ वर्ष का है। अतः विचारणी केवल इतना ही रह जाता है कि क्या इस समय में अग्र जिन की कल्पना की गई और फिर उनकी मूर्ति का निर्माण हुआ ?

विवादस्थ विषय के सम्बन्ध में जहाँ आक्षेपक जी भग-वान् ऋषभदेव की कल्पना और फिर मूर्ति निर्माण को स्वीकार करते हैं वहीं हमारी मान्यता इससे विपरीत है। हमारा कहना है कि भगवान् महावीर के समय भी चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता थी और उनकी मूर्तियों का सद्भाव भी आज ही की तरह था।

आक्षेपक का कर्तव्य तो यह था कि वह अपने इन विचारों के समर्थन में युक्ति उपस्थित करते, ताकि उनके सम्बन्ध में

विचार किया जा सकता, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। अस्तु! जहाँ कि भगवान् महावीर के पश्चात् भ० ऋषभदेव की कल्पना और फिर उनकी मूर्ति-निर्माण के सम्बन्ध में प्रमाणों का अभाव है, वहीं इसके विपरीत निम्नलिखित बातें मौजूद हैं:—

१—भगवान् महावीर के शासन में उनके निर्वाणकाल के बासठ वर्ष तक केवल ज्ञानियों का समय रहा है। विवादस्थ समय भी भ० महावीर के निर्वाण के साठ वर्ष बाद का है, अतः वह भी केवल-ज्ञानियों का ही समय कहना चाहिये। भगवान् महावीर के समान इनके सम्बन्ध में भी कल्पना की बात स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि ये तीर्थङ्कर न होने पर भी सर्वज्ञ तो थे ही। दूसरी बात यह है कि इस समय तक वीर के उपदेश में रञ्चमात्र भी विकारों का प्रवेश नहीं हो पाया था। एक तो भगवान् महावीर को ही अभी थोड़ा समय हुआ था, दूसरे भगवान् महावीर के समान केवलज्ञानी भी मौजूद थे; अतः इस समय के जैन शासन और वीरकाल के जैनशासन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे समय में जो भी बातें हुई वे अवश्य वीरोपदेशित ही हुई, क्योंकि नवीन कल्पना को तो स्थान नहीं था और बिना अधार के हो नहीं सकती थीं। हाथी गुफा के शिलालेख में वर्णित अग्रजिन की मूर्ति के निर्माण एवं उसकी प्रतिष्ठा के समय का निश्चय न सही, शिलालेख से यह तो निःसन्देह मानना ही पड़ता है कि इस समय अग्रजिन के रूप में ऋषभ भगवान् की पूजा होती थी। अतः इसको भी वीरकाल की ही मान्यता स्वीकार करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में आक्षेपक

का कहना है कि चौबीस तीर्थङ्करों की कल्पना यदि महावीर के समय में हुई होती तो उन्होंने इसका विरोध किया होता, समुचित नहीं। यह बात भी तो इस ही प्रकार घटित होती है कि चौबीस तीर्थङ्करों की कल्पना नहीं थी, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य था; अतः महावीर ने इसका विरोध नहीं किया। महावीर का इसका विरोध न करना कोइ ऐसी तर्क नहीं है जिससे इसको वास्तिविक स्वीकार किया जासके। प्रत्युत यह तो इसकी वास्तविकता को ही प्रमाणित करता है।

२—वास्तविकता के अस्तित्व में प्रतिकृति की तरफ रुचि नहीं होती; अतः जब तक महावीर रहे तब तक तो उनकी मूर्ति-निर्माण की बात पैदा नहीं होती। भ० महावीर के बाद भी ६२ वर्ष तक साक्षात केवलियों का समागम रहा है, अतः ऐसी परिस्थिति में भी वह आवश्यकता युक्ति युक्त नहीं जँचती। प्रस्तुत मूर्ति महावीर के ६० वर्ष बाद मौजूद थी यह तो एक ऐतिहासिक सत्य है तथा उसका निर्माण काल एवं प्रतिष्ठा काल अभी तक अनिश्चित है। अतः उपर्युक्त परिस्थिति में इसका निर्माण एवं प्रतिष्ठा काल भी महावीर से पूर्व ही जँचता है।

३—किसी भी मान्यता का उद्गम एवं उसके व्यवस्थित स्वरूप में आने के लिये सदियों की आवश्यकता हुआ करती है। बुद्ध की मूर्ति-निर्माण को ही इसके सम्बन्ध में दृष्टान्त के रूप में लिया जासकता है। इसकी ठीक २ व्यवस्था एवं इसके प्रचलित रूप में आने में भी कई सौ वर्ष लगे थे। भगवान् ऋषभदेव यदि कल्पित व्यक्ति होते तो उनकी कल्पना और फिर उनकी मूर्ति-

निर्माण आदि बातें भी सदियों में ही विकसित हो सकती थीं। प्रस्तुत परिस्थिति इसके प्रतिकूल है, अतः यह दृष्टि भी काल्पनिकता के प्रतिकूल है।

४—सनातनियों ने अवतारों की गणना में ऋषभावतार को कृष्ण और राम के अवतार के पहिले गिनाया है *। ऋषभदेव यदि काल्पनिक व्यक्ति होते और इनकी कल्पना का समय महावीर के बाद का होता तब तो इनका नाम बुद्धावतार के बाद और कलकी अवतार के पहिले मिलना चाहिये था। इससे भी यह परिणाम निकलता है कि सनातनी भी वर्तमान पुराणों के आधार परम्परा से ऋषभदेव के समय को कृष्ण और राम से पूर्व ही स्वीकार करते चले आ रहे हैं।

५—जिनके साथ कलिङ्ग शब्द के आधार से कतिपय विद्वानों की मान्यता को यदि स्थान दिया जाये तब तो प्रस्तुत मूर्ति का अस्तित्व निःसन्देह महावीर के समय में भी मानना पड़ता है।

इन सब बातों के आधार से हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत शिलालेख भगवान् ऋषभदेव की मान्यता को महावीरकाल में भी निःसन्देह प्रमाणित करता है।

---

* हंसाय मत्स्य रूपाय वाराह तनु धारिणे।
नृसिंहाय धृवेज्याय सांख्य योगेश्वराय च ॥५३॥
चतुसनाप कूर्माय पृथवेस्व सुखात्मने।
नाभेपाय जगद्धात्रे विधात्रेंत कराय च ॥५४॥
भार्गवेन्द्राय रामाय राघवाय परायच।
कृष्णाय वेद कर्त्रे च बुद्ध कल्कि स्वरूपिणे ॥५५॥
—नारदीय पुराण-अवतार वर्णन।

प्रस्तुत शिलालेख के अतिरिक्त भगवान् ऋषभदेव की मूर्तियाँ भी उनके अस्तित्व को भगवान् महावीर तो क्या भगवान् पार्श्वनाथ से भी प्राचीन प्रमाणित करती हैं।

वैसे तो भगवान् ऋषभदेव की हज़ारों प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध हैं किन्तु यहाँ हम केवल दो स्थानों की ही मूर्तियों को लेंगे।

इन दोनों स्थानों में पहिला स्थान मथुरा है और दूसरा मोहनजी दारू ! कुछ समय हुआ जब मथुरा में कङ्कालीटीले की खुदाई हुई थी। इसमें भगवान् ऋषभदेव की अनेक मूर्तियाँ निकली हैं। इनमें से कुछ कनिष्क के समय की भी हैं। ये सब अभी तक मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित हैं। ऐतिहासिक विद्वानों ने इसका समय ईसवी सन् १५० निश्चित किया है।

इस ही प्रकार मोहनजी दारू की खुदवाई में भी अनेक मोहरें आदि निकली हैं। इनमें से प्लेट नं० २ की सील नं० ३, ४, ५ पर ध्यानावस्था की खड़्गासन मूर्तियाँ हैं। इनके नीचे बैल का चिह्न है। ध्यान के मुख्य दोनों आसनों में पद्मासन का उल्लेख तो अन्य सम्प्रदाय के शास्त्रों में भी मिलता है, किन्तु खड़्गासन के सम्बन्ध में यह बात नहीं देखी गई। खड़्गासन का वर्णन तो खासतौर से जैन शास्त्रों में ही मिलता है। राय बहादुर प्रो० चन्दा ने भी इसको जैनियों का ही स्वीकार किया है*।

---

* The Kayotsarga posture is peculiarly Jain. It is posture not of sitting but of standing. In the Adi Puran Book XVIII Kayotsarga poiture is described in connection with the penances of Rishabha

प्रस्तुत सीलों में उल्लिखित ध्यानस्थ मूर्तियाँ जहाँ खड्गासन में हैं वहीं इनके नीचे भगवान् ऋषभदेव की अन्य मूर्तियों की तरह बैल का चिह्न भी है। यह बात यहीं तक नहीं है किन्तु सीलस्थ मूर्तियों की आकृति आदि अन्य बातें भी भगवान् ऋषभदेव की कुशान कालीन मथुरा वाली मूर्ति से मिलती हैं। प्रो० चन्दा ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—

A Standing image of Jaina Rishabha in Kayotsarga posture on the steb showing four such images assignable to the Second century A D. in the Curzon museum of archaeology Mathura, is reproduced in Fig 12...Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties there are standing statuettes with armas hanging on two sides. But though these early Egyptian status & the archaic Greek Kourori show nearly the same pose. They lack the feeling of abandon that characterizes the standing figures on the Indus seals and images of Jianas in the Kayotsarga posture. The name Rishabha means bull and the bull is theemblem of Jina Rishabha. The standing deity figured on seals three to five (plate II E, G H.) with a bull in the fore ground may be the moto type of Rishabha.

—Modern Review Aug. 1932.

---

or Brashaba.

अर्थात्—कायोत्सर्ग आसन खासतौर से जैनियों का है। यह बैठे हुए का आसन नहीं है, किन्तु खड़े का है। आदि पुराण अ० १८ में ऋषभ या वृषभ के सम्बन्ध में इसका उल्लेख मिलता है।

—Modern Review August 1932.

अर्थात्—ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी की मथुरा की ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति को जो कि चार मूर्तियों के समान है, यहाँ दिये देते हैं। इजिपटियन की भी प्राचीन मूर्तियाँ हैं जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। इजिपटियन की ये प्राचीन मूर्तियाँ और ग्रीक की मूर्तियाँ एक जैसी हैं किन्तु इनमें वैराग्य की दृष्टि का जो कि मोहनजीदारू और मथुरा की जैन मूर्तियों में पाई जाती हैं अभाव है। ऋषभ का अर्थ बैल है और बैल ऋषभजिन का चिह्न है। प्लेट नं० २ की तीन से पाँच नम्बर तक की सीलों पर खड़ी हुई मूर्तियाँ जो कि बैल सहित हैं ऋषभ की नकल हैं।

इन सब बातों के आधार से हम इस बात को बलपूर्वक कह सकते हैं कि ये मूर्तियाँ भगवान् ऋषभदेव की हैं। इन सीलों का निर्माण समय पुरातत्व वेत्ता विद्वानों ने ईसवी सन् से तीन हजार वर्ष प्राचीन निश्चित किया है। यह वह समय है जिसको ऋगवेद का प्रारम्भकाल कहना चाहिये। ऐसी अवस्था में यह किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है कि आज की ही तरह भगवान् पार्श्वनाथ से पूर्व भी भगवान् ऋषभदेव की पूजा नहीं होती थी।

आक्षेपक ने जैनधर्म मीमांसा में इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई हैं—

"जो सीलें बतलाई गई हैं पहिले तो उनकी प्राचीनता निर्विवाद नहीं है, दूसरे वह जैन-प्रतिमा है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। मथुरा की मूर्तियों से मिलती है। पहिले तो इसी में अतिशयोक्ति है। दूसरे इतने पर भी वे शिव की और किसी देव की मूर्ति हो सकती हैं। तीसरे उनका मथुरा की मूर्तियों से मिलना

उनका अर्वाचीनता का सूचक है। इसलिये मोहनजीदारू की खुदाई में जैनधर्म को महावीर से पहिले का सिद्ध करना भ्रम है।"

आक्षेपक की इन तीन आपत्तियों में से दूसरी आपत्ति के सम्बन्ध में मैं यहाँ कुछ भी न लिखकर पाठकों का ध्यान भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ राय बहादुर रामप्रसादजी के नोट की तरफ आकर्षित करूँगा, जिसको मैंने कुछ ही पूर्व उद्धृत किया है। इससे आक्षेपक की इस आपत्ति के सम्बन्ध में काफी प्रकाश पड़ सकेगा।

आक्षेपक ने पहिली आपत्ति के सम्बन्ध में ऊपर की लाइनों के अतिरिक्त भी इस ही स्थल पर कुछ वाक्य और भी लिखे हैं तथा वे निम्न प्रकार हैं—

"दूसरा भ्रम भी कुछ जैन बन्धुओं को यह है कि वे मोहनजीदारू में किसी चीज को पाते ही उसे पांच हजार वर्ष पुरानी समझ लेते हैं। मोहनजीदारू में पांच हजार वर्ष तक की पुरानी चीजें मिली हैं, परन्तु सभी चीजें उतनी पुरानी नहीं हैं। मोहनजीदारू की खुदाई में सात स्तर है।"

जहाँ से आक्षेपक ने यह मालूम किया था कि मोहनजीदारू की खुदाई में सात स्तर निकले हैं वहीं से यदि यह भी मालूम कर लेने की कृपा करते कि अमुक-अमुक सीलें किस-किस स्तर से निकली हैं तो आपको इन पंक्तियों के लिखने का कष्ट न उठाना पड़ता। इसीलिये मैंने अपनी लेखमाला में इन मूर्तियों के सम्बन्ध में सब ही ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं। इन मूर्तियों का काल करीब पांच हजार वर्ष प्राचीन है, यह एक प्रामाणिक बात

है। मोहनजीदारू की खुदाई से सम्बन्धित सब ही पुरातत्त्वज्ञ इसके सम्बन्ध में एकमत हैं।

आक्षेपक की तीसरी आपत्ति को देखकर तो यही मालूम पड़ता है कि आपको इस बात की धुन है कि कहीं जैनधर्म भगवान् महावीर से प्राचीन सिद्ध न हो जाय।

यही कारण है जिससे मोहनजीदारू की उल्लिखित नम्बरों की सीलों वाली मूर्तियों को कभी तो आप शिवजी की बनाने लगते हैं और कभी किसी की। अन्त में आकर यदि आप उनको मथुरा की जैन मूर्तियों के समान भी स्वीकार करते हैं तो आपको फिर प्राचीनता की बाधा सता देती है। अतः आपको उनकी यह समानता ही नवीनता की सूचक प्रतीत होने लगती है।

यदि आक्षेपक की इस युक्ति को स्वीकार कर लिया जाय कि जो चीज जिस समय की चीज के समान है वह प्रायः उस ही काल की है तब तो तो बड़ी अड़चन हो जायगी। इस खुदाई में ऐसी अनेक चीजें मिली हैं जोकि आजकल की चीजों से मिलती हैं। इस खुदाई में जो मकान निकले हैं, उनकी कारीगरी तथा उनका विभाग आजकल की कारीगरी एवं विभाग से मिलता है। मोहनजीदारू का समय तो आज से भी अधिक विकसित समय था। इसका यह तात्पर्य थोड़े ही है कि इस ही आधार से उस समय की चीजों को नवीन मान लिया जाय। समानता और प्राचीनता में अन्तर है। जहाँ समानता का तात्पर्य एक रूपता से है, वही प्राचीनता काल से सम्बन्ध रखने वाली चीज है। दो

चीजें एक काल की होकर भी समान हो सकती हैं और भिन्न-भिन्न काल की होकर भी। आज से दस हजार वर्ष पूर्व के नीम, आम और बबूल के पेड़ आज के नीम, आम और बबूल के ही समान थे। यही बात अन्य चीजों के सम्बन्ध में घटित की जा सकती है अतः समानता के साथ समानकालता का नियम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक का कहना कि उनका (मोहन-जोदारू की मूर्तियों का) मथुरा की मूर्तियों से मिलना उनकी अर्वाचीनता का सूचक है, एक निराधार कल्पना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ये मूर्तियाँ भगवान् ऋषभदेव की प्राचीनता को निःसन्देह प्रमाणित करती हैं।

इसके सम्बन्ध में तीसरी साक्षी वैदिक साहित्य की है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद को सब से प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है *।

इसके सम्बन्ध में दो बातें विशेष विचारणीय हैं—एक इसके सम्बन्ध में आक्षेपक के आक्षेप और दूसरी प्रस्तुत अर्थ से ऋग्वेद के वर्तमान भाष्यों की असमानता।

आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित आक्षेप उपस्थित किये हैं:—

"जैन-समाज में एक तरह के प्रमाण प्रचलित हैं कि जैन तीर्थङ्करों के नाम वेदों तथा प्राचीन पुस्तकों में पाये जाते हैं। परन्तु मेरे खयाल से यह कोई प्रबल प्रमाण नहीं है, क्योंकि अभी

---

* ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्। हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥ ऋग्वेद।

इतना निर्णय करना बाकी है कि जैन-धर्म के नाम वेदों में गये हैं या वेदों में आये हुए उन व्यक्तियों के नामों को जैनियों ने अपनाकर उन्हें जैन पुरुष के रूप में चित्रित किया है।"

लेखक महोदय ने उद्धृत वाक्यों की दूसरी लाइन के नाम पर एक फुटनोट भी दिया है और वह यह है कि "मोक्षमार्ग प्रकाश में जो वैदिक प्रमाण उद्धृत किये गये हैं वे वेदों में नहीं पाये जाते, न मालूम ये कहाँ से आ गये हैं।"

मोक्षमार्ग प्रकाश में जिन वेद मन्त्रों का उल्लेख है वे वर्तमान वेदों में नहीं मिलते, यह मिथ्या है। हाँ, उनमें से कुछ मन्त्र मौजूदा वेदों में नहीं मिलते। मोक्षमार्ग प्रकाश में "ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवा स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु" आदि वेदमन्त्र मिलते हैं तथा यह वर्तमान यजुर्वेद अध्याय २५ मं० १६ में मौजूद है। उपलब्ध वेद सम्पूर्ण वेद नहीं, किन्तु उसका एक भाग है। ऋग्वेद की २१ सामवेद की १००० यजुर्वेद की १०१ और अथर्ववेद की ६ शाखायें हैं*। या यों कहिये कि इतनी-इतनी शाखाओं को मिलाकर पूर्ण रूप से एक-एक वेद होता है। आज किसी भी वेद की सम्पूर्ण तो क्या आधी या चौथाई शाखायें भी नहीं मिलतीं; किसी के भाग विशेष में जो वस्तु नहीं मिलती वह उसके सम्पूर्ण रूप में नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। मकान के किसी खास कमरे में कोई वस्तु नहीं मिलती, फिर भी वह उसके दूसरे कमरे में मिल

---

* एक शतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एक विंशतिधा वाहृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदः। —महाभाष्य पातञ्जलि मुनि।

जाया करती है। जब तक कि वेदों की सम्पूर्ण शाखायें नहीं मिल जातीं और मिलने पर भी उनमें मोक्षमार्ग-प्रकाश में उल्लिखित वेदमन्त्र नहीं मिलते, तब तक यह कह बैठना कि मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखे हुए वेदमन्त्र अमुक-अमुक वेदों में नहीं मिलते बुद्धिमानी का कार्य नहीं। वेदों को दूसरी शाखाओं की बात तो दूर है, अभी तो ऐसी बातें मालूम हुई हैं जिनको वैदिक धर्मावलम्बियों ने उपलब्ध वेदों में से ही दूर करने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद अष्ट० ८ अध्याय ७ वर्ग २४ में "मुनयोवातवसनाः" ऐसा पाठ था। यह पाठ वैदिक साहित्य के विशेषज्ञ पाश्चात्य अनुसन्धान-कर्ताओं ने स्वयं देखा है। डा० अल्बर्ट बेवट ने तो इसका अपनी कृतियों में उल्लेख भी किया है†। यही नहीं, सुना गया है कि

† डाकृर साहब के History of Religions in India नामक लेख के जो Indian Antiquary, July 1901. Vol. 30 में मौजूद है, कुछ वाक्यों से जिनको हम पाठकों के सुभीते के लिये नीचे उद्धृत किये देते हैं, स्पष्ट है:—

The Digambars appear to be the more ancient, for not only in the Rik Sanhita (136-2) is mentioned of "Wind Girdled Bachhanters—Munayah Vatavasanah" but they also appear to be referred to in the well known accounts of Indian 'Gem-no-sophists" of the time of Alexander the Great.

अर्थात्—दिगम्बर लोग (श्वे० से) बहुत प्राचीन मालूम होते हैं, क्योंकि न केवल ऋक् संहिता में इनका वर्णन 'मुनयो वातवसनाः'—अर्थात् पवन ही है वस्त्र जिनका ऐसे मुनि—इस तरह आया है, बल्कि सिकन्दर के समय के हिन्दोस्तान के जैन मुनियों का जो प्रसिद्ध इतिहास है, उससे भी यही प्रगट होता है।

इण्डिया आफिस लण्डन की लायब्रेरी के ऋग्वेद में यह पाठ अभी तक भी मौजूद है। इन सब बातों के होने पर भी भारतीय ऋग्वेद की प्रतियों में यह पाठ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया।

ऋग्वेद की भारतीय प्रतियों में तो यह बदला हुआ ही मिलता है। यह पाठ कब और कैसे बदला गया आदि बातों के सम्बन्ध में अभी विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है फिर भी जहाँ तक पाठ बदलने की बात है वहाँ तक तो यह निश्चित है। ऐसी परिस्थिति में मोक्षमार्ग प्रकाश के वैदिक उल्लेखों को मिथ्या नहीं कहा जा सकता!

भगवान् ऋषभदेव यदि वैदिक महापुरुष होते और वेदों से इनके नाम को लेकर जैन धर्म में उन्हें स्थान दिया गया होता तो वैदिक साहित्य में इनका जीवन वैदिक ढङ्ग का मिलना चाहिये था। जो महापुरुष जिस सम्प्रदाय का होता है उसका जीवन भी उस ही ढंग का हुआ करता है। इसके अतिरिक्त उनके वैदिक जीवन के चिह्न उनके जैन जीवन में भी मिलने चाहिये थे। किसी भी महा पुरुष को कहीं से भी लेकर कहीं भी रक्खा जाय वहाँ उनके नाम के साथ उनके जीवन की कुछ न कुछ बातें अवश्य आया करती हैं। बजाय इसके कि भगवान ऋषभदेव के जैन जीवन में उनके वैदिक जीवन के चिह्न मिलते यहाँ तो उनके वैदिक जीवन में जैन-जीवन के चिह्न मिलते हैं। जैन जीवन की बातों का मिलना तो दूर रहा, यहां तो इतना भी मिलता है कि भगवान ऋषभदेव की शिक्षायें ही जैन धर्म है। इसका स्पष्टीकरण

हम पहिले कर चुके हैं। इन सब बातों के आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि जैनियों ने ऋषभ नाम वैदिक साहित्य से लिया है! इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिसने भी ऋषभदेव के जीवन को लिखा है उसने अपनी स्मरण परम्परा के आधार से ही लिखा है। ऐसा करते समय वह अपनी साम्प्रदायिकता को भी नहीं भुला सका है। अतः उसने उसका समावेश भी ऋषभ जीवन के साथ कर दिया है। साम्प्रदायिकता का उल्लेख रहते हुए भी उनके जीवन की बातें निःसन्देह उनको जैन तीर्थङ्कर प्रमाणित करती हैं।

ऋग्वेद के विवादस्थ मन्त्र के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति ऋग्वेद के विवादस्थ मन्त्र के प्रस्तुत अर्थ के साथ इस मन्त्र के प्राचीन अर्थों की भिन्नता की है।

ऋग्वेद या उसके अंश विशेष के प्राचीन भाष्यों में सब से प्राचीन भाष्य सर्वानुक्रमणिका पर षट्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका है। इसका समय ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी है।* इसी वेद पर एक भाष्य चतुर्वेद भाष्यकार सायणाचार्य का भी मिलता है। भाष्यकार सायण का समय ईसवी सन् की चौदहवीं सदी है। यद्यपि इस मन्त्र के हमारे और सायण के अर्थों में अन्तर है, फिर भी सायण "ऋषभ" को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार करता

---

* He flourished, as he tells us himself (see page 168 verses 13-14) in the latter half of the twelvth century. Introduction of Sarvanukramanika by Dr. A. A. Macdonell.

है। सायण ने इस मंत्र की भूमिका स्वरूप वाक्यों में और मंत्र के भाष्य स्वरूप वाक्यों में क्रमशः वैराजस्य शाक्करस्य या ऋषभाख्यस्य और ऋषभ ऋषभवत् प्रशस्तं शब्द लिखे हैं। भूमिका वाले शब्दों में ऋषभ के साथ वैराग शब्द का प्रयोग किया है। इससे प्रगट है कि सायण ऋषभ को व्यक्ति विशेष होने के साथ उनको एक महापुरुष भी स्वीकार करता था। षटगुरु शिष्य ने भी वेदार्थदीपिका में ऐसा ही प्रकट किया है।† इससे प्रकट है कि मंत्रस्थ ऋषभ से जहाँ तक व्यक्ति विशेष से तात्पर्य है वहाँ तक तो हम में और प्राचीन भाष्यकारों में कोई विरोध नहीं है।

अर्थ भेद के सम्बन्ध में बात यह है कि आज तक जितने भी ऋग्वेद के भाष्यकार हुए हैं उन्होंने षटगुरु शिष्य का शब्दशः अनुकरण किया है। षटगुरु शिष्य ने जितनी बातें जिस-जिस रूप से स्पष्ट की हैं उतनी ही और उसही ढंग से ये लोग भी कर सके हैं। षटगुरु शिष्य को जो बात अज्ञात थी या जिसका अर्थ वह नहीं कर सका था उसको ये लोग भी वैसा ही छोड़ गये हैं। षटगुरु शिष्य मंत्रस्थ ऋषभ को व्यक्ति विशेष स्वीकार करते थे किन्तु फिर भी वे इसके सम्बन्ध में कोई विशेष निर्णय न कर सके और यह कह कर छोड़ गये कि नात्र कैश्चिन्निरणामि।÷

षटगुरु शिष्य के इस प्रकार के विवेचन से मन्त्र के देवता और ऋषि में परिवर्तन हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना है।

---

† ऋषभो नाम। वैराजोऽयं शाक्करोवा।

—सर्वानु० P. 164. C. P. London.

÷ सर्वानुक्रमणिका P. 164. Clander Press London.

सायण की देवता और ऋषि सम्बन्धी मान्यता को यदि बदल दिया जाय और ऋषभ को ऋषि के स्थान पर देवता स्वीकार कर लिया जाय तो फिर हमारे और सायण के अर्थ में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता।

यहाँ देवता से तात्पर्य किसी देव विशेष से नहीं है किन्तु मंत्र के वाच्य से है।+ देवता के सम्बन्ध में यह एक वैदिक मान्यता है। इस ही प्रकार ऋषि से तात्पर्य मन्त्र के निर्माता से है।$

सायण ऋषभ को इस मन्त्र का ऋषि मानता है और हम उसको इसका देवता स्वीकार करते हैं! सायण की प्रस्तुत मान्यता के अनुसार उसका अर्थ भी ठीक नहीं बैठता। सायण ने मंत्र के भाष्य में ऋषभ का अर्थ ऋषभवत् किया है। इस मंत्र संबंधी यदि सायण की मान्यता को माना जाता है तो यह बात ठहरती है कि इस मंत्र का निर्माता है; अतः जो कुछ भी कह रहा है वह ऋषभ ही कह रहा है। ऋषभ को ही इस मंत्र का कहने वाला मानने पर "ऋषभवत" इसका समन्वय ठीक नहीं बैठता। सायण के अर्थ के अनुसार तो इसको यों कहना चाहिये कि ऋषभ ही कह रहा है कि मुझे ऋषभ की तरह करो, कोई भी व्यक्ति अपने सम्बन्ध में अपने ही समान होने की इच्छा प्रकट करे, यह बात किसी भी तरह युक्ति युक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। ऐसा भी सम्भव नहीं कि उस ही वाक्य में वह अपने लिये उत्तम पुरुष

+ "या तेनोच्यते सा देवता।"
—कात्यायन सर्वानुक्रमणिका पेज १।

$ "यस्यवाक्यं स ऋषिः"।—कात्यायन सर्वानुक्रमणिका पेज १

(First person) और अन्य पुरुष (Third person) दोनों का ही प्रयोग करे। इस मन्त्र की सायण की मान्यता में यदि थोड़ा-सा अन्तर कर दिया जाता है और ऋषभ को ऋषि के स्थान पर देवता स्वीकार कर लिया जाता है तो ये सब आपत्तियां दूर हो जाती हैं। प्रस्तुत मन्त्र का स्पष्ट अर्थ ऋषभ को नमस्कार या उससे प्रार्थना हो जाता है। सायण से प्राचीन एवं उसके भाष्य के आधार भूत षट गुरु शिष्य के इसके सम्बन्ध में अनिश्चित होने से सायण की प्रस्तुत मान्यता में इस विपर्यास की सम्भावना का बहुत-कुछ स्थान है।

कुछ भी सही मंत्रस्थ ऋषभ से तात्पर्य ऋषभ नाम के महापुरुष विशेष से है, यह तो हर हालत में प्रमाणित है। जब तक ऋषभ नाम के किसी अन्य महापुरुष का संकेत भी न मिले तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि इन महापुरुष से तात्पर्य भगवान ऋषभदेव से नहीं है।¶

सर राधाकृष्ण और विश्वविख्यात पण्डित श्रीयुत विरूपाक्ष M. A. वेदतीर्थ आदि अजैन विद्वानों ने इस मंत्र को भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ स्वीकार किया है।* इन सब बातों के आधार से यह निश्चित है कि वेद भी भगवान ऋषभदेव के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

जैन एवं जैनेतर पुराण जिसके सद्भाव को एक स्वर से

¶ इण्डियन फिलसोफी २८७।

* जैन पथप्रदर्शक वर्ष ३ पृ० १०६।

स्वीकार करते हों हजारों वर्ष के शिलालेखों में जिसका नाम हो, पांच हजार वर्ष पूर्व भी जिसकी मूर्तियाँ आज ही की तरह पुजती हों, और वेदों में भी जिसका उल्लेख हो ऐसा महापुरुष भगवान ऋषभदेव काल्पनिक व्यक्ति है और उसकी कल्पना भगवान महावीर के बाद की है यह बात किसी भी दृष्टि से सत्य प्रमाणित नहीं होती।

ऋग्वेद निःसन्देह भ० पार्श्वनाथ से पूर्व का है। अनेक विद्वानों ने इसके काल निर्णय के सम्बन्ध में गवेषणायें की हैं और वे सब इस निर्णय पर पहुँचे हैं। ऋग्वेद में अरिष्टनेमि का वर्णन है। इसके समर्थन में हम मण्डल १० सूक्त १७८ के १ मंत्र को उपस्थित करते हैं।* यह तार्द्य सूक्त का पहिला मंत्र है। तार्द्य सूक्त ऋग्वेद का यह एक प्रसिद्ध सूक्त है; अनेक कार्यों के प्रारम्भ में शान्ति के हेतु इसके पाठ का विधान है।÷ इस मंत्र की व्याख्या ब्राह्मण+ निरुक्त× और अनुक्रमणिका† आदि प्राचीन शास्त्रों में मिलती है। भाष्यकार सायण ने भी इस पर भाष्य किया है।@ अरिष्टनेमि और तार्द्य क्रमशः इस मन्त्र के

---

* त्यमूषुवाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्द्यमिहाहुवेम॥
—मण्डल १० सू० १७८ मंत्र १

÷ ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय २० खण्ड २।

\+ ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय १८ खण्ड ६।

× यास्क निरुक्त अ० १० खण्ड १२।

† मण्डल १० सम्बन्धी, कात्यायन सर्वानुक्रमणिका।

@ इस ही मन्त्र का सायणभास्य पृ० ६७८ नि० ८।

ऋषि और देवता हैं। इस मन्त्र के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद केवल मन्त्रस्थ दो पदों के अर्थ के सम्बन्ध में है—एक अरिष्टनेमि और दूसरा तार्क्ष्य। प्राचीन भाष्यकारों में से ऐतरेय ब्राह्मण और यास्काचार्य का निरुक्त तो इन दोनों पदों के संबंध में मौन है। मंत्र के अन्य पदों को स्पष्ट करते समय इन्होंने इन दोनों पदों को ज्यों का त्यों लिख कर छोड़ दिया है। इसका क्या कारण है, इस पर हम अगाड़ी चलकर विचार करेंगे।

विवादस्थ पदों पर प्रकाश डालने वालों में से कात्यायन, षट-गुरू शिष्य और सायण मुख्य हैं। प्राचीनता की दृष्टि से इन तीनों में कात्यायन का प्रथम स्थान है। इसके बाद षटगुरू शिष्य और फिर सायण का स्थान है। कात्यायन शौनक के शिष्यों में से है। शौनक अथर्व वेद के पद पाठकार हैं; प्रचलित अथर्व इन ही की शाखा का है। शौनक का ठीक-ठीक समय क्या है, इस बात का निर्णय तो हम इस ही लेख के अगले हिस्से में करेंगे, किन्तु यह निश्चित है कि यह भ० महावीर के बाद के नहीं हैं। षटगुरू शिष्य ईसा की बारहवीं और सायण ईसा की चौदहवीं सदी के हैं। ऐसी अवस्था में विववादस्थ पदों के अर्थों के सम्बन्ध में यदि कोई विशेष महत्व दिया जा सकता है तो वह कात्यायन को ही दिया जा सकता है। कात्यायन ने मन्त्रस्थ अरिष्टनेमि को पुरुष विशेष स्वीकार किया है* और उसको तार्क्ष्य का पुत्र लिखा

---

* त्यमूष्वरिष्ट नेमिस्तार्क्ष्यस्तार्क्ष्यं। —सर्वानुक्रमणी मण्डल १० सूक्त १७८।

है। अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में षट्गुरु शिष्य की मान्यता भी ऐसी ही है†। सायण ने इसके अनेक अर्थ किये हैं; इनमें से एक अर्थ में इसको व्यक्ति विशेष भी स्वीकार किया है+। इसके अतिरिक्त भाष्यकार सायण ने इस ही मन्त्र की भूमिका स्वरूप कुछ वाक्य लिखे हैं। इनमें अरिष्टनेमि को व्यक्ति विशेष और विवादस्थ मन्त्र का ऋषि स्वीकार किया है×। सायण ने अरिष्टनेमि शब्द के व्यक्ति विशेष के साथ अन्य अर्थ क्यों किये? इसका खुलासा अभी हम तार्क्ष्य शब्द के सम्बन्ध में निर्णय करते समय करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि विवादस्थ मन्त्र से जहाँ तक अरिष्टनेमि के व्यक्ति विशेष होने का सम्बन्ध है वहाँ तक तो ये सब एक मत हैं।

सायण ने तार्क्ष्य शब्द का अर्थ गरुड़—पक्षी-विशेष—किया है, किन्तु उसका यह कथन कात्यायन और षट्गुरु शिष्य की मान्यता के प्रतिकूल है। कात्यायन ने अरिष्टनेमि शब्द के अर्थ को प्रगट करने के लिये तार्क्ष्य लिखा है। इससे यही भाव निकलता है कि कात्यायन अरिष्टनेमि को ही तार्क्ष्य मानता है। षट्गुरु

---

† अरिष्टनेमिर्नाम तार्क्ष्यपुत्रः तार्क्ष्य देवतां।
—वेदार्थदीपिका पेज १६५, Clarindon Press London.

+ अरिष्टनेमिं अहिंसितरथं यद्वा नेमिर्नमनशीलायुधं अहिंतायुधं अथवा—उपचाराज्जव के जन्यशब्दः अरिष्टनेमेर्मम जनकं।
—सायणभाष्य म० १० सूक्त १७८ मं० १।

× तार्क्ष्यपुत्रस्य अरिष्टनेमेरार्षं तार्क्ष्य देवतात्मकम्।
—सायण भाष्य मं० १० सू० १७८ मन्त्र १ का पहिला कथन।

शिष्य ने भी इस पद को कात्यायन की मान्यता के अनुसार ही स्पष्ट किया है। वह लिखता है कि "अरिष्टनेमिनाथ तार्क्ष्य पुत्रः"। तार्क्ष्य शब्द के गार्क्ष्य और तार्क्ष्यपुत्र ये दोनों ही अर्थ होते हैं; अतः तार्क्ष्य से ये दोनों ही अर्थ लिए जा सकते हैं। जब कि इस शब्द के दोनों ही अर्थ होते हैं तब कोई कारण प्रतीत नहीं होता जिससे कात्यायन के तार्क्ष्य से भी तार्क्ष्यपुत्र अर्थ न समझा जाय और प्रस्तुत शब्द के सम्बन्ध में इन दोनों व्यक्तियों को एक मत न माना जाय !

सायण इन दोनों ही विद्वानों से सदियों बाद का है, अतः कोई कारण नहीं कि तार्क्ष्य शब्द के सम्बन्ध में इसकी मान्यता को अप्रमाण न माना जाय।

इसके अतिरिक्त एक विशेष बात और भी है और वह यह है कि स्वयं सायण ने ही अपने ऐतरेय ब्राह्मण के अर्थ में तार्क्ष्य शब्द का ही अर्थ महर्षि विशेष स्वीकार किया है*। सायण यदि तार्क्ष्य शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भ्रान्तिरहित होता तो वह इस ही शब्द के अर्थ को द्विविध रूप से न करता। सायण का तार्क्ष्य शब्द का महर्षि विशेष अर्थ करना भी इसके अर्थ के सम्बन्ध में कात्यायन और षटगुरु शिष्य का समर्थन ही करना है।

ये लोग भी तार्क्ष्य का अर्थ अरिष्टनेमि मानते हैं तथा इनको विवादस्थ मन्त्र का ऋषि विशेष स्वीकार करते हैं; तब यह बात

---

* तार्क्ष्याख्येन महर्षिणा दृष्टं तार्क्ष्यम्।
—ऐतरेय ब्राह्मण अ० १८ खण्ड ६।

तो सुतराँ प्रमाणित हो जाती है कि ये दोनों भी तार्क्ष्य को ऋषि-विशेष स्वीकार करते हैं।

सायण तार्क्ष्य शब्द का अर्थ पक्षी विशेष भी करता है और साथ ही उसको अरिष्टनेमि का पिता भी लिखता है। ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं, पुरुष विशेष का पिता तो पुरुष ही हो सकता है; अतः इस दृष्टि से भी सायण का प्रस्तुत अर्थ त्रुटि-पूर्ण है।

सायण की मान्यता के अनुसार तार्क्ष्य शब्द का अर्थ यदि पक्षी विशेष ही स्वीकार कर लिया जाय तो विवादस्थ मन्त्र के अन्य पदों का अर्थ भी उसके सम्बन्ध में घटित नहीं होता। विवादस्थ मन्त्र में "तरुतारं रथानाम्" पद आया है। इसका अर्थ प्राणियों का तारने वाला है†। पक्षी विशेष के सम्बन्ध में यह बात किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं की जा सकती। किन्तु यही बात अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में बिलकुल ठीक बैठती है। भगवान अरिष्टनेमि प्राणियों को संसार समुद्र से पार करने वाले थे, यह एक सर्व सम्मत बात है। विवादस्थ मन्त्र में अन्य भी ऐसे पद हैं, जिनका समन्वय पक्षी विशेष के अर्थ में नहीं होता, किन्तु व्यक्ति विशेष के ही अर्थ में होता है।

---

† (क) "तरुतारम्" तारपितारम् रथानाम् रंहितॄणाम् भूतानाम्। —दुर्गाचार्य निरुक्त टीका पेज ७४७

(ख) एषहीमान् लोकान सद्यस्तरतीति।
—ऐतरेय ब्राह्मण अ० १८ खण्ड ६

तार्क्ष्य जिनको अरिष्टनेमि का पिता लिखा है। कौन व्यक्ति है, इनका विशेष परिचय क्या है इत्यादि, बातों के सम्बन्ध में ये सब पुस्तकें मौन हैं। हाँ, कात्यायन की सर्वानुक्रमणिका की एक प्राचीन पुस्तक पर तार्क्ष्य के आगे आदित्य लिखा है†। कुछ भी सही, अरिष्टनेमि का व्यक्ति विशेष होना तो हर अवस्था में प्रमाणित है। इन सब बातों के आधार से हम यह कह सकते हैं कि तार्क्ष्य शब्द के सम्बन्ध में सायण की मान्यता मिथ्या है।

सायण की तार्क्ष्य शब्द सम्बन्धी भ्रान्ति ने ही उसको अरिष्टनेमि शब्द के अन्य अर्थ करने को वाध्य किया है। जब मनुष्य किसी एक बात के सम्बन्ध में ग़लती कर बैठता है तब उसको उसे ठीक करने के लिये अन्य बातों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही करना पड़ता है। कहा भी जाता है कि एक झूठ को छिपाने के लिये अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं। तार्क्ष्य शब्द के सम्बन्ध में सायण की स्मरणधारा जब पूर्व मान्यता के अनुसार न रही और उसको इसके अर्थ के सम्बन्ध में सन्देह हो गया तब उसने कहीं तो इसका अर्थ अपने पूर्व आभास के अनुसार किया और कहीं नवीन कल्पना के आधार पर। सायण ने प्रस्तुत शब्द का अर्थ जहाँ अपने पूर्व स्मरण के आभास के आधार पर किया है (जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में) वहाँ तो यह प्राचीन मान्यता के अनुकूल रहा है और जहाँ नवीन कल्पना के आधार पर किया है वहाँ यह मिथ्या हो गया है; जैसे विवादस्थ मन्त्र के सम्बन्ध में। किसी

† तार्क्ष्यः आदित्यः Marg, Note, W. I. सर्वानु० edited by A. A. Macdonell.

श्लोक या मन्त्र के एक शब्द के अर्थ बदल देने पर और शेष पदों के अर्थ को ज्यों का त्यों रखने पर श्लोक या मन्त्र की संगति ठीक नहीं बैठा करती, ऐसा ही विवादस्थ मन्त्र के सम्बन्ध में हुआ है। तब सायण ने इस आपत्ति को दूर करने के लिये मन्त्रस्थ दूसरे पदों के अर्थों को भी बदलने की चेष्टा की है। इस ही का परिणाम अरिष्टनेमि शब्द के अन्य अर्थ हैं।

इससे प्रकट है कि जहाँ तक अरिष्टनेमि शब्द के अर्थ की मान्यता की बात है वहाँ तक इसका वही अर्थ माना जा सकता है जोकि प्राचीन परंपरा के अप्रतिकूल है और वह है व्यक्ति विशेष।

विवादस्थमन्त्र के अन्य पद व्याख्या के योग्य थे, अतः भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों ने उनकी व्याख्या की; किन्तु विवादस्थ दो पद—एक अरिष्टनेमि और दूसरा तार्क्ष्य—इतने साधारण थे कि इनके सम्बन्ध में वैदिक साहित्य के प्राचीनतम शास्त्रकारों ने खुलासा करना आवश्यक नहीं समझा। जिस समय विवादस्थ मन्त्र का निर्माण हुआ था, उसही के कुछ समय बाद की रचना ऐतरेय ब्राह्मण की है। यह सब महाभारत के पास का ही समय है। भगवान् नेमिनाथ भी इसही समय के महापुरुष हैं। अतः ब्राह्मणकार इस बात को भले प्रकार जानते थे कि प्रस्तुत "अरिष्टनेमि" शब्द से मन्त्रकार का अभिप्राय उस युग के प्रसिद्ध महापुरुष अरिष्टनेमि से था तथा इनके सम्बन्ध में एक अक्षर भी लिखना बिल्कुल व्यर्थ था। अतः उन्होंने इसको भी अन्य मन्त्रस्थ संज्ञा शब्दों की तरह ज्यों का त्यों लिख दिया। यास्क इसके बाद के वैदिक विद्वान् हैं, किन्तु फिर भी वे वैदिक शब्दोंके अर्थके सम्बंध

में बहुश्रुत एवं माननीय समझे जाते हैं। इनको भी प्रस्तुत शब्द का संज्ञा शब्द होना विदित मालूम पड़ता है। अतः इन्होंने भी इसको ज्यों का त्यों लिख दिया है। यास्क ने अन्य संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध में भी अधिकतर ऐसा ही किया है।

वैदिक निरुक्तकार और ब्राह्मणकार का प्रस्तुत शब्दको ज्यों का त्यों ही छोड़ देना इसके संज्ञा शब्द होने के सिवाय अन्य किसी बात का समर्थन नहीं करता।

उपर्युक्त विषेचन से प्रकट है कि विवादस्थ मन्त्र का ऋषि और देवता दोनों ही अरिष्टनेमि है। किसी भी वैदिक मन्त्र के सम्बन्ध में एक ही महापुरुष को ऋषि और देवता स्वीकार करना विरोध की बात नहीं। अन्य मन्त्रों से भी इसही प्रकार की व्यवस्था मिलती है। षटगुरु शिष्य ने तो अपनी वेदार्थदीपिका में इसको विधिरूप से लिखा है।* अतः अब विवादस्थ मन्त्र का निम्नलिखित अर्थ ही निर्बाध कहा जा सकता है:—

"बलवान्, देवों के द्वारा पररूप से जाने गये या देवों के द्वारा समान प्रीति को प्राप्त हुए, प्राणियों को तारने वाले, सेनाओं के विजेता उस प्रसिद्ध तार्क्ष्य अरिष्टनेमि को आत्म-कल्याण के लिये आह्वानन करते हैं।"

इससे प्रकट है कि ऋग्वेद का प्रस्तुत मन्त्र अरिष्टनेमि के ऐतिहासिक अस्तित्व को निस्सन्देह प्रमाणित करता है।

---

* संवादेषु च सर्वेषु स ऋषिर्यत्य वाक्यं तत्।
आत्मस्तवेषु स ऋषिर्देवता स एवोच्यते॥
—वेदार्थ दीपिका पेज ६७, London Press.

इस मन्त्र के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों में भी नेमि या अरिष्टनेमि का उल्लेख मिला है।†

पुराण साहित्य भी नेमिनाथ के पवित्र नाम से अछूता नहीं है। स्कन्ध पुराण में नेमिनाथ को शिव के रूप में स्पष्ट रूप से स्मरण किया गया है।‡

इस सम्बन्ध में एक दान पत्र को भी उपस्थित किया जा सकता है।* यह दान पत्र ईसवी सन् से सातसौ या ग्यरहसौ वर्ष प्राचीन है। अभी कुछ ही दिन हुए इसको हिन्दू-विश्वविद्यालय के सुयोग्य प्रोफेसर डा० प्राणनाथजी ने अँग्रेजी भाषान्तर के साथ टाइम्स ऑफ इण्डिया के साप्ताहिक संस्करण में प्रकाशित कराया है। इसमें जहाज की कुछ आमदनी को रैवत पर्वत (गिरिनार) के

---

† (क) तवारथं वयमद्याहुवेमस्तो मरश्विना सुविताय नव्यम्।
अरिष्टनेमिं परिधामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानम्॥
—अथर्व का० २० सू० १४३ मं० १०

(ख) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्वेदेवाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमि स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु॥
—यजु० अ० २५ मं० १९

(ग) वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमाचविश्वा भुवनानि सर्वतः।
सनेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिवर्धयमानो अस्मै स्वाहाः॥
—यजुर्वेद अ० ९ मं० २५

‡ मनोभीष्टार्थ सिद्धयर्थं ततः सिद्धमवाप्तवान्।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नाभचक्रेशवामनः॥
—अ० १६ श्लोक ९६

* इसको इसही पुस्तक के परिशिष्ट में देखें।

लिये दान देने का उल्लेख है। इसमें गिरिनार पर्वतके सम्बन्ध में अरिष्टनेमि का भी उल्लेख है। अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में दानपत्र में जिन-जिन विशेषणों का उल्लेख मिलता है। ठीक इन्हीं विशेषणों का प्रयोग अरिष्टनेमि के सम्बन्ध में वेदमन्त्रों में भी मिलता है। इससे यह बात निसन्देह हो जाती है कि वेदमन्त्रों के अरिष्टनेमि और गिरिनार पर्वत के अरिष्टनेमि एक ही व्यक्ति है।

इन सब बातों की उपस्थिति में कोई बात नहीं रह जाती, जिससे भगवान् नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार न किया जाय।

जिनशब्द

वैयाकरण शाकटायन का उल्लेख भारत के प्राचीनतर साहित्य में मिलता है। यह कौनसे शाकटायन हैं इसके सम्बन्ध में अभी भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ का कहना है कि विवादस्थ वैयाकरण प्रचलित जैन व्याकरण शाकटायन के रचयिता ही हैं। दूसरा पक्ष इसको स्वीकार नहीं करता। यह प्रचलित जैन व्याकरण शाकटायन को ईसवी सन् के बाद का मानता है। दोनों ही पक्ष अपने-अपने मत के समर्थन में अनेक-अनेक बातें उपस्थित करते हैं।

मदरास प्रैसीडैन्सी कालेज के संस्कृत प्रोफेसर श्री गुस्टवाउपर्ट का अभिमत पहिले पक्ष में हैं। आपने इसके सम्बन्ध में अपना अभिमत जैन व्याकरण शाकटायन की अँग्रेजी भूमिका में लिखा है। जैन समाज के ऐतिहासिक विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी का

अभिमत दूसरे पक्ष के अनुकूल है। कुछ भी सही, हमारा यहाँ इससे प्रयोजन नहीं कि इस शाकटायन से तात्पर्य प्रचलित जैन व्याकरण शाकटायन से है या इससे भिन्न किसी दूसरी पुस्तक से। हमारा प्रयोजन तो शाकटायन के उणादि प्रकरण से है तथा यह एक निर्विवाद बात है कि यह प्रकरण उस शाकटायन से सम्बन्धित है जिसका कि उल्लेख भारत के प्राचीनतर साहित्य में मिलता है।

इसके समर्थन में अनेक बाते हैं; किन्तु यहाँ हम उनमें से एक का ही उल्लेख करेंगे। प्रस्तुत वैयाकरण शाकटायन पाणिनी से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में इसके मत का उल्लेख किया है। प्रस्तुत वैयाकरण शाकटायन यदि पाणिनी से प्राचीन न होते तो यह बात कैसे सम्भव हो सकती थी कि पाणिनी उनकी मान्यताका उल्लेख* कर सकते। जो जिसके बाद का होता है वही उसका उल्लेख कर सकता है।

वैयाकरण पाणिनी भी एक असाधारण वैयाकरण हुए हैं। हमारी अष्टाध्यायी जैसी रचना अवश्य उल्लेख योग्य है। इन्होंने अष्टाध्यायी में हरएक बात का ध्यान रक्खा है, किन्तु उणादि प्रकरण की रचना नहीं की है। इससे यही बात निकलती है कि यह प्रकरण शाकटायन कृत पहिले से ही मौजूद था और अपने विषय में अनुपम था। अतः पाणिनी ने इसकी रचना की बिल्कुल आवश्यकता नहीं समझी।

---

* लङः शाकटायनस्यैव, अष्टाध्यायी ३-४-१११

आज भी पाणिनी व्याकरण में शाकटायन कृत उणादि प्रकरण का मिलना इसके समर्थन में अनुपम बात है। यदि प्रस्तुत उणादि प्रकरण पाणिनी के बाद के किसी अन्य शाकटायन का होता तो पाणिनी व्याकरण में अवश्य यह प्रकरण भी मिलता इससे स्पष्ट है कि शाकटायन का प्रस्तुत उणादि प्रकरण उसही शाकटायन का है जिसका उल्लेख भारत के प्राचीनतर साहित्य में मिलता है।

वैयाकरण शाकटायन ने अपने उणादि प्रकरण के एक सूत्र में जिनशब्द का प्रयोग किया है।* इससे उक्त वैयाकरण के समय जिन शब्द का प्रयोग निर्विवाद हो जाता है।

वैयाकरण शाकटायन किस समय हुए उस बात के समर्थन में हम निम्न लिखित बातें विद्वानोंके समक्ष उपस्थित करते हैं ? इनका उल्लेख निरुक्त ¶ अष्टाध्यायी † और यास्क प्रातिशाक्य + में मिलता है। निरुक्त का रचयिता यास्क अष्टाध्यायीका पाणिनी ऋक्प्रतिशाक्य का कर्ता शौनक है।

अथर्ववेद की ९ शाखायें हैं ×। उनमें से एक शाखा शौनक

---

* इणसिञ्जिदीङ्कुष्यविभ्योनक्। जिनोऽर्हन्।
—सिद्धान्तसूत्र- ३०२.

¶ तत्रनामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।
—निरुक्त १-१२-२

† अष्टाध्यायी ३-४-१११। ८-३-१८

+ प्रथमंशाकटायनः ऋग्वेदप्रातिशाक्य प्रथमपटल.

× एक शतमध्वर्यु शाखासहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशिन्तिधावाह्वृच्यंनवधाऽथर्वणोवेदः —महाभाष्यपातञ्जलि

की भी है प्रचलित अथर्ववेद इस ही शाखा का है। गोपथ ब्राह्मण आदि जितना भी अथर्ववेद का परिकर मिलता है वह सब इसही शाखा से सम्बन्ध रखता है। इन सब की रचना भी शौनक के बाद ही की है।

गोपथ ब्राह्मण की रचना ब्राह्मण काल में हुई है। इस ही प्रकार शौनकीय शाखा का बीजारोपण भी संहिताकाल के कुछ बाद शाखाकालमें हुआ है। ब्राह्मणकाल और शाखा काल, ये दोनों ही ईसवीसन से एक हजार वर्ष पूर्व के हैं। अतः शौनक का समय भी कम से कम इतना प्राचीन तो अवश्य स्वीकार करना चाहिए। जैनतीर्थंकरों के काल की दृष्टि से यह काल भ० पार्श्वनाथ के शासन काल से कुछ पूर्व और भगवान नेमिनाथ काअंतिम काल ठहरता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि शाकटायन के उणादि प्रकरण में उल्लिखित सूत्र भगवान पार्श्वनाथ से पूर्व जिनशब्द के अस्तित्व को प्रमाणित करता है।

प्रश्न—निरुक्तकार यास्कने भी शाकटायन के मत का उल्लेख किया है ÷। तथा उनका समय ईसवीसे सात सौ वर्ष प्राचीन है। इस ही यास्त का स्मरण भी शौनक ने अपने प्रतिशाक्य में किया है। ऐसी अवस्था में यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है कि शौनक का समय ईसवी सन से एक हजार वर्ष तो प्राचीन अवश्य है।

÷ न दाशतय्येपदा काचिदस्तीति वयास्कः
ऋःग्वेदप्रातिशाक्य ६६३

उत्तर—शौनक ने अपने प्रातिशाख्य में यास्क के मत का उल्लेख किया है। यह बात अवश्य सत्य है! किन्तु यह यास्क निरुक्तकार यास्क से भिन्न है।

वैदिक साहित्य में अनेक यास्कों का उल्लेख मिलता है।

(१) भारद्वाजो भारद्वाजाचासुराय णाच यास्काच।

शतपथ ब्राह्मण १४-७-२७

(२) वैशम्पाय नो यास्कायैतां प्राह पैङ्गये,

यास्कस्तित्तिरयेप्राह उखाय प्राहतित्तिरिः।

तैत्तिरीय काण्डानुक्रमणिकाअ० ३-२५

(३) उरो वृहती यास्कस्य। पिङ्गलकसूत्र ३०।

दूसरी बात यह है कि शौनक ने अपने प्रातिशाख्य में यास्क की जिस मान्यता का उल्लेख किया है यदि वह निरुक्त कार यास्क कीही होती तो वह बात प्रस्तुत निरुक्त में मिलनी चाहिये थी किन्तु ऐसा है नहीं अतः यही कहना पड़ता है कि शौनक ने अपने प्रातिशाख्य में यास्क के मत का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु वह यास्क निरुक्तकार यास्क से एक भिन्न यास्क है। ऐसी परिस्थितिमें निरुक्तकार यास्क का समय ईसवी सन् से सात सौ वर्ष पूर्व होनेपर भी इसका शौनक के प्रस्तुत समय पर कोई प्रभाव नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि शाकटायन का प्रस्तुतमत भ० पार्श्वनाथसे पूर्व जिन शब्द के व्यवहार को प्रमाणित करता है।

मोहन जी दारू-सिन्ध-की खुदाई में जो वस्तुऐं मिली हैं उनमें कुछ ऐसी सीलें भी हैं जिन पर 'नमो जिनेश्वराय' लिखा है। डा० प्राणनाथ प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालयने अध्ययन किया है और वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं। उक्त प्रोफैसर साहब ने इस के सम्बन्ध में निम्न लिखित शब्द लिखे हैं:—

It may also be noted that the Inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment Jinesvara or Jinesah.

Indian Historical quarterly Vo. VIII N. 2 Sp.

प्रोफैसर महोदय आर्यसमाजी हैं। आपका जैन धर्म की ऐतिहासिक प्राचीनता से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैनेतर होने पर भी आपने मोहन जी दारू की सीलों के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है वह एक सत्य प्रियता की दृष्टि से ही। अतः कोई कारण नहीं जिस से कि आप की प्रस्तुत बात को सत्य स्वीकार न किया जाय।

इस सील का निर्माण काल आज से पांच हजार वर्ष प्राचीन है। यह तो एक ऐसी बात है जिसके सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। अतः इसके सम्बन्ध में प्रमाणों का उल्लेख करना अनावश्यक पाते हैं।

शाकटायन व्याकरण और मोहन जी दारू की प्रस्तुत सील के आधार से भगवान पार्श्वनाथ से पूर्व भी जिन शब्द का व्यवहार ऐतिहासिक सत्य स्वीकार करना पड़ता है।

जिन शब्द की तरह अर्हन शब्द का उल्लेख भी भगवान पार्श्वनाथ से प्राचीन साहित्य में मिलता है। इस के समर्थन में हम निम्न लिखित वेदमंत्र उपस्थित करते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ६४

इमंस्तोममर्हतेजातवेदसेरथमिवसंमहेमामनीषय
भद्राहिन:प्रमतिरस्यसंसद्यग्नेसरव्येमारिषामावयंतव ॥

अर्हन्तायेसदानवोनरोप्रसामिशवसः
प्रयज्ञंयज्ञियेभ्योदिवोअर्चामहद्भ

ऋग्वेद म० ५ सूक्त ५२-५

तावधन्तावनुद्यन्मर्मायदेवावदभा ।
अर्हन्ताचित्पुरोदधेशेवदेवावर्तते ।

ऋग्वे द मण्डल ५ सूक्त ५

अर्हन्विभर्षिसायकानिधन्वार्हन्निष्कंयजतंविश्वरूपं
अर्हन्निदंदयसेविश्वमम्वंनवाओजीयोरुद्रत्वदस्ति ।

ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त ३३ । मं० १०

जिन और अर्हन शब्दों का एक ही अर्थ है सिद्धान्त कौमुदीकारने भी अर्हतशब्द को जिन शब्द के साथ एकार्थक स्वीकिया है।

इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने जैन धर्म मीमांसा में निम्न लिखित वाक्य लिखे हैं—"जिन शब्द का प्रयोग बौद्ध आजीवक आदि श्रमण सम्प्रदायों में आम तौर पर प्रचलित था और इस जिन शब्द की प्राचीनता से जैन धर्म की प्राचीनता का कोइ सम्बन्ध नहीं है"। —जैन धर्म मीमांसा ६१

श्रमण परम्परा या जैन परम्परा यह एक ही बात है। आगे को आकर यही परस्पर के भेदों में छिन्न भिन्न होगई थी किन्तु फिर भी इसके भिन्न २ भागों ने अपने आदर्श बाचक शब्दों को नहीं छोड़ा था अतः आजीवक आदि में जिन और अर्हत् आदि शब्दों का मिलना एक स्वाभाविक बात है। आजीवक आदि के भेद भगवान महावीर के समय की घटना है। इससे पूर्व इसके अस्तित्व के ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है। अतः भगवान पार्श्वनाथ से प्राचीन साहित्य या सिक्कों पर जिन या अर्हत शब्दों का प्रयोग भगवान पार्श्वनाथ की ही परम्परा की प्राचीनता सिद्ध करेगा। न कि उनके कई सौ वर्षों के बाद होने वाले विभागों की प्राचीनता को। इससे स्पष्ट है कि जिन शब्द के उपयुक्त प्रयोग जैन धर्म को भगवान पार्श्वनाथ से प्राचीन सिद्ध करते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ से पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व प्रमाणित करने के सम्बन्ध में अन्य बातें भी उपस्थित की जा सकती है। किंतु हम इन थोड़ी सी बातों को लिख कर ही इस प्रकरण को समाप्त करते हैं जिससे इस विषय पर शीघ्र और संक्षेप में विचार हो सके।

आशा है हमारे विद्वान पाठक भगवान पार्श्वनाथ से पूर्व जैन धर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमारे इन वाक्यों का ध्यान पूर्वक अवलोकन करेंगे।

दूसरा अध्याय

सर्वज्ञता

सर्वज्ञ शब्द का अर्थ आक्षेपक ने निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्रगट किया है:—

"सर्वज्ञ शब्द का सीधा और सरल अर्थ यही है कि सबको जानने वाला। परन्तु सर्व शब्द का व्यवहार अनेक तरह से होता है......इससे पाठक समझ गये होंगे कि सर्वज्ञ शब्द का अर्थ इच्छित पदार्थ का जानना है।" —जैन जगत अङ्क १४ वर्ष ८ पेज ४।

जहां अक्षेपक ने सर्वज्ञ की उपर्युक्त व्याख्या की है वहीं आपका यह भी कहना है कि सर्वज्ञ के मन होता है और वह उसकी सहायता से जानता है। आपने यह भी बतलाया है कि सर्वज्ञ के केवलज्ञान के साथ अन्य चार ज्ञान भी होते हैं और वहाँ उसका या उनका अस्तित्व लब्धि और उपयोग दोनों ही अवस्थाओं में रहा करता है। साथ ही साथ आपने यह भी बतलाया है कि केवली के दर्शन और ज्ञान एक साथ नहीं होते।

आपके इस कथन को यदि संक्षेप और सीधे ढङ्ग से कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि जो-जो बातें हमारे ज्ञानों के सम्बन्ध में हैं वे ही केवली के भी—हम इन्द्रियों की सहायता से जानते हैं

तो केवली भी, हमारे दर्शनोपयोग पूर्वक ज्ञानोपयोग होता है तो केवली के भी, हमारे ज्ञान में लब्धि और उपयोगरूप अवस्थायें मिलती हैं तो केवली के भी और यदि हमारा ज्ञान सीमित है तो केवली का भी। अन्तर केवल इतना ही है कि हमारे ज्ञान की सीमा से केवली के ज्ञान की सीमा कहीं अधिक है।

आक्षेपक की समझ से सर्वज्ञ का स्वरूप जब ऐसा होना चाहिये तब प्रायः सभी जैन विद्वान् सर्वज्ञ का स्वरूप वही मानते हैं जो श्री कुन्द-कुन्द, उमा स्वामी और नेमिचन्द सरीखे प्रमुख सिद्धान्त वेत्ता आचार्यों ने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है और जिसको समन्तभद्र अकलङ्क और विद्यानन्दि सरीखे आचार्यों ने युक्तियों से सिद्ध किया है। संक्षेप में उसको यों समझ लीजियेगा—

सर्वज्ञ शब्द का अर्थ सबको जानना है तथा यहाँ सर्व शब्द का अर्थ कालत्रय और लोकत्रय की अशेष वस्तुयें हैं। इस ही प्रकार के ज्ञान का नाम केवल ज्ञान है। यह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न नहीं होता और सदा उपयोग रूप रहता है।

सर्वज्ञ की एक व्याख्या से दूसरी व्याख्या में बड़ा भारी अन्तर है। अतः यह आवश्यक है कि इस बात का निर्णय किया जाय कि सर्वज्ञ की इन व्याख्याओं में से कौन सी व्याख्या समुचित है?

इन व्याख्याकारों में जहाँ सर्वज्ञ की व्याख्या के सम्बन्ध में अन्तर है वहीं एक बड़ा भारी अन्तर और भी है और वह है ज्ञान स्वरूप के सम्बन्ध में!

आक्षेपक का कहना है कि ज्ञान का स्वभाव अनन्त या सब पदार्थों के जानने का नहीं किन्तु असंख्य पदार्थों के जानने का है। जैसा कि आपके इन शब्दों से स्पष्ट है कि—"पूर्णज्ञान के विषय अनन्त और सर्व पदार्थ नहीं किन्तु असंख्य पदार्थ हैं।"

—जैन जगत वर्ष ८ अङ्क १३ पेज ४।

आक्षेपक ने यह भी स्वीकार किया है कि शक्ति के दृष्टि-कोण से तो सब ज्ञान समान हैं, किन्तु इनकी व्यक्ति सदैव विभिन्न नहीं रहती है।

जहाँ आक्षेपक ज्ञान में अनन्त या सब पदार्थों के जानने का स्वभाव तथा व्यक्ति के दृष्टिकोण से ज्ञानों में समानता भी नहीं मानते, वहीं दूसरा पक्ष इसका बड़े खुले शब्दों में स्वागत करता है। अतः विचारणीय यह है कि:—

(१) क्या ज्ञान का स्वभाव अनन्त या सर्व पदार्थों के जानने का है या असंख्यात पदार्थों के जानने का।

(२) क्या शुद्ध जीवों में ज्ञान की व्यक्ति समान होती है।

आत्मा के सम्पूर्ण पदार्थों के जानने के सम्बन्ध में आक्षेपक ने दो बाधायें उपस्थित की हैं। एक अनन्त पदार्थों के ज्ञान की और दूसरी भूत पदार्थों के ज्ञान की।

अनन्त के ज्ञान के सम्बन्ध में आक्षेपक की निम्नलिखित बाधायें हैं:—

"जब केवल ज्ञान के द्वारा वस्तु की अन्तिम पर्याय जान ली जाय तभी यह कहा जा सकता है कि केवल ज्ञान से पूरी वस्तु जान ली गई, परन्तु वस्तु तो अनन्त है, इसलिये केवल ज्ञान के

द्वारा भी वस्तु का अनन्तपना नहीं जाना जा सकता। तब केवल ज्ञान से पूरी वस्तु जान ली गई, यह कैसे कहा जा सकता है? मतलब यह है कि अगर केवलज्ञान वस्तु की सब पर्यायों को जान ले तो वस्तु का अन्त हो जाय अथवा यदि वस्तु का अन्त न मिलेगा तो पूर्ण वस्तु का ज्ञान न होगा। इस प्रकार या तो वस्तु को सान्त मानना पड़ेगा या केवल ज्ञान को सान्त मानना पड़ेगा, परन्तु वस्तु का अन्त कभी हो नहीं सकता, उसकी सिर्फ पर्यायें बदलती हैं, इसलिये केवल ज्ञान को ही सान्त मानना पड़ेगा।"

—जैन जगत वर्ष ८ अङ्क ११ पेज १०।

जैन दर्शन जिस प्रकार ज्ञेय को अनन्त मानता है उस ही प्रकार ज्ञान को भी। अनन्त के द्वारा अनन्त का ज्ञान हो जाता है। अतः न वस्तु को ही सान्त मानने की आवश्यकता पड़ती है और न ज्ञान को ही! इसको यों समझना चाहिये कि ज्ञेय के स्थानापन्न एक लोहे की पटरी है और ज्ञान के स्थानापन्न एक सीसे की पटरी तथा दोनों ही अनन्त हैं। ऐसी अवस्था में लोहे की पटरी सीसे की पटरी में प्रतिबिम्बित भी हो जायगी और दोनों अनन्त भी बनी रहेंगी। हाँ यदि सीसे की पटरी सान्त मान ली जाय तब तो यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि लोहे की पटरी उसमें प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती और यदि उसमें उसका प्रतिबिम्बित होना मानेंगे तो उसको भी सान्त मानना पड़ेगा।

जिस प्रकार प्रतिबिम्बित होने और सान्त की व्याप्ति नहीं, उस ही प्रकार ज्ञात होने और सान्त की भी। इसके सम्बन्ध में स्वयं ज्ञान को ही दृष्टान्त में उपस्थित किया जा सकता है।

ज्ञान स्वपर प्रकाशक है और उसका अनादि से आत्मा में अस्तित्व है, यह बात ऐसी है जिसको आक्षेपक भी स्वीकार करते हैं। आज तक ज्ञान की अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं और अनन्तों में ही उसने अपना प्रकाश किया है। फिर भी भूतकाल में न ज्ञान की दृष्टि से ही उसका अन्त माना जा सकता है और न ज्ञेय की दृष्टि से ही। यहाँ स्व के स्थान में पर प्रकाशकत्व और पर के स्थान में सुख गुण या अन्य पदार्थों को लेकर भी यह बात घटित की जा सकती है। दूर जाने की जरूरत नहीं, आक्षेपक की व्याख्यानुसार सर्वज्ञ को ही यहाँ दृष्टान्त में ले लीजियेगा। आपके कथनानुसार सर्वज्ञ का ज्ञान असंख्य पदार्थों को जानता है, किन्तु उसका यह ज्ञान अनन्त है अर्थात् अनन्त काल तक असंख्य पदार्थों को जानता रहेगा। (अनन्त × असंख्य) ऐसी अवस्था में वह भी अनन्त पदार्थों का ज्ञाता ही ठहरता है।

प्रश्न १—एक पदार्थ या एक प्रकार के पदार्थों के अनन्त समय तक जानने से अनन्त पदार्थों का ज्ञान प्रमाणित नहीं हो सकता, वह तो तब हो सकता है जब ज्ञेय ही उतने प्रकार के हों ?

उतर १—जितने पदार्थ हैं वे सब सत् स्वरूप हैं। सत् उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है। अतः ये तीनों ही बातें प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय हुआ करती हैं। इससे स्पष्ट है कि पर्याय दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ प्रति समय भिन्न-भिन्न रूप है। ऐसी अवस्था में उसका या उनका अनन्त काल तक जानना अनन्त ज्ञेयों का ही जानना है।

प्रश्न २—आपके कथन से अब यह तो अवश्य सिद्ध हो जाता है कि अनन्त का ज्ञान भी हो जाता है और फिर भी वह अनन्त ही बना रहता है, किन्तु इससे यह बात किस प्रकार प्रमाणित हो सकती है कि—

"ज्ञान का अनन्त पदार्थों को जानने का स्वभाव है और वह उनको एक काल में भी जान सकता है ?"

उत्तर २—अनन्त का भी ज्ञान हो सकता है, इस बात को स्वीकार कर लेने पर यह तो स्वयं सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान का अनन्त पदार्थों को जानने का स्वभाव है। यदि ज्ञान का इस प्रकार का स्वभाव नहीं होता तो यह किस प्रकार सम्भव था कि यह अनन्त पदार्थों को जानता या जान सकता। क्योंकि "नहि-स्वतोऽसती शक्तिःकर्तुमन्येन पार्यते" अर्थात् जो शक्ति जिसमें नहीं है वह उसमें किसी के भी द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। इस से यह तो स्पष्ट है कि ज्ञान में इस प्रकार की शक्ति है। अब रह जाता है कि ज्ञान में क्रमशः अनन्त पदार्थों के जानने की शक्ति है या एक साथ।

जिस प्रकार किसी पदार्थ में अविद्यमान शक्ति को विद्यमान नहीं किया जा सकता उसही प्रकार विद्यमान को अविद्यमान भी। हाँ, यह बात हो सकती है कि वह वहाँ प्रकट या अप्रकट रूप में रहे। सुख आकाश में नहीं, अतः वह वहाँ उत्पन्न भी नहीं किया जा सकता। किन्तु वह आत्मा में है, अतः उसका वहाँ से अभाव भी नहीं किया जा सकता। हाँ यह बात हो सकती है कि वह वहाँ प्रगटित या अल्प प्रगटित अवस्था में रहे।

यह सिद्ध किया जा चुका है कि ज्ञान में अनन्त पदार्थों के जानने की शक्ति है। अतः यह भी स्पष्ट है कि यह वहाँ सदैव विद्यमान रहती है। शक्ति का अस्तित्व और उसकी व्यक्ति ये दो बातें हैं तथा उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर उसकी व्यक्ति मानना कोई अनिवार्य बात नहीं। अतः ज्ञान में सर्वदा उसकी व्यक्ति न मिलना उसके अस्तित्व की बाधक नहीं। इसही को यदि और भी स्पष्ट करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि जब पहले समय में केवली असंख्य पदार्थों को जानते हैं तब उनमें वह शक्ति मौजूद है। इसही प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे पाँचवें आदि समयों में जब उनसे भिन्न-भिन्न असंख्य ज्ञेयों को जानते हैं तब-तब उन-उन की। पहिले समय की शक्ति का दूसरे समय, पहिले और दूसरे समयों की शक्ति का तीसरे समय, पहिले-दूसरे और तीसरे समयों की शक्ति का चौथे समय और पहिले से चौथे समयों तक की शक्ति का पाँचवें समय अभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार यदि अनन्त के समय में केवली की शक्ति को देखेंगे तो अवश्य अनन्त ज्ञेयों के जानने वाली मिलेगी। इसका यह भाव नहीं कि पहिले इस प्रकार की शक्ति केवली में नहीं थी या वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है, किन्तु यह है कि यदि व्यक्ति से भी शक्ति का अनुमान करेंगे तब भी केवली में अनन्त पदार्थों के एक साथ जानने की शक्ति माननी पड़ेगी।

जहाँ केवली में यह बात असंख्य पदार्थों के ज्ञान के आधार से घटित की गई है वही दूसरे प्राणियों में कम से कम एक या

उससे अधिक से कर लेनी चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से भी अनन्तवें समय में अनन्त का नम्बर आ जाता है और फिर ज्ञान में अनन्त पदार्थों के जानने की शक्ति प्रति समय माननी ही पड़ती है।

विरोध—ज्ञान अनन्त पदार्थों को जान सकता है (साध्य) क्योंकि वह अनन्त है। (हेतु) इस अनुमान में आक्षेपक ने एक ही वस्तु को हेतु और साध्य बना—दिया है ········· अगर हम दोनों को जुदे-जुदे धर्म भी मानलें तो भी इसमें अन्योन्याश्रय है, क्योंकि जब ज्ञान की अनन्तता सिद्ध हो जाय तब उसकी अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति सिद्ध हो सकती है। जब—दोनों ही असिद्ध हैं तब कौन किसको सिद्ध कर सकता है। लोहे की पटरी और शीशे की पटरी का दृष्टांत तो वहीं काम आ सकता है जहाँ कोई बात हेतु से सिद्ध हो। दूसरे इस दृष्टांत में विषमता है, क्योंकि उपर्युक्त कल्पना में दोनों ही पटरियाँ क्षेत्र और काल की दृष्टि के समान हैं जबकि केवल ज्ञान और सर्व पदार्थ न तो क्षेत्र की दृष्टि से समान हैं और न काल की दृष्टि से।

परिहार—किसी का खण्डन करना और उसके सम्बन्ध में बाधा उपस्थिति करना ये दोनों भिन्न-भिन्न बातें हैं। खण्डन के समय उसके समर्थन में उपस्थित की गई बातों का प्रतिवाद करना होता है, किन्तु बाधा उपस्थित करने के लिये यह बात आवश्यक नहीं। बाधा में तो इतना ही बतलाया जाया करता है कि आपकी प्रस्तुत मान्यता में यह बाधा आती है। या आप

इस बात का अपने सिद्धान्त के अनुसार कैसे स्पष्टीकरण करते हैं वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति में इस बात की मुख्यता है। जब कोई वैज्ञानिक किसी नवीन बात की गवेषणा कर लेता है तब वह उसको विद्वानों के समक्ष उपस्थित करता है। विद्वान् अपनी २ शङ्काओं को बाधा के रूप में उसके समक्ष उपस्थित करते हैं और यदि वह अपनी गवेषणा के अनुसार उन सब का स्पष्टीकरण (Explanation) कर देता है तब उसका वह सिद्धान्त मान्य कर लिया जाता है।

इसही प्रकार किसी भी बात का सिद्ध करना और उसके सम्बन्ध में उपस्थिति बाधाओं का स्पष्टीकरण भी भिन्न-भिन्न बातें हैं। समर्थन में स्वतन्त्र प्रमाणों को उपस्थित करना होता है और बाधाओं के परिहार में मान्य सिद्धान्त के अनुसार उनका स्पष्टीकरण करना पड़ता है।

हमने अपनी सर्वज्ञत्व विषयक लेखमाला में बाधा-परिहार, खण्डन और मण्डन तीनों का ही प्रयोग किया है। आक्षेपक की बाधाओं के स्पष्टीकरण में बाधापरिहार, उनके सर्वज्ञत्व के खंडन के खंडन में खण्डन और सर्वज्ञत्व सम्बन्धी आवश्यक बातों के समर्थन में मण्डन का प्रयोग किया है। आक्षेपक ने हमारी इन बातों पर ध्यान नहीं दिया। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनको अपनी इस लेखमाला में अनेक बातें न लिखनी पड़तीं। आक्षेपक के विरोध स्वरूप उद्धृत वाक्य भी उनही बातों में से है। हमारे जिन वाक्यों पर उन्होंने ये वाक्य लिखे हैं वे वाक्य न तो खण्डनात्मक ही हैं और मण्डनात्मक ही, किन्तु बाधापरिहार

स्वरूप हैं। हमारे ये वाक्य यदि खण्डनात्म होते तब तो इनको अनुमान के रूप में रखने की आवश्वकता हो सकती थी। बाधा परिहार स्वरूप होने से इनको सरल भाषाही में रखना पड़ा है। हमारे ये वाक्य निम्नलिखित हैं—"जैन दर्शन जिस प्रकार ज्ञेय को अनन्त मानता है उसही प्रकार ज्ञान को भी। अनन्त द्वारा अनन्त का ज्ञान हो जाता है अतः न वस्तु को ही सान्त मानने की आवश्यकता पड़ती है और न ज्ञान को ही। इसको यों समझना चाहिये कि ज्ञेय के स्थानापन्न एक लोहे की पटरी है और ज्ञान के स्थानापन्न एक शीशे की तथा दोनों ही अनन्त हैं। ऐसी अवस्था में लोहे की पटरी शीशे की पटरी में प्रतिबिम्बित भी हो जायगी और दोनों अनन्त भी बनी रहेंगी। हाँ यदि शीशे की पटरी को सान्त मान लिया जाय तब तो यह आपत्ति उपस्थित की जा सकती है कि लोहे की पटरी उसमें प्रतिबिम्बित न हो सकने से उसको सान्त मानना पड़ेगा।" हमारे इन वाक्यों की भाषा से विद्वान् पाठक समझ गये होंगे कि इनके द्वारा केवल सिद्धान्त को स्पष्ट करके बाधा का परिहार किया गया है। यहाँ हम यह भी नोट कर देना अनावश्यक नहीं समझते कि आक्षेपक की जिन पंक्तियों पर ये पंक्तियाँ लिखी हैं वे भी स्वयं बाधा स्वरूप ही हैं। इसके समर्थन में हम यहाँ उनकी भूमिका स्वरूप लिखी गई पंक्तियाँ उद्धृत किये देते हैं। "सर्वज्ञत्व के प्रचलित स्वरूप के विषय में जो सबसे बड़ी बाधा है वह है अनन्त के ज्ञान की असम्भवता।"

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि अनन्त के ज्ञान की असम्भवता की बात आक्षेपक ने बाधा के रूप में उपस्थित की थी और बाधा का परिहार सिद्धान्त के स्पष्टीकरण से ही होता है तथा हमने भी ऐसा ही किया है। अतः आक्षेपक का हमारे इस कथन को अनुमान का रूप देकर उपस्थित करना तथा उसमें साध्यसम और अन्योन्याश्रय दोषों का उद्भावन करना नितान्त अप्रासङ्गिक तथा अनुपयोगी है।

अब इसके सम्बन्ध में केवल एक ही बात शेष है और वह है दृष्टान्त की असमानता। दृष्टान्त दार्ष्टान्त से क्षेत्र और काल की दृष्टि से तुल्य ही होना चाहिये यह एकान्त नहीं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में इन बातों का देखना तो केवल लड़कपन है। दृष्टान्त में तो केवल यही देखना चाहिये कि जिन धर्मों की दृष्टि से उसको दृष्टान्त बनाया गया है वे उसमें पाये जाते हैं या नहीं। दृष्टान्त की परिभाषा भी है कि जिसमें साध्य और साधन लक्ष्य धर्म पाये जांय* अपेक्षित दोनों धर्म शीशे और लोहे की पटरियों में पाये जाते हैं। इस सम्बन्धी अपने कथन को हम ऊपर उद्धृत कर ही चुके हैं। अतः क्षेत्र और काल की असमानता की बात विल्कुल निरर्थक है।

विरोध—आक्षेपक का कहना है कि ज्ञान अगर एक समय में एक पदार्थ को भी जाने तो वह अनन्त काल तक प्रति समय एक पदार्थ को जानता रहेगा इसलिये वह अनन्त का ज्ञाता कहा जायगा इस प्रकार तो काल द्रव्य भी अनन्त प्रदेशी कहलायगा

---

* दृष्टोऽन्तः साध्य साधन धर्मो यत्रासौ दृष्टान्तः। प्रमेयकमल १०६

क्योंकि वह भी अनन्त काल तक एक प्रदेशी है। इस प्रकार धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य जीव, परमाणु आदि सभी अनन्त प्रदेशी कहलायेंगे। एक हाथ ऊपर कूदने वाला मनुष्य भी योजनों ऊपर कूदने वाला मानना पड़ेगा क्योंकि वह प्रति समय इतना कूद सकता है तथा उसके जीवन के समय बहुत ज्यादा हैं। यही बात उसकी ऊंचाई के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैन शास्त्रों के अनुसार मति और श्रुत ज्ञान अनन्त पदार्थों को नहीं जान सकते परन्तु आक्षेपक के मतानुसार ये ज्ञान भी अनन्त को विषय करने वाले हो जायंगे।

शक्ति की विवेचना करते समय सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि वह कितना जानता है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसको जानता है इस लिये पूर्ण ज्ञान एक समय में जितना जानेगा उतना दूसरे समय में जानेगा परन्तु उतना जानेगा उसको ही जानेगा। इसलिये प्रति समय की शक्ति का जोड़ लगाकर उसको अनन्त कहना अनुचित है।

परिहार—एक या एक जैसी शक्ति के द्वारा भी अनेक कार्य होते हैं और अनेक शक्तियों के द्वारा भी। जहां एक या एक जैसी शक्ति के द्वारा अनेक कार्य किये जाते है वहां कार्य भेद नहीं हुआ करता किन्तु जहां अनेक कार्यों को शक्ति भेद की आवश्यकता पड़ा करती है वहां कार्य भेद हुआ करता है। दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि एक मनुष्य दश समयों में एक भाषा में दश दफा एक मनुष्य का नाम लिखता है और दूसरे दश समयोंमें उस ही के नाम को दश भाषाओं में

लिखता है। इस ही प्रकार एक कारीगर दश दिन तक एक ही वस्तु को बहु संख्या में तय्यार करता और दूसरे दश दिनों में यही दश प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करता है।

इन दोनों ही दृष्टांतों में कर्ता मनुष्य एक ही है फिर भी एक परिस्थिति में भिन्न-भिन्न समयों के उसके भिन्न-भिन्न कार्यों में उस में प्रति समय उन कार्यों के सम्पादन योग्य योग्यताओं का अस्तित्व माना जाता है किन्तु दूसरी परिस्थिति में इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं पड़ती और एक शक्ति मानकर ही यह सब बातें घटित हो जाती हैं संक्षेप में इसको यों कहना चाहिये कि जहां कार्य भेद है वहाँ कारण भेद अवश्य है और जहाँ कार्य भेद नहीं है वहाँ कारण भेद के मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उपर्युक्त दोनों ही दृष्टान्तों में एक स्थान पर कार्य भेद है और दूसरे स्थान पर इसका अभाव। जब वही मनुष्य किसी व्यक्ति के नाम को दस भाषाओं में लिखता है या कारीगर भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न २ प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करता है तब उनके इन कार्यों में विभिन्नता स्वीकार न करने को तो कोई स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार एक भाषा से दूसरी भाषा की लिपि भिन्न है उस ही प्रकार एक कार्य की रचना से दूसरे कार्य की रचना भी।

जिस प्रकार इनके नानात्व में कोई सन्देह नहीं उस ही प्रकार इनकी कारण भूत योग्यता की भिन्नता में भी। जिस योग्यता से अंगरेजी लिखी जा सकती है इस ही से संस्कृत और अरबी आदि भाषायें नहीं लिखी जा सकतीं। इस ही प्रकार

संस्कृत आदि की योग्यता से अन्य भाषाओं का लिखा जाना भी असम्भव है।

यही बात कारीगर के कार्यों के सम्बन्ध में है। कारीगर जिस योग्यता से एक चीज को बनाता है उस ही को उससे भिन्न वस्तुओं के निर्माण के लिये उससे भिन्न योग्यता का प्राप्त करना भी अनिवार्य है। कार्य भेद के लिये यदि योग्यता भेद अनिवार्य न होता तो आज भिन्न-भिन्न भाषाओं, भिन्न-भिन्न दस्तकारियों भिन्न २ कलाओं के शिक्षण की आवश्यकता ही नहीं थी। एक ही भाषा, एक ही दस्तकारी और एक ही कला के शिक्षण से सब कार्य हो जाने चाहिये थे।

प्रस्तुत विवेचन से यह बात निःसन्देह हो जाती है कि कार्य-भेद के लिये शक्ति भेद अनिवार्य है।

इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जितने प्रकार के कार्य करता है चाहे वह उनको एक साथ करता हो या क्रमशः उसमें उतने ही प्रकार की शक्तियां माननी पड़ती हैं। जैसे ऊपर के दोनों दृष्टान्तों में लेखक एक समय एक ही लिपि को लिखता है किन्तु फिर भी हर समय उसमें उतनी ही लिपियों का ज्ञान स्वीकार करना पड़ता है जितनी लिपियों को वह अपने समग्र जीवन में लिख सकता है। वही बात कारीगर के सम्बन्ध में है। यह भी एक समय में एक ही वस्तु का निर्माण करता है किन्तु फिर भी इसमें उतनी वस्तुओं के निर्माण की योग्यता माननी पड़ती है जिनको यह भिन्न समयों में भी बना सकता है।

जो विभिन्नता प्रस्तुत दोनों दृष्टांतों में है वही हमारे और आक्षेपक के वक्तव्यों में भी है। हमने अपने वक्तव्य में जिस बात को उपस्थित किया है वह कार्य भेद है। अतः उससे कारण-भेद को मानना ही चाहिये किन्तु आक्षेपक के दृष्टान्तों में इस बात का अभाव है। अतः इनमें कारण भेद के स्वीकार करने की गुञ्जायश ही नहीं।

कालाणु एक समय एक प्रदेशी है इस ही प्रकार दूसरे समयों में भी कालाणु का एक समय का एक प्रदेशीत्व से उसके दूसरे समयों के एक प्रदेशीत्व से भिन्न नहीं है। अतः यह सब कालाणु के एक ही स्वभाव के कार्य हैं यही बात धर्म द्रव्य जीव और परमाणु के प्रदेशों के सम्बन्ध में है। धर्म अधर्म और जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं किन्तु इनका एक समय का असंख्यात प्रदेशीत्व दूसरे समयों के असंख्यात प्रदेशीत्व से भिन्न किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही बात परमाणु के सम्बन्ध में है।

एक मनुष्य एक समय में एक हाथ ऊंचा कूदता है तथा दूसरे समयों में भी इसका इतना ही कूदना है। अतः यहां भी कार्य भेद का मानना निष्कारण ही है शरीर की ऊंचाई के सम्बन्ध में तो बात बिलकुल स्पष्ट है। एक समय की शरीर की ऊंचाई से दूसरे समय की उसकी ऊंचाई को भोला व्यक्ति भी भिन्न न कहेगा। अतः आक्षेपक के इन दृष्टान्तों में जब प्रदेश-भिन्नता या कार्य भिन्नता का ही अभाव है तब ये सब एक ही स्वभाव या शक्ति के प्रतिफल मानने ही चाहिये। जिस प्रकार कि हमारे दोनों दृष्टान्तों में एक ही योग्यता से भिन्न २ समयों में भी

वही कार्य किया जा सकता है और उसके लिये योग्यता भेद की आवश्यकता नहीं पड़ती वही बात आक्षेपक के प्रस्तुत दृष्टान्तों के सम्बन्ध में है।

उपस्थित किये गये दृष्टान्तों में से आक्षेपक का अब केवल एक दृष्टान्त शेष है और वह है मति ज्ञान और श्रुतज्ञान का। आक्षेपक का इनके सम्बन्ध में यह कहना है कि जैन शास्त्रों के अनुसार मति और श्रुतज्ञान अनन्त पर्यायों को नहीं जान सकते बिलकुल निराधार है। आपने फुटनोट के रूप में इसके समर्थन में सर्वार्थ सिद्धि की निम्न लिखित पंक्ति को उपस्थित किया है "तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावभायद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दति न सर्वपर्यायैरनन्तैरपि" सर्वार्थ० १-२६। सर्वार्थ सिद्धि की इन पंक्तियों में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की शक्तियों का निर्णय हो। ये पंक्तियां तो केवलउनके विषय सम्बन्ध के सम्बन्ध में हैं। किसी की शक्ति का निर्णय उसके समय विशेष के विषय सम्बन्ध से ही नहीं किया जा सकता। आक्षेपक ज्ञान में एक साथ असंख्यपदार्थों के जानने की शक्ति मानते हैं किन्तु फिर भी वह प्रति समय इतने पदार्थों को जानते हुए दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः किसी भी ज्ञान के समय विशेष के ज्ञेय से उसकी शक्ति का निर्णय कथमपि नहीं किया जा सकता।

थोड़ी देर के लिये अभ्युपगम सिद्धान्त से सर्वार्थसिद्धि की इन पंक्तियों को मानें और श्रुत ज्ञान की शक्तिसूचक ही इन्हें स्वीकार कर लिया जाय तब भी इन में ऐसी कोई बात नहीं है

जिससे आक्षेपक की बात स्वीकार की जासके। सर्वार्थसिद्धि की इन पंक्तियों में तो केवल यही बतलाया गया है कि मति ज्ञान और श्रुतज्ञान द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानते। यहां यह कहां बतलाया है कि उनमें अनन्त पर्यायों को जानने की शक्ति नहीं है। द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायें अनन्त हैं किन्तु अनन्त सब नहीं। अनन्त और द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों में समव्याप्ति नहीं है अतः मति और श्रुतज्ञान में द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों के ज्ञेयत्व का निषेध करने से ही उनमें अनन्त के ज्ञेयत्व का निषेध स्वीकार नहीं किया जा सकता। सर्वार्थ सिद्धि की इन पंक्तियों के अन्त में "अनन्तैरपि" पद आया है किन्तु यह 'सर्वपर्यायैः' का विशेषण है। अतः यह भी आक्षेपक के इष्ट को सिद्ध करने में असमर्थ है। जैनशास्त्रकारों ने मति और श्रुतज्ञान की जघन्य से जघन्य अवस्था में भी उनमें ज्ञान के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद स्वीकार किये हैं। अतः आक्षेपक के इस दृष्टान्त का भी प्रस्तुत विषय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसही विषय के सम्बन्ध में हम पहले निम्न लिखित वाक्य लिख चुके हैं—

"जितने पदार्थ हैं वे सब सत् स्वरूप हैं। सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। अतः यह तीनों ही बातें प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय हुआ करती हैं। इससे स्पष्ट है कि पर्याय दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ प्रति समय भिन्न २ स्वरूप है। ऐसी अवस्था में उसका या उनका अनन्तकाल तक जानना अनन्त ज्ञेयों का जानना है।"

उपर्युक्त वाक्यों से प्रगट है कि पदार्थ का एक समय का स्वरूप उसके दूसरे समय के स्वरूप से भिन्न है। यदि ऐसा न माना जायगा तब फिर प्रति समय उत्पाद और व्यय मानने की बात भी घटित न हो सकेगी। पदार्थों में प्रति समय स्वरूपभेद स्वीकार कर लेने पर ज्ञानमें भी यह बिभिन्नता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यह कैसे हो सकता है कि ज्ञेयों में तो विभिन्नता बनी रहे और ज्ञान अभिन्न ही रह जाय। ज्ञान की यह विभिन्नता बिना उसमें शक्तिभेद स्वीकार किये घटित नहीं होती अतः इस ही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि जिस शक्ति से ज्ञान पदार्थ के एक रूप को जानता है उसको उसके भिन्न रूप के जानने के लिये उसमें भिन्न शक्ति अनिवार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि अनेक समयस्थ ज्ञेयों और कालाणु आदि के एक प्रदेशत्व आदि में अन्तर है। जहां कि पहलों में विभिन्नता है वही दूसरों में उसका अभाव है अतः पहिले कार्य के सम्पादन के निमित्त ज्ञान में विभिन्न शक्तियों का अस्तित्व अनिवार्य है जहां कि दूसरे दृष्टान्तों में एक ही शक्ति से भिन्न २ समयों में उन कार्यों का होना निश्चित है। शक्तिका नाश नहीं होता चाहे वह किसी भी काल में क्यों न प्रगट रही हो। अतः अनेक भाषाओं के लेखक या अनेक भाषाओं के ज्ञाता की तरह ज्ञान में ये शक्तियां प्रति समय ही माननी पड़ेंगी। इस ही का नाम एक समय में "ज्ञान का अनन्त पदार्थों के जानने का स्वभाव है—"

आक्षेपक ने अनन्त काल, अनन्त आकाश और अनन्त परमाणु समुदायात्मक स्कन्ध का प्रश्न उपस्थित करके निम्न-लिखित पंक्तियाँ लिखी हैं:—

"काल की अनन्तता को हम जान सकते हैं, क्योंकि काल की अनन्तता एक ही पदार्थ है। अनन्तत्व एक धर्म है और अनन्तत्व-युक्त काल को जानना एक पदार्थ को जानना है। इस ही प्रकार क्षेत्र की अनन्तता को जानना एक पदार्थ को जानना है। स्कन्धों में आप अनन्त परमाणु मानते हैं परन्तु मैं असंख्य मानता हूं, खैर असंख्य हो या अनन्त, यहां उस से कुछ बाधा नहीं है; क्योंकि असंख्य या अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध एक ही है और हम एक स्कन्धको जानते हैं—उसके प्रत्येक परमाणु को अलग २ नहीं जानते। यह स्कन्ध अनन्त प्रदेशी है, इस प्रकार के ज्ञान में स्कन्ध का अनन्त प्रदेशित्व नामक एक धर्म जाना गया है।"

[जैन जगत अङ्क १२ पेज ४]

अनन्त शब्द के दो अर्थ हैं—एक काल की दृष्टि से और दूसरा क्षेत्र की दृष्टि से। सत् का नाश और असत् का उत्पाद नहीं होता, अतः जो अभी सत् है वह सदैव सत् ही रहेगा इस अनुमान के आधार से किसी भी तत्त्व को काल की दृष्टि से अनन्त ठहराया या जाना जा सकता है किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से अनन्त ठहराने के लिये इस प्रकार का कोई भी अनुमान नहीं हो सकता। जहां सत् की काल की दृष्टि से अनन्तत्व के साथ व्याप्ति है और एक से दूसरे को सिद्ध किया जा सकता है वहीं क्षेत्र की दृष्टि से नहीं; अतः इससे उसको वैसा सिद्ध नहीं किया जा

सकता। कोई भी यह कह सकता है कि अमुक पदार्थ सत् है इसलिए वह काल की दृष्टि से अनन्त है किन्तु इस ही लिए उसको क्षेत्र की दृष्टि से अनन्त नहीं कहा जा सकता। इसके लिए तो आवश्यक है कि आप उसकी सत्ता को अनन्त क्षेत्र में जानें। इससे काल की अनन्तता का भले ही अनन्त के ज्ञान हुए बिना भी निश्चय किया जा सके, किन्तु क्षेत्र की अनन्तता के परिज्ञान के लिए अनन्त का परिज्ञान अनिवार्य है।

यही बात अनन्त परमाणुओं के समुदायस्वरूप एक स्कन्ध के सम्बन्ध में है। यहां हमें इस बात के स्वीकार करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं कि अनन्त प्रदेशित्व नामक एक उसका धर्म है, किन्तु जब तक उस धर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में जानकारी न होजाय तब तक यही किस प्रकार कहा जा सकता है कि उसमें इस प्रकार का एक धर्म है। तीन स्कन्ध हैं—एक संख्यात प्रदेशी, दूसरा असंख्यात प्रदेशी और तीसरा अनन्तप्रदेशी। संख्यात प्रदेशी को संख्यात प्रदेशी, असंख्यात को असंख्यात और अनन्त प्रदेशी को अनन्त प्रदेशी कहना यह उनकी प्रदेश संख्या की निश्चिति पर अवलम्बित है। यदि उनकी प्रदेशसंख्या के निश्चय के बिना ही इस प्रकार का कथन किया जा सके तो संख्यात प्रदेशी ही को संख्यात प्रदेशी कहा जायगा अन्य को नहीं; इसी प्रकार अन्यों को ही अन्यों के प्रकार से। इस में नियामक ही क्या है ?

प्रदेश संख्या का परिज्ञान बिना उतने के परिज्ञान के हो नहीं सकता, क्योंकि "अवयवार्थ प्रतिपत्तिः पूर्विका हि समुदायार्थ प्रति-

पत्तिः" अर्थात् अवयव के परिज्ञान पूर्वक ही समुदाय का परिज्ञान होता है यह एक सिद्धान्त है। कौन कह सक्ता है कि वह व्यक्ति जिसको एक एक का अलग अलग परिज्ञान नहीं है वह उनके समुदाय स्वरूप किसी भी संख्या को जान सक्ता है। इससे स्पष्ट है कि अनन्त प्रदेशी स्कन्ध का परिज्ञान भी अनन्त के परिज्ञान के बिना संभव नहीं।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि पदार्थों की अनन्तता सर्वज्ञ के वर्तमान स्वरूप में बाधक नहीं। इसही को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सक्ते हैं कि अनन्त का परिज्ञान भी हो जाता है और ज्ञान और ज्ञेय में से किसी एक को सान्त मानने का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता।

विरोध—जिस प्रकार काल की अनन्तता जानने के लिये सब समयों को जानने की जरूरत नहीं उसी प्रकार क्षेत्र की अनन्तता जानने के लिये सब जगह को जानने की आवश्यकता नहीं है। दोनों की अनन्तता अनुमान से जान सकते हैं। उत्तर पर्याय की उत्पत्ति के बिना पूर्व पर्याय का नाश नहीं हो सकता इसलिये यह पर्याय परम्परा अनन्त है यही काल की अनन्तता है। इसी प्रकार दूसरे प्रदेश के प्रारम्भ हुये बिना पूर्व प्रदेश का अन्त नहीं हो सकता। अर्थात् एक प्रदेश के बाद दूसरा प्रदेश अवश्य आता है, भले ही उसमें कोई वस्तु हो या न हो इसलिए समय परम्परा के समान प्रदेश परम्परा भी अनन्त है।"

परिहार—पूर्व पर्याय के नाश के साथ उत्तर पर्याय के उत्पाद का अविनाभावी सम्बन्ध है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिसकी

पूर्व पर्याय के नाश होने पर भी जिसकी उत्तर पर्याय की उत्पत्ति न होती हो। यदि यों कहाजाय कि पूर्व पर्याय का नाश ही उत्तर पर्याय की उत्पत्ति है या उत्तर पर्याय की उत्पत्ति ही पूर्व पर्याय का नाश है तब भी कोई अत्युक्ति न होगी। अतः पूर्व पर्याय के नाश से उत्तर पर्याय के उत्पाद का और फिर उसमें कालकी अनन्तता का तो अनुमान किया जा सकता है किन्तु यह बात क्षेत्र की अनन्तता के सम्बन्ध में घटित नहीं होती। क्षेत्र के प्रदेशों में इस बात का समर्थन अनुमान से नहीं होता। जितने भी संख्यात प्रदेशी और असंख्यात प्रदेशी पदार्थ हैं उन सबका अ-भाव है इनमें एक प्रदेश के अन्त होने पर भी दूसरे प्रदेश का अस्तित्व नहीं मिलता। दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि एकसौ प्रदेशी पदार्थ हैं। इसमें सौ तक तो एक के बाद दूसरा प्रदेश मिलेगा। किन्तु उसके बाद यह नियम उसमें लागू नहीं हो सकता यही बात समान संख्यात प्रदेशी और असंख्यात प्रदेशी पदार्थों के मध्य की है। किन्तु जब इनसे भी अन्तिम सीमा पर आजाते हैं तब यह नियम भी पलायते हो जाता है। जगत में संख्यात प्रदेशी या असंख्यात प्रदेशी पदार्थों का अभाव नहीं है किन्तु यों कहना चाहिये कि अधिकतर पदार्थ इसी प्रकार के हैं।

एक पर्याय के नाश के अनन्तर दूसरी पर्याय के उत्पाद की तरह यदि एक प्रदेश के बाद दूसरे प्रदेश का होना भी अनिवार्य माना जायगा तब तो यों कहना चाहिये कि जगत के प्रत्येक पदार्थ को अनन्त प्रदेशी मानना पड़ेगा। जिन पदार्थों को हम सीमित देख रहे हैं वे पदार्थ भी फिर सीमित न रह सकेंगे। यहाँ

तक कि एक प्रदेशी अणु भी चाहें वह कालका हो या पुद्गल का अनन्त प्रदेशी ही हो जायगा। ये सब बातें अनुभव और युक्ति के प्रतिकूल हैं। अतः पर्याय नाश के साथ पर्यायान्तरोत्पाद की तरह प्रदेश के बाद प्रदेशान्तर की व्याप्ति कथमपि स्वीकार नहीं की जा सकती।

यहां पर एक यह समाधान भी उपस्थित किया जा सकता है और वह यह है कि हमारा प्रदेश के बाद प्रदेशान्तर के अस्तित्व का कथन केवल आकाश के सम्बन्ध में है अतः अन्य पदार्थों की बातों का प्रस्तुत कथन पर कुछ भी प्रभाव नहीं किन्तु यहाँ पर भी इतना तो विचारना होगा कि आकाश में ही इस नियम का निश्चय किस प्रमाण से होता है। अनुमान के लिए व्याप्ति का निश्चय अनिवार्य है अतः यह अवश्य बतलाना होगा कि प्रदेश के बाद प्रदेशान्तर के अस्तित्व का निर्णय अमुक प्रमाण से किया गया है। यदि अनुमान को इस कोटि में रक्खा जायगा अर्थात् यह कहा जायगा कि इस प्रकार का ज्ञान भी अनुमान से ही होता है तब तो अनवस्था हो जायगी क्योंकि उस अनुमान की व्याप्ति के निर्णय के लिये भी किसी अन्य अनुमान को और उसकी व्याप्ति के निर्णय के लिये किसी अन्य को मानना पड़ेगा।

प्रत्यक्ष को इस कोटि में लाने से तो हमारा ही अभिमत सिद्ध होगा कि किसी भी पदार्थ की अनंतता उसके ज्ञान में बाधक नहीं। किन्हीं भी पदार्थों के सम्बन्ध में प्रत्यक्षादिक ज्ञानों के हो जाने के बाद ही विचारात्मक तर्क ज्ञान हुआ करता है तथा प्रस्तुत विषय में इनका सम्बन्ध घटित नहीं होता अतः यहाँ तर्क को भी स्थान नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के बल पर हम इस बात के कहने के अधिकारी हैं कि आक्षेपक के प्रदेश के बाद प्रदेशान्तर के अस्तित्व के कथन को किसी भी दृष्टि से विचार लो किन्तु अनुमान के साथ उस का सम्बन्ध बिलकुल भी घटित नहीं होता।

आकाश की अनन्तता का ज्ञान होता है यह एक अविवाद की बात है। हमारी तरह आक्षेपक भी इसको स्वीकार करते हैं विचार केवल प्रत्यक्ष और अनुमान का ही था। अनुमान के सम्बन्ध में यह बात घटित नहीं होती जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं अतः आकाश की अनन्तता का ज्ञान प्रत्यक्ष और आगमगम्य ही स्वीकार किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि पदार्थों की अनन्तता सर्वज्ञ के अस्तित्व की बाधक नहीं प्रत्युत साधक ही है।

भूत पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में आक्षेपक ने निम्न लिखित वक्तव्य उपस्थित किया है:—

"कोई पदार्थ कितना भी दूर हो, फिर भी सम्भव है उसका प्रत्यक्ष हो जाय, क्योंकि दूर और व्यवहित होने पर भी कम से कम वह है तो, परन्तु जो वस्तु है ही नहीं उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। अगर असत् का भी प्रत्यक्ष होने लगे तो खरविषाण का प्रत्यक्ष भी होगा। इसलिये केवलज्ञान के द्वारा वस्तु की वर्तमान पर्यायों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, भूत भविष्यत की अनन्त पर्यायों का नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष करते समय उनका अस्तित्व ही नहीं।

भूत पदार्थ वर्तमान में नहीं हैं, फिर भी वे अपने समय में

थे, किन्तु खरविषाण न अभी है और न पहिले ही था। इसका होना तो किसी समय भी नहीं। अतः भूत पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में खरविषाण के ज्ञान की बाधा ठीक नहीं। हाँ यदि हमारा कथन यह होता कि जिस काल की दृष्टि से जिस पदार्थ का ज्ञान किया जाय उस काल में भी उसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं, तब तो खरविषाण के ज्ञान की बात कही जा सकती थी, किन्तु हम ऐसा कह नहीं रहे। हमारा तो यह कहना है कि सत् पदार्थ का ही प्रत्यक्ष होता है, चाहे वह अभी सत् हो या रहा हो अथवा रहने वाला हो। इस प्रकार की कोई भी बात खरविषाण के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। अतः आक्षेपक की इसके संबंध में आपत्ति उपस्थित करना ठीक नहीं।

दूसरी बात यह है कि यदि दूर और व्यवहित पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है तो भूतकाल के पदार्थों का क्यों नहीं? जिस प्रकार यह पदार्थ क्षेत्र व्यवहित हैं उसी प्रकार वे काल व्यवहित। जिस प्रकार ये पदार्थ ज्ञाता के क्षेत्र में नहीं उस ही प्रकार वे ज्ञाता के काल में। जिस प्रकार इनको अपने क्षेत्र में ही जाना जाता है न कि ज्ञाता के क्षेत्र में, उस ही प्रकार उनको भी अपने ही काल में न कि ज्ञाता के काल में। यदि क्षेत्र ज्ञाता और ज्ञेय के बीच में रहता हुआ भी रुकावट नहीं डाल सकता तो काल ही कैसे डाल सकता है?

तीसरी बात यह है कि भूत और भविष्यत बातों के ज्ञान भी होते ही हैं। सत्य स्वप्न ज्ञान एवं भावना ज्ञानों से किसको इन्कार हो

सकता है और कौन कह सकता है कि इस प्रकार के ज्ञानों के विषय भूत और भविष्यत पदार्थ नहीं ?

चौथी बात यह है कि भूत और भविष्यत बातों के सम्बन्ध में ज्ञान का होना तो आक्षेपक को भी मान्य है, क्योंकि वह यह स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के पदार्थों का निर्णय अनुमानादिक से हो सकता है। यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि वह इनके सम्बन्ध में ज्ञान मानकर भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानते।

प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों में जहां तक ज्ञान और उसके फल-प्राप्ति का सम्बन्ध है वहां तक इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं। प्रत्यक्ष भी चेतना गुण का परिणमन स्वरूप है और परोक्ष भी। इसी प्रकार प्रत्यक्ष से भी बाह्यार्थ के सम्बन्ध में अन्धकार दूर होता है और परोक्ष से भी। अन्तर केवल इतना ही है कि पहिला स्वाधीन है और दूसरा पराधीन।

स्वाधीनता और पराधीनता के कारण ही इन के बाह्यार्थ प्रकाशन में अन्तर रहता है। या यों कहिये कि इनकी सबलता और निर्बलता से ही ये स्वाधीन और पराधीन होते हैं और फिर इसका प्रभाव बाह्यार्थ प्रकाशन पर पड़ता है। कुछ भी क्यों न सही, किन्तु यह तो एक स्वयं सिद्ध बात है कि परोक्ष की दृष्टि से प्रत्यक्ष कहीं प्रबल है। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि जिसको परोक्ष जान सकता है या जानता है उसको प्रत्यक्ष न जान सके या ऐसा करना उसकी शक्ति के बाहर की बात हो। स्पष्टता के लिये इस को यो समझियेगा कि एक आदमी है जो कि

इन्द्रियों का दास है। जो २ पदार्थ उसके सामने आता है उस २ की तरफ उसका ध्यान आकर्षित हो जाता है और जब तक उस को उसकी प्राप्ति नहीं होती तब तक वह उसके वियोग में दुःखी बना रहता है जैसे २ उसको अपने इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती जाती है तैसे २ उसके दुःख में भी कमी होती रहती है। अचानक इसके जीवन में परिवर्तन हो जाता है और यह पक्का इन्द्रिय-विजयी बन जाता है। इस अवस्था में इसको कोई भी पदार्थ विकारी नहीं बना सकता। यहाँ यदि कोई कहने लगे कि जो सुख इसको पहिले था वह अब नहीं है, क्योंकि सुख के साधन इससे दूर हो चुके हैं तो यह उसका भोलापन है। पहिली अवस्था भी इस ही के गुण का परिणमन था और वर्तमान भी। अन्तर केवल इतना ही है कि पहिले इसको वाह्य निमित्त थे, अब उनका अभाव है। पहिली अवस्था में निमित्तों का होना अनिवार्य था क्योंकि उनकी अनुपस्थिति ने ही इसकी अवस्था को बिगाड़ रक्खा था। किन्तु वर्तमान में उससे भिन्न है। पहिले यह इन्द्रियों का दास था तो अब इन्द्रिय विजयी, पहिले इसको यदि अनुकूल अवस्था के लिये वाह्य साधनों की जरूरत थी तो अब नहीं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय दास होने से ही इसको वाह्य निमित्तों की आवश्यकता थी और वह बात इसमें है नहीं, अतः इसको उनकी जरूरत भी नहीं। अतः निश्चित है कि वैसा ही क्या उससे भी अधिक सुखी है।

यही बात ज्ञान के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार यहाँ मन के आधीन न होने से अनुकूल अवस्था के लिये वाह्य साधनों की

जरूरत है, उसी प्रकार ज्ञान को भी उसकी निर्बल अवस्था में। जैसे यह मन को स्वाधीन करके बिना वाह्य साधनों के भी वैसी ही अवस्था का अनुभव कर सकता है। उस ही प्रकार ज्ञान भी निर्बलता को दूर करके उन पदार्थों को बिना वाह्य निमित्तों की सहायता से जान सकता है जिनको कि वह वाह्य साधनों की सहायता से जानता था।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार पदार्थों की अनन्त संख्या सर्वज्ञ के वर्तमान स्वरूप में वाधक नहीं, उस ही प्रकार पदार्थों का भूत और भविष्यत अवस्थायें भी।

यदि सम्पूर्ण ज्ञेयों को काल की दृष्टि से विभाजित करें तो भूत, भविष्यत और वर्तमान इस प्रकार तीन भेद होते हैं। इन ही को यदि क्षेत्र को दृष्टि से विभाजित करें तो ऊपर के, नीचे के और मध्य के, इस प्रकार तीन भेद होते हैं। इस ही प्रकार एक-एक के भी अनेक-अनेक भेद हो सकते हैं। इन सम्पूर्ण ज्ञेयों में से चाहे वह किसी भी प्रकार के किसी भी भेद से सम्बन्ध क्यों न रखता हो, किन्तु ऐसा कोई नहीं जिसको कोई भी न जानता हो या जो किसी से भी न जाना जा सकता हो। ऊपर की वस्तु को ऊपर वाले जानते हैं या जान सकते हैं तो नीचे की को नीचे के। इस ही प्रकार भूतकाल की वस्तु को भूतकाल के, भविष्यत्-काल के पदार्थों को भविष्यत के और वर्तमान के तत्त्वों को वर्तमान के। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान के सम्पूर्ण जीवों की दृष्टि से वर्तमान में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो न जाना जा सकता हो। ठीक यही बात भूत और भविष्य के सम्बन्ध में है।

रेखा गणित का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वे दोनों रेखायें जो आपस में समान हैं, यदि कोई तीसरी रेखा जो उनमें से किसी एक के समान है तो वह दूसरी के भी समान है। यहाँ दो बातें हैं—एक स्वीकृत और दूसरी प्रमाणित। तीसरी रेखा का समान दोनों रेखाओं में से किसी एक के समान होना स्वीकृत है और उस ही का दूसरी के समान होना प्रमाणित।

रेखागणित के इस सिद्धान्त को यदि जीवों के सम्बन्ध में घटित करना चाहें तो यों कहना चाहिये कि जितनी भी आत्मायें हैं वे सब स्वरूप की दृष्टि से समान हैं अतः जिसको एक आत्मा जानती या जान सकती है; उस ही को दूसरी भी। यहां पर किसी भी आत्मा के ज्ञेय का स्थान तीसरी रेखा का है और स्वरूप की दृष्टि से समान आत्माओं का स्थान समान दो रेखाओं का है। जिस प्रकार तीसरी रेखा समान दोनों रेखाओं में से किसी एक के समान होने से ही वह दूसरी के भी समान है उस ही प्रकार कोई भी पदार्थ किसी भी आत्मा को ज्ञेय होने से ही वह प्रत्येक आत्मा के ज्ञेय होने योग्य है। स्पष्टता के लिए इसको यों भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण आत्माओं के जिनदत्त, राममोहन, व्रजलाल और घनश्याम आदि नाम हैं। जिनदत्त की आत्मा स्वरूप की दृष्टि से राममोहनादि की आत्माओं के समान है, अतः जिसको राममोहन जानता है या जान सकता है उसको जिनदत्त भी। इसी प्रकार यह बात व्रजलाल और घनश्याम आदिक सम्पूर्ण आत्माओं के साथ घटित कर लेना चाहिये। यह हम पूर्व ही प्रमाणित कर चुके हैं कि जगत की सम्पूर्ण आत्माओं के समुदाय

की दृष्टि से जगत की कोई भी बात अज्ञेय नहीं रह जाती और जिनको जगत की सम्पूर्ण आत्मायें जानतीं या जान सकती हैं उनको एक ही आत्मा जान सकता है जैसा कि जिनदत्त के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा चुका है। अतः स्पष्ट है कि एक ही आत्मा जगत के सम्पूर्ण ज्ञेयों को जान सकती है या उसका इस प्रकार का स्वभाव है। ऐसी कोई भी आत्मा नहीं जो स्वरूप की दृष्टि से दूसरी आत्माओं से विभिन्नता रखती हो, अतः यह भी स्पष्ट है कि ऐसी भी कोई आत्मा नहीं जिसका स्वभाव जगत के सम्पूर्ण ज्ञेयों के जानने का न हो।

विरोध—"प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी ज्ञान का विषय है यह कहना मिथ्या है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विश्व इतना महान् है कि उसके आगे ज्ञान की शक्ति समुद्र के आगे बिन्दु बराबर भी नहीं है। यदि हम विश्व के सारे पदार्थों को सब जीवों में बाँट दें तो भी एक जीव के हिस्से में इतने पदार्थ पड़ेंगे कि उनकी एक समय की अवस्था वह करोड़ों जन्म से भी न जान सकेगा फिर त्रैकालिक अवस्थाओं का तो कहना ही क्या है। हमारे शरीर में कितने परमाणु हैं यह हम नहीं जान सकते ......इसलिये यह कहना अनुचित है कि प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी के ज्ञान का विषय है। पदार्थ का अस्तित्व उसकी अर्थ क्रिया पर निर्भर है वह ज्ञान का विषय न हो तो भी अपना काम करता रहता है। दूसरी बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें समानता और एकता के भेद को भुलाया गया है। सब जीव समान हैं नकि एक। इसलिये एक जीव जितना जान सकता है उतना ही दूसरा

भी जान सकता है न कि दोनों का जोड़ ।"

परिहार—आक्षेपक ने हमारे वक्तव्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यदि ऐसा किया होता तो उनको नम्बर एक की बात लिखने की आवश्यकता ही प्रतीत न होती। हमने केवल इतना ही नहीं लिखा था कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी जीव के ज्ञान का विषय है, किन्तु साथ में इतना और भी था कि 'हो सकता है'। होना और हो सकना इनमें महान् अन्तर है। जो वस्तु अभी-अभी किसी के ज्ञान का विषय नहीं है, किन्तु फिर भी वह ज्ञान की सीमा से बाहर नहीं जा सकती, ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जो एक काल में किसी के ज्ञान का विषय न होने पर भी कालान्तर में हो जाया करती हैं। यहाँ ज्ञान की वर्तमान अवस्था का ही विचार नहीं है, किन्तु उसकी शक्ति का विचार है। अतः ज्ञान का विषय हो सकने वाले पदार्थ भी ज्ञान की सीमा से बाहर नहीं किये जा सकते।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान से तात्पर्य यहाँ ज्ञानमात्र से है चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान हो या परोक्ष ज्ञान। जिसको हम प्रत्यक्ष से जानते हैं वह भी हमारे ज्ञान के भीतर है और वह भी जिसको हम परोक्ष से जानते हैं। हमारा शरीर हमारे प्रत्यक्ष का विषय है तथा हो सकता है। किसी के शरीर का कोई ऐसा भाग नहीं जिसको उसकी समानता रखने वाला न जान सकता हो। किसी भी शरीर के भाग और उपभाग करके उसको भली भांति जाना जा सकता है। शरीर के त्रसरेणु और फिर उनके द्वारा उसके परमाणुओं की संख्या भी अनुमानादि के बाहर की बात नहीं है।

जब परमाणु ही ज्ञान की सीमा के बाहर की बात नहीं है। तब सोचने की बात है कि परमाणुओं की संख्या विशेष ही ज्ञान की सीमा के बाहर किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक की प्रस्तुत बात से तो यह प्रमाणित नहीं होता कि कोई पदार्थ ऐसा भी है जो ज्ञान की सीमा के बाहर है। इस सम्बन्ध में अब केवल एक ही बात शेष है और वह यह है कि "क्या विश्व इतना महान् है कि यदि उसको सम्पूर्ण जीवों में विभाजित कर दिया जाय तो उसके एक जीव के हिस्से को एक जीव करोड़ों जन्ममें भी नहीं जान सकता" आक्षेपक ने यह वाक्य केवल प्रतिज्ञा के रूप में लिखा है, उनका कर्तव्य तो यह था कि वह अपनी इस प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में प्रमाण भी उपस्थित करते जिससे कि इसकी वास्तविकता पर विचार किया जा सकता। प्रतिज्ञा वाक्य होने से इसका भी प्रस्तुत विषय पर कोई प्रभाव नहीं है ऐसी परिस्थिति में यह बात स्वीकार करनी ही पड़ती है कि जगत में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो किसी के भी ज्ञान का विषय न हो, या न हो सकता हो।

इसही प्रकार जिसको एक जीव जानता है उसको दूसरा भी जान सकता है इस बात के विवेचन से भी समानता और एकता के भेद को नहीं भुलाया गया है, किन्तु उसको सामने रख कर ही परिणाम निकाला गया है। हमारा भी यही मन्तव्य है कि सब जीव समान हैं, नकि एक। किन्तु फिर भी जितना एक जीव जानता है दूसरा जीव उतना भी जान सकता है और दोनों का जोड़ भी।

दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि डा० रमन, डा० गणेशदत्त और डा० टैगोर आदि अनेक व्यक्ति हैं। ये सब अपने २ विषय में अधिकारी माने जाते हैं। साथ ही साथ एक की विचार-शक्ति एवं मानसिक झुकाव भी दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ इनमें इस प्रकार की विभिन्नता है वहीं जीवत्व दृष्टि से समानता भी है। परस्पर में विभिन्नता होने पर भी इस दृष्टि से (जीवत्व दृष्टि से) जिसको एक जानता है उसको दूसरा भी जान सकता है। अतः तीनों ही प्रतिष्ठित विद्वानों में तीनों ही प्रकार की योग्यता माननी पड़ती है। यह जोड़ का दृष्टान्त है।

यही बात जगत के समस्त प्राणियों के ज्ञान की है। अतः अधिकरण सिद्धान्त के आधार से प्रत्येक आत्मा में अखिल संसारवर्ती सम्पूर्ण आत्माओं के ज्ञानों के होने योग्य ही शक्ति माननी पड़ेगी न कि उतने ही ज्ञान होने की। इसही का नाम आत्मा का 'सर्वज्ञ स्वभाव' है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि हमारा कथन प्रत्येक आत्मा को सर्वज्ञस्वभाव प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है।

शङ्का—यह ठीक है कि जिसको डा० रमन जानते हैं उसको डा० गणेशदत्त भी जान सकते हैं। हमारे इस कथन का सीधा तात्पर्य इतना ही है कि जिस शक्ति से डा० रमन विज्ञान सम्बन्धी बातों को जानते हैं। यदि वह अपनी इस शक्ति को गणित की तरफ लगाते तो वही डा० गणेशदत्त के समान गणितज्ञ विद्वान् भी बन सकते थे। इससे यही तो सिद्ध होता है कि अमुक आदमी अमुक आदमी के ज्ञेय को भी जान सकता है, किन्तु इससे यह

तो कदापि सिद्ध नहीं होता कि वह अपने ज्ञेयों को भी जानता रहे और दूसरे के भी ज्ञेयों को जान ले। जब तक कि ऐसा सिद्ध नहीं होता तब तक समानता के आधार से एक ही आत्मा को सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति वाला प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

समाधान—आक्षेपक का कथन सत्य हो सकता था। यदि एक ही ज्ञान से दो प्रकार के ज्ञेयों को भी जाना जा सकता। ऐसी ही दशा में डा० रमन के लिये यह सम्भव हो सकता था कि ज्ञान की जिस शक्ति से वह वैज्ञानिक बने हैं उस ही से उतने ही बड़े गणितज्ञ भी बन जाते। दैनिक अनुभव इसके प्रतिकूल है। यह इस बात का समर्थन नहीं करता कि किसी भी ज्ञान शक्ति से किसी भी प्रकार की योग्यता प्राप्त की जा सकती है। ज्ञान की जिस शक्ति से हम दार्शनिक बन सकते हैं उस ही से साहित्यिक या उपन्यास लेखक नहीं बन सकते। यूरोप के कई महाविद्यालयों में किसी भी छात्र को किसी भी विषय के अध्ययन से पूर्व उसके मानसिक झुकाव को देखा जाता है। ये सब बातें ज्ञान की शक्ति की विभिन्नता की अटूट दलीलें हैं।

यदि विषय भेद के साथ ज्ञान भेद को स्वीकार न किया जायगा तो अमुक ज्ञान का अमुक ही विषय है यह बात भी सिद्ध न हो सकेगी। इन्द्रियों से ज्ञान करते समय इन्द्रियाँ तो केवल अनुकम्पनों के द्वारा चेतना शक्ति को जगा देती है तथा फिर यह पदार्थ को जानती है। जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार इस ही को दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग कह सकते हैं। यदि इस

जागृत चेतना शक्ति का विषय विशेष के साथ सम्बन्ध न होता तो यही क्यों होता कि अमुक ज्ञान से अमुक पदार्थ का ही बोध होता। ज्ञान विशेष का विषय विशेष के साथ सम्बन्ध न मानने पर उसके लिये तो सब ही विषय समान हैं। अतः यह कैसे हो सकता है कि वह किसी खास विषय को ही जाने। दृष्टान्त के रूप में घट को ले लेजियेगा। हम इसकी तरफ तथा केवल इस ही की तरफ देख रहे हैं। इस समय हमको इसका तथा केवल इस ही का बोध होता है। इसके निमित्त से द्रव्येन्द्रिय पर पड़ने वाले उल्टे प्रतिविम्ब के सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि द्रव्येन्द्रिय के सामने यह तथा केवल यही था। अतः द्रव्येन्द्रिय पर इस ही का प्रतिविम्ब पड़ा है। आगे तो प्रतिविम्ब का काम नहीं है। आगे तो केवल अनुकम्पन नहीं जाता है तथा वही भावेन्द्रिय को लब्धि से उपयोग की दशा में लाता है। यही उपयोग इस घट को जानता है। द्रव्येन्द्रिय के सामने घड़ा था। अतः उसका उस पर प्रतिविम्ब पड़ गया, किन्तु उपयोग के सम्बन्ध में तो यह बात नहीं है। वह तो घट के समान अन्य पदार्थों के भी लिये समान है, अतः वह घट को ही जानता है, इसमें क्या कारण है ? इसके लिये तो विषय भेद की तरह ज्ञान में भी स्वभाव भेद मानना होगा। जैनाचार्यों ने भी इस विषय पर काफी विचार किया है और वे भी इस ही परिणाम पर पहुँचे हैं। इन्होंने ज्ञानावरण के उतने ही भेद माने हैं जितने कि ज्ञेय हैं तथा उस-उस ज्ञानावरण का अभाव ही उस-उस पदार्थ के प्रतिकारण रूप से

स्वीकार किया है*। यदि ज्ञान में भेद न होता तो आवरण भेद भी किस प्रकार ठीक बैठ सकता था, अतः कहना पड़ता है कि इससे आचार्यों को भी ज्ञेय की संख्या के साथ ज्ञान में भी इतना ही शक्ति-भेद इष्ट था।

आक्षेपक ने ज्ञान का असंख्य पदार्थों के जानने का स्वभाव माना है। इसके लिये भी तो उनको विषय भेद के समान ज्ञान भेद स्वीकार करना होगा। यदि आक्षेपक विषय भेद के समान ज्ञान भेद न मानेंगे तो अपनी मान्यता का समर्थन भी न कर सकेंगे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सब ही ज्ञान एक-रूप नहीं है। किन्तु विषय की विभिन्नता की तरह इनमें भी विभिन्नता है।

ऐसी दशा में डा० रमन का डा० गणेशदत्त के जाने हुए विषयों के जानने की शक्ति रखने का तात्पर्य ही डा० रमन में ज्ञान की उस प्रकार की दोनों शक्तियों का अस्तित्व है। यही बात संसार के सम्पूर्ण जीवों के सम्बन्ध में घटित कर लेनी चाहिये। अतः समानता के आधार से भी यही सिद्ध होता है कि जगत की प्रत्येक आत्मा का जगत के सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव है। यही जीवों का सर्वज्ञ स्वभाव का धारी होना है।

---

* प्रति नियत स्वावरण क्षयोपशमश्च ज्ञानस्य प्रति नियतार्थोपलब्धे रेव प्रसिद्धः। न चान्योन्याश्रयः अस्याः प्रतीति सिद्धत्वात् तल्लक्षण योग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रति नियतार्थं व्यवस्थायामङ्गं। —प्रमेयकमल ६५—६५

ज्ञान का स्वभाव असंख्यात पदार्थों के जानने का है। इसके समर्थन में आक्षेपक ने निम्नलिखित वक्तव्य उपस्थित किया है:—

"पूर्णज्ञान ज्यादा से ज्यादा कितनी वस्तुओं को जानता है इसमें हम इतना तो कह सकते हैं कि वह अनन्त को नहीं जानता, परन्तु कितने को जानता है यह नहीं कह सकते। इस प्रकार नास्ति अवक्तव्य भंग से हमने इतना निर्णय किया है। जब सातों ही भङ्ग निर्णयात्मक हैं तब हमारा नास्ति अवक्तव्य भङ्ग से पूर्ण ज्ञान का रूप बताना भी निर्णयात्मक है......ये बातें मैंने इस लिये कही हैं कि जिससे लोगों के हृदय में हथेली पर आम जमाने सरीखी अनुचित मागें पैदा न हों और वे कल्पित समाधानों से न ठगे जावें। परन्तु यहां इतनी उदारता के बिना भी काम चल सकता है—क्योंकि हम यहां दोनों तरह के उत्तर दे सकते हैं अर्थात् पूर्ण ज्ञान के विषय अनन्त और सब पदार्थ नहीं हैं किन्तु असंख्य पदार्थ हैं। पूर्ण ज्ञान असंख्य पदार्थों को जानता है।"

यदि थोड़ी देर के लिये अभ्युपगम सिद्धान्त से आक्षेपक के इस कथन को मान भी लिया जाय तब भी उनका इस प्रकार के भाव को नास्ति अवक्तव्य भङ्ग से प्रकट करना या तो उनका इस भङ्ग के स्वरूप तक नहीं पहुँचना है या जानकर भी जनता को भ्रम में डालना।

किसी भी विषय के सम्बन्ध में ज्ञान के अभाव से उसके स्वरूप को न कह सकना अवक्तव्य नहीं, किन्तु ज्ञात दो धर्मों को

एक साथ न कह सकना अवक्तव्य* है। इस ही को यों भी कह सकते हैं कि अवक्तव्य का वाच्य अज्ञान नहीं, किन्तु पदार्थ का न कहने योग्य एक स्वतन्त्र धर्म है। आक्षेपक को यदि उनके विचारानुसार पूर्ण ज्ञान का विषय मालूम नहीं है या वे मालूम नहीं कर सके हैं तो न सही, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह उसको इस ही लिये अवक्तव्य भङ्ग से कथन करने लग जायँ या कर सकें। जब आक्षेपक का पूर्ण ज्ञान के विषय को नास्ति अवक्तव्य भङ्ग से कथन करना ही अनुचित है फिर उसको इस ही आधार से निर्णयात्मक किस प्रकार माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त भी पूर्ण ज्ञान के विषय को निर्णयात्मक प्रतिपादन करने में आक्षेपक के पास दो ही साधन हो सकते हैं— एक अभाव स्वरूप और दूसरा भावस्वरूप। अभावस्वरूप से यह मतलब है कि यदि ज्ञान अनन्त को नहीं जानता तो वह असंख्यात को जानता है, किन्तु यह बात समुचित नहीं। प्रथम तो अनन्त को न जानना ही असिद्ध है। दूसरे यदि अभ्युपगम सिद्धान्त से इसको मान भी लिया जाय तब भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान असंख्य पदार्थों को जानता है। उन दोनों पदार्थों में से जो परस्पर विरोधी हैं और दोनों में से किसी न किसी का सद्भाव

---

* सहावाच्यमशक्तितः—आचार्य समन्तभद्रः। इस ही पर भाष्य करते हुए आचार्य विद्यानन्दि ने अष्ट सहस्री में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं—स्वपररूपादि चतुष्टयापेक्षया सह वक्तुम शक्तेरवाच्यं, तथाविधस्य पदस्य व वाक्यस्य वा कस्यचिदभिधायकस्यासम्भवात्। —अष्टसहस्री छपी पे० १३५

रहता है एक के अभाव से दूसरे का सद्भाव सिद्ध किया जा सकता है जैसे पुद्गल में स्निग्ध और रूक्ष।

इसही प्रकार अनन्त के अभाव और असंख्यात का ऐसा सम्बन्ध होता या अनन्त और असंख्यात की व्याप्ति होती तब तो पहिले से दूसरे को प्रमाणित किया जा सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं। संख्यात ही एक ऐसी संख्या है जहाँ अनन्त का अभाव है और फिर भी उसको असंख्यात नहीं माना गया। इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक अभावरूप साधन से पूर्णज्ञान के विषय को निर्णयात्मक प्रतिपादन नहीं कर सकते।

भावस्वरूप साधन के सम्बन्ध में प्रथम तो यही विचारणीय है कि वह कौनसा साधन जो पूर्णज्ञान को असंख्य पदार्थों का जानने वाला बतलाता है।

पूर्णज्ञान असंख्यात पदार्थों को ही जानता है। यहाँ एक यह भी बात विचारणीय है कि वह उनको एक साथ जानता है या क्रम से। यदि एक साथ तो क्या वह सदैव उनही ज्ञेयों को जानता रहेगा जिनसे असंख्यात की संख्या बनी रहे। किन्तु यह बात असंभव है, क्योंकि वे पदार्थ भी सदैव उसही अवस्था में नहीं रहते। उनमें भी प्रति समय परिणमन हुआ ही करता है। इस प्रकार सहपक्ष में यह बात ठीक नहीं बैठती। यदि पूर्णज्ञान असंख्यात पदार्थों को क्रमशः जानता है तब भी यह तो अवश्य स्वीकार करना होगा कि एक समय में वह कम-से-कम एक तो अवश्य जानता है। इस प्रकार भी वह असंख्यात समय तक ही ज्ञाता रह सकता है। असंख्यात समय के बाद पदार्थों को जानना तो

स्वयं अपने स्वरूप का खण्डन करना है। ज्ञान अनादि अनन्त और स्वपर प्रकाशक है, यह बात उभयपक्ष सम्मत है। अतः क्रमशः पक्ष में भी पूर्णज्ञान के असंख्यात ही ज्ञेय सिद्ध नहीं होते।

इसही बात को इस दृष्टि से भी विचार कोटि में लाया जा सकता है कि यह असंख्यात सूक्ष्मता की तरतमता की दृष्टि से हैं या केवल संख्या की दृष्टि से।

सूक्ष्मता की तरतमता से यह मतलब है कि सूक्ष्मता के अविभागी प्रतिच्छेदों की असंख्यात संख्या तक जो २ पदार्थ आ जाते हैं उन २ को पूर्णज्ञानी जान लेता है, किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पूर्णज्ञान के विषय अनन्त पदार्थ ही ठहरते हैं। यह हो सकता है कि वे सूक्ष्मता की तरमता की दृष्टि से असंख्यात ला‍ऩों में विभाजित किये जा सकें, किन्तु इससे उनके अनन्तत्व में तो कोई बाधा नहीं आती।

आक्षेप—"नास्ति अवक्तव्य भंग का स्वरूप एक विद्यार्थी भी समझता है और बीसों बार मैंने भी समझाया है। न यह अप्रसिद्ध है और न कठिन। मैंने अपने न्याय प्रदीप में सप्त भंगी पर एक अध्याय ही लिखा है फिर भी आक्षेपक का इस विषय में मुझे नासमझ बतलाना साहस ही है। मैंने यहाँ धोखा भी नहीं दिया है। जैन शास्त्रों में सप्त भंगी का जो स्वरूप मिलता है वह विकृत है वह मौलिक भी नहीं है उसका मौलिक और सत्यरूप बतलाने के लिये मैं लेखमाला में लिखने वाला हूँ उसही समय उसका निर्णय होगा।"

परिहार—आक्षेपक का अपने इसही कथन में एक जगह तो यह बतलाना कि विवादस्थ भंग का स्वरूप अति सरल है। आपने अनेक बार विद्यार्थियों को पढ़ाया है और अपनी न्याय प्रदीप नाम की पुस्तक में भी लिखा है। आप ही दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि "जैन शास्त्रों में सप्त भङ्गी का जो स्वरूप मिलता है वह विकृत है……"। आपके इन दोनों वाक्यों का क्या रहस्य है यह विद्वान् पाठक भली भांति जान सकेंगे। हमें तो केवल इतना ही लिखना है कि जिस भङ्ग की दृष्टि से आप वस्तु का विवेचन कर रहे थे उस समय उसका स्वरूप भी तो स्पष्ट कर देना था या नीचे नोट कर देना था कि मेरे इस कथन को प्रस्तुत भंग के प्रचलित स्वरूप के अनुसार न समझा जाय किन्तु मैं इसका स्वरूप अगाड़ी चल कर लिखने वाला हूँ उसके अनुसार समझा जाय। ऐसी परिस्थिति में ही आप आक्षेप से दूर हो सकते थे। दूसरी बात यह है कि आपने प्रस्तुत भङ्गका प्रचलित अर्थ ही विद्यर्थियों को पढ़ाया और अपनी पुस्तक में लिखा है या अपना मनोकल्पित। पहले पक्ष में क्या आत्मावंचना के साथ परवंचना नहीं है। जिसको कल्पित एवं अमौलिक समझना और उस ही को पुस्तक में लिखना और दूसरे विद्यार्थियों को पढ़ाना दूसरे पक्ष में यद्यपि वे विद्यार्थी या उनको आप का अध्यापन हमारे समाने नहीं है किन्तु फिर भी न्याय प्रदीप मौजूद है अतः इसके आधार से यह कहा जा सकता है कि आपका कहना मिथ्या है। आपने इस पुस्तक में विवादस्थ भंग का स्वरूप प्रचलित परि-

भाषा के अनुसार ही लिखा है †। अब रहजाती है इस भंग के स्वरूप की मौलिकता और अमौलिकता तथा इसकी साधारणता की बात। इन में से पहली बात के सम्बन्ध में तो यही कह देना पर्याप्त होगा कि अभी तो यह आपका केवल दावा है। जब आप इसके सम्बन्ध में प्रमाण उपस्थित करेंगे तब देखा जायगा। दूसरी बात के सम्बन्ध में बात यह है कि कभी २ साधारण २ बातों के समझने में भूल हो जाया करती है, हमारी और आपकी तो बात ही क्या है बड़े २ अधिकारी विद्वान् भी इस प्रकार की गलतियां कर जाया करते हैं अतः आपके सम्बन्ध में गलती करने की बात पर आपको अचम्भे की आवश्यकता नहीं है। दूर जाने की जरूरत नहीं, आपके इस ही न्याय-प्रदीप में इस प्रकार की त्रुटियों का अभाव नहीं है। दृष्टान्त के रूप में प्रकरण-समहेत्वाभास की बात को ही ले लीजियेगा * आपने इसका अनुमान बाधित में अन्तर्भाव किया है किन्तु आपका ऐसा

† वस्तु के अनेक धर्मों को हम एक साथ नहीं कह सकते। इसलिये युगपत स्वपर चतुष्टय का अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है······ लेकिन अन्य दृष्टियों से वक्तव्य भी है इसलिये जब हम अवक्तव्य के साथ किसी रूप में वस्तु की वक्तव्यता कहना चाहते हैं तब वक्तव्य रूप तीनों भंग [अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति] अवक्तव्य के साथ मिल जाते हैं इसलिये अस्ति अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य, अस्ति नास्ति अवक्तव्य इन तीनों भंगों का प्रयोग होता है। —न्याय प्रदीप १३२-३।

* न्याय प्रदीप ७८।

लिखना नितान्त मिथ्या है। प्रकरणसम को तो हेत्वाभास कहना ही बज्रभूल है। किसी भी दर्शन की पुस्तक में किसी को हेत्वाभास लिख दिया गया है इस ही लिये उसको हेत्वाभास स्वीकार नहीं किया जा सकता आखिर यह भी तो देखना चाहिये कि इसमें हेत्वाभास का लक्षण भी घटित होता है या नहीं।

प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष में जहां समबल का होना अनिवार्य है वहीं अनुमान बाधित में इसका अभाव। इन दोनों में तो परस्पर में दिन और रात्रि जैसा अन्तर है। प्रकरणसम तो वह समीचीन हेतु है जो वस्तु के वास्तविक रूप को सिद्ध करता है इस ही से तो वस्तु अनेकान्तात्मक सिद्ध होती है। न्यायप्रदीप अन्य भी ऐसी त्रुटियों से खाली नहीं है। प्रकरणवश उन में से एक का यहां उल्लेख कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि आक्षेपक का समाधान बिलकुल निराधार है और हमारा यह कहना कि उन्होंने विवादस्थ भंग के समझने में भूल की है या जानकर उल्टा लिखा है बिल्कुल ठीक है।

विरोध—पूर्ण ज्ञान का असंख्य विषय मानने में भावस्वरूप हेतु है। वह यह कि एक समय में एक आत्मा एक ही पदार्थ को जान सकता है और जीवन में असंख्यात ही समय होते हैं। इसलिये अधिक से अधिक वह असंख्यात पदार्थ ही जान सकेगा। अगर इस जीवन के संस्कार अगले जन्म में भी माने जावें तो भी असंख्यात संस्कार ही होंगे। क्योंकि अनन्त जन्म के संस्कारों का

एक साथ रहना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक संस्कार की आदि होती है इसलिये वह किसी भी निश्चित समय में अनन्त कालिक नहीं कहा जा सकता।

परिहार—जहाँ तक एक जीवन के असंख्यात समय मानने की बात है वहां तक यह हमको भी स्वीकार है। इन असंख्यात समयों में से एक आत्मा असंख्यात पदार्थों को जानता है अतः वह यदि असंख्यात पदार्थों के जानने के स्वभाव वाला है तो अनन्त समयों में अनन्त पदार्थों के जानने से वह अनन्त पदार्थों के जानने के स्वभाव वाला क्यों नहीं? ऐसी कोई भी बात उपस्थित नहीं की जा सकती जिससे असंख्यात समयों में असंख्यात पदार्थों के जानने पर भी उसको प्रति समय असंख्यात पदार्थों के जानने के स्वभाव वाला तो मान लिया जाय और अनन्त समयों में अनन्त पदार्थों के जानने पर भी उसको प्रति समय अनन्त पदार्थों के जानने के स्वभाव वाला न माना जा सके। जिस युक्ति के आधार से आक्षेपक एक आत्मा को असंख्यात पदार्थों के जानने का स्वभाव वाला प्रमाणित कर रहे हैं, वही युक्ति आत्मा को अनन्त पदार्थों के जानने के स्वभाव वाला प्रमाणित करती है, जैसा कि हमारे ऊपर के वक्तव्य से स्पष्ट है।

यहां यदि यह कहा जायगा कि हम असंख्यात समयों में असंख्यात पदार्थों के जानने से असंख्यात पदार्थों के जानने के स्वभाव वाला आत्मा को नहीं मानते किन्तु उन सबके संस्कारों के आधार से। तब भी इतना तो प्रमाणित करना ही होगा कि आत्मा अपने सम्पूर्ण जीवन में जिन-जिन को जानता है उन-उन

के संस्कारों से वह संस्कारित भी हो जाता है। पहिली बात तो यह है कि ऐसा कोई आत्मा नही है जिस पर इसका परीक्षण किया गया हो। दूसरे न सम्पूर्ण ज्ञानों का संस्कार ही आत्मा पर हुआ करता है। अवग्रह और ईहा ज्ञान का तो संस्कार हुआ नहीं करता, अवाय में से किसी २ का हुआ करता है। जीवन में अधिकतर अवग्रह और ईहा ज्ञान ही हुआ करते हैं अतः इस दृष्टि से भी जीवन में असंख्यात संस्कारों की बात ठीक नहीं बैठती।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि आक्षेपक की संस्कार वाली युक्ति भी ठीक नहीं है।

विरोध—असंख्यात समय के बाद जीव किसी को न जान सकेगा यह शंका असंख्यात पर बिलकुल विचार न करने का फल है। असंख्यात तो खैर बड़ा परिमाण है परन्तु आत्मा में सिर्फ १०० पदार्थों को जानने की शक्ति होती तो भी वह अनन्त काल तक ज्ञानी बना रहता और सौ की संख्या का अतिक्रमण भी नहीं होता, क्योंकि आत्मा नये २ पदार्थों को जानता जाता है और पुरानों को भूलता जाता है। अधिक से अधिक संस्कार रूप में वह असंख्यात का संग्रह कर सकता है.................सूक्ष्मता की दृष्टि से जो असंख्यात में भी अनन्त का समावेश किया गया है वह भी भ्रम है। समान अविभाग प्रतिच्छेद वाले बहुत से पदार्थों में से अगर हम एक को जान लें तो इससे सबका ज्ञान नहीं हो सकता। एक आदमी के देख लेने से सब आदमी नहीं दिखजाते, हां मनुष्यत्व नामक धर्म का ज्ञान हो सकता है। मनुष्यत्व के प्रत्यक्ष से सब मनुष्यों का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता।

परिहार—आक्षेपक के इस वक्तव्यको दो अंशों में विभाजित किया जा सकता है—एक अंश में मध्य की बिन्दुओं से पहिली पंक्तियाँ आती हैं और दूसरे अंश में बिन्दुओं के बाद की पंक्तियों का समावेश होता है।

पहिले अंश की असंख्यात संस्कारों की बात का समाधान तो हम अपने परिहार नं० ६ में कर चुके हैं, अब रह जाती है आत्मा को १०० पदार्थों के जानने का स्वभाव भी मान कर कभी भी ज्ञान की असमाप्ति की बात। इसके समाधान के हेतु आक्षेपक के इस ही वक्तव्य के दूसरे अंश को उपस्थित किया जासकता है। आपने इसमें लिखा है "एक आदमी के देख लेने से सब आदमी नहीं दिखजाते" इसका भावार्थ इतना ही है कि शेष आदमी उस आदमी से भिन्न हैं अतः उसका ज्ञान होने पर भी शेष आदमियों का ज्ञान नहीं होता। एक जाति के अनेक पदार्थ यदि परस्पर में भिन्नता रखते हैं और उन सबके जानने के लिये यदि भिन्न २ ज्ञानों की आवश्यकता है तब यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि अनेक जाति के अनेक पदार्थों के परिज्ञान के लिए उतने ही प्रकार के ज्ञान या ज्ञान में उतनी ही प्रकार शक्ति विशेष स्वीकार न की जावे।

हम अपने इस ही लेख में इस बात को प्रमाणित कर चुके हैं कि एक ज्ञेय दूसरे ज्ञेय से भिन्न है अतः उन सब के जानने के लिये ज्ञान में उतनी ही प्रकार की शक्तियाँ स्वीकार करनी पड़ेंगी। जिन सौ पदार्थों को आत्मा अभी जानता है दूसरे समय के सौ पदार्थ इनसे भिन्न हैं फिर यह कैसे हो सकता है कि ज्ञान में एक

ही सौ शक्तियाँ स्वीकार कर ली जावें। इससे प्रगट है कि भिन्न २ ज्ञेय के जानने के लिये ज्ञान में भिन्न २ शक्ति का स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः यदि ज्ञान में असंख्यात पदार्थों के जानने का ही स्वभाव माना जायगा तो फिर उसको इतने समयों के बाद फिर ज्ञान रहित ही मानना पड़ेगा। ज्ञान का आत्मा में कभी भी अभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता अतः प्रगट है कि आक्षेपक का उसमें असंख्यात पदार्थों के जानने का स्वभाव बतलाना मिथ्या है।

जिस प्रकार कि आक्षेपक के प्रस्तुत वक्तव्य के प्रथम अंश का प्रतिवाद उनही के इसही वक्तव्य के दूसरे अंश से होता है उसही प्रकार दूसरे अंश का प्रतिवाद भी पहिले अंश से होता है। ज्ञान में सौ पदार्थों को जानने की शक्ति को स्वीकार करके तो समस्त पदार्थों का ज्ञान होता रहेगा और कभी भी ज्ञान के अभाव का प्रश्न उपस्थित नहीं किया जा सकेगा किन्तु सूक्ष्मता की दृष्टि से असंख्यात प्रकार के पदार्थों में अनन्त का समन्वय नहीं हो सकेगा यह बात आक्षेपक के ही मास्तिष्क की उपज हो सकती है।

साधारण समझ वाला व्यक्ति भी इसको समझ सकता है कि ज्ञान में यदि सौ पदार्थों के जानने की शक्ति मान कर भी वह अनन्त काल तक अनन्त पदार्थों को जानता रहेगा तो शक्ति की दृष्टि से असंख्यात प्रकार के पदार्थों के जानने के स्वभाव में अनन्त पदार्थों की बात किस प्रकार युक्ति रहित है। हमारी यह युक्ति अभ्युपगम सिद्धान्त के आधार से है अतः विद्वान् पाठक यह न समझें कि हम भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं। हम तो ज्ञान

में अनन्त शक्ति स्वीकार करते हैं अतः आक्षेपक के वक्तव्य का दूसरा अंश भी मिथ्या है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा का असंख्यात पदार्थों के जानने का स्वभाव मानना ठीक नहीं।

यह हम पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि अनन्त एवं अविद्यमान पदार्थों का परिज्ञान सर्वज्ञ के वर्तमान स्वरूप में बाधक नहीं तथा आत्मा का स्वभाव सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का है अतः स्पष्ट है कि ज्ञान का स्वभाव सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का है न कि असंख्यात पदार्थों के जानने का।

दूसरे विचारणीय विषय के सम्बन्ध में आक्षेपक ने दर्पण का दृष्टान्त दिया है। आपका कहना है कि अनेक शुद्ध दर्पण हैं। ये शुद्धि को दृष्टि से तो समान हैं, किन्तु आकार इनके भिन्न हैं। इस ही प्रकार जहाँ तक ज्ञान का शुद्धि से सम्बन्ध है वहां तक तो वे सब समान हैं, किन्तु जब यही बात बाह्य पदार्थों के परिज्ञान की दृष्टि से कही जाती है तब ही इनमें असमानता आजाती है।

यदि थोड़ी देर के लिये अभ्युपगम सिद्धान्त से आक्षेपक के इस दृष्टान्त को सत्य भी स्वीकार कर लिया जाय तब भी इसके आधार से ज्ञानों में बाह्य पदार्थ परिज्ञान की व्यक्ति में विभिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि दृष्टान्त पदार्थ सिद्धि में बिलकुल अनुपयोगी है। इसका सहारा तो केवल भोले मनुष्यों के समझाने तक ही है।

दूसरी बात यह है कि दर्पण के आकारों में अन्तर हो सकता है, क्योंकि ये स्कंधरूप हैं तथा अवयवों की न्यूनाधिकता से स्कंधों

में अन्तर हो जाया करता है, किन्तु यह बात ज्ञानों में नहीं। ज्ञानों में ऐसी कोई चीज नहीं जिनके समुदायात्मक ये हों, जिससे कि उनकी न्यूनाधिकता से इनमें भी न्यूनाधिकता मानी जा सके।

तीसरी बात यह है कि दर्पण में दूसरे पदार्थ प्रतिविम्बित हो सकते हैं किन्तु इसके लिये कुछ सहायक अनिवार्य हैं। अतः जब जब एवं जिन जिन के सम्बन्ध में वे समुपलब्ध रहते हैं तब तब वे २ पदार्थ दर्पण में प्रतिविम्बित होते रहते हैं, किन्तु ज्ञान में यह बात नहीं। जिस शुद्ध ज्ञान में दर्पण की समानता से अन्तर डालने के लिये इसको दृष्टान्त में रक्खा गया है उसको वाह्य किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं।

चौथी बात यह है कि सहायक सामिग्री की अनुकूलता से जो पदार्थ दर्पण में झलक रहे हैं उन्हीं को प्रतिविम्बित करना दर्पण का स्वभाव नहीं। यदि ऐसा होता तो इनसे दूसरे पदार्थ दर्पण में प्रतिविम्बित ही न होते, किन्तु ऐसा है नहीं। वहाँ तो चाहे ये पदार्थ हों या इनसे अन्य, जिनके अनुकूल सहायक सामिग्री है वे ही प्रतिविम्बित हो जाते हैं। अतः दर्पण के प्रतिविम्बित करने के स्वभाव को भी किन्हीं विशेष पदार्थों तक ही मर्यादित नहीं रक्खा जा सकता। दर्पण का तो उन्हीं पदार्थों को प्रतिविम्बित करने का स्वभाव है जिनको कि वह ऐसा कर सकता है, चाहे यह एक साथ करे या क्रम से। ऐसी अवस्था में भिन्न २ दर्पणों में वाह्य पदार्थों के प्रतिविम्बित करने की शक्ति भेद का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता। क्योंकि जिनको अभी एक दर्पण प्रतिविम्बित करता है, उन्हीं को दूसरा दूसरे समय में। जिनको

दूसरे ने दूसरे समय में प्रतिविम्बित कर रक्खा है उनको यह पहले ही समय में कर देता है। इस प्रकार समय भेद से यह भी बात समुचित बैठ जाती है और दर्पण में वाह्य पदार्थ के प्रतिविम्बित करने की शक्ति-भेद का अवसर नहीं आने देती।

शुद्ध ज्ञान में सहायकों की आवश्यकता न होने से वहां शक्ति के अनुकूल कार्य न होने की बात ही उपस्थित नहीं होती।

इससे स्पष्ट है कि दर्पणों में वाह्य पदार्थों के प्रतिविम्बित करने की शक्ति में विभिन्नता नहीं और यदि व्यक्ति की दृष्टि से इसको मान भी लिया जाय तब भी उसके आधार से ज्ञानों में इस प्रकार की विभिन्नता नहीं आती।

साथ ही यह भी स्पष्ट है कि दर्पणों के आकार भेद के आधार से ज्ञानों में विषय भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः दर्पण का दृष्टान्त इस सम्बन्ध में कार्यकारी नहीं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान में अनन्त एवं समस्त पदार्थों के जानने का स्वभाव है तथा उसके सम्पूर्ण आवरण दूर हो गये हैं। अतः यह भी स्पष्ट है कि वह समस्त पदार्थों का ज्ञाता है। इस ही का नाम सर्वज्ञता है। अतः पांचवीं युक्ति युक्ति ही है उस को युक्त्याभास कहना भूल है।

विरोध—शुद्धता में हर तरह समानता होना आवश्यक नहीं है। इस बात के समर्थन में मैंने तीन दृष्टान्त दिये थे जिनसे शुद्धता और समानता के अविनाभाव का खण्डन होता था। पहिला दृष्टान्त सुवर्ण का था। सुवर्ण शुद्ध होने पर भी जुदे-जुदे आकार में रहता है। दूसरा मुक्तात्माओं के आकार का था। वे शुद्ध होने

पर भी जुदे २ आकार में रहते हैं। तीसरा दृष्टान्त दर्पण का था। इनमें से प्रत्येक दृष्टान्त सर्वज्ञसाधक व्याप्ति को व्यभिचरित करने के लिये पर्याप्त है। बल्कि दूसरा दृष्टान्त पौद्‌गलिक न होने से पुद्‌गल की विषमता का प्रश्न भी यहाँ उपस्थित नहीं होता था, परन्तु आक्षेपक ने इन दृष्टान्तों का उत्तर देने से साफ किनारा काट लिया।

परिहार—आक्षेपक ने प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में, जैसा ऊपर उन्होंने लिखा है, तीन दृष्टान्त उपस्थित किये थे। यह तीनों ही दृष्टान्त एक विषय से सम्बन्धित एवं एक जैसीही योग्यता के थे। अतः इनमें से एक पर ही विचार किया गया था और शेष दो को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया था। अब आक्षेपक की यदि ऐसी धारणा है कि आपके इन दो दृष्टान्तों से हमने किनाराकसी की है तो हम यह आवश्यक समझते हैं कि आपके दोनो दृष्टान्तों पर भी विचार कर लिया जाय। ये दोनों ही दृष्टान्त आपके ही शब्दों में निम्न प्रकार हैं।

"अगर किट्टकालिमा को अलग करके स्वर्ण के अनेक पिण्डों को सौटंचका स्वर्ण बनावें तो वे सभी शुद्ध स्वर्ण शुद्धता की दृष्टि से एक-से होंगे परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उन सबका आकार एक सरीखा हो। एक-दूसरा शास्त्रीय उदाहरण लीजिये। संसारी अवस्था में आत्मा का जो आकार है वह अशुद्ध आकार माना जाता है। इसीलिये उसे विभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। निश्चयनय की दृष्टि से सब आत्माओं का आकार एकसा है और वह त्रिलोक व्यापी माना जाता है। जब आत्मा कर्म-रहित हो

जाता है तब उसका शुद्ध आकार हो जाता है। इसीलिये मुक्तात्माओं के आकार को स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। मुक्तात्माओं का आकार यद्यपि शुद्ध है तो भी वह एक सरीखा नहीं होता।"

स्वर्ण का आकार अशुद्ध नहीं हुआ करता, किन्तु उसकी आभा अशुद्ध होती है। आभा और आकार में महान् अन्तर है। अतः सम्पूर्ण शुद्ध स्वर्ण आभा की दृष्टि से समान होने पर भी भिन्न-भिन्न आकार के हो सकते हैं। इससे प्रकट है कि जहाँ तक शुद्ध स्वर्णों की आभा का सम्बन्ध है वहाँ तक वे एक से हैं। स्वयं आक्षेपक भी अपने वक्तव्य में इस बात को स्वीकार कर चुके हैं। अतः यह दृष्टान्त तो शुद्धता के साथ एकता के अविनाभाव का ही समर्थक है।

जिस प्रकार दर्पण के आकार उनकी आभा से भिन्न हैं और वे आभा के एकसी होने पर भी भिन्न-भिन्न रूप में रह सकते हैं वैसे ही ज्ञान का ज्ञेय सम्बन्ध और उसकी शुद्धि नहीं। ज्ञान का स्वभाव ही जानना है तथा इस पर आवरण आने का तात्पर्य ही इसके इस स्वभाव का न प्रकट होना है, जितना-जितना ज्ञान पर आवरण रहता है उसका उतना-उतना ही स्वभाव अप्रकट रहता है। अतः ज्ञान की इन दोनों बातों में भेद स्वीकार करने की गुञ्जाइश नहीं। दर्पण के आकार और उसकी आभा के समान ही यदि ज्ञान की शुद्धि और उसके विषय सम्बन्ध में अन्तर होता तब तो अशुद्धि के समय के समान ही उसका विषय सम्बन्ध उसके शुद्ध अवस्था में भी होना चाहिये था। दर्पण की ज्यों-ज्यों शुद्धि बढ़ती है त्यों-त्यों उसकी आभा

में अन्तर होता है न कि उसके आकार में। उसका आकार तो वैसा ही रहता है। ज्ञान में शुद्धि के साथ उसका विषय सम्बन्ध भी बढ़ता है। अतः इसको शुद्धि से भिन्न स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे प्रकट है कि आक्षेपक के प्रस्तुत दृष्टान्त से ज्ञान के विषय सम्बन्ध में असमानता नहीं स्वींकार की जा सकती।

यही बात मुक्तात्माओं के आकार के सम्बन्ध में है। इसकी शुद्धि से भी इनके आकारों में भेद है। आत्मा अशुद्ध है या शुद्ध है इसका सम्बन्ध उसके आकार से नहीं अपितु उसके कुछ गुणों की वैभाविक और स्वभाविक अवस्था से है। अतः आकार भेद होने पर भी शुद्धि की दृष्टि से सभी मुक्तात्मायें समान हैं। संसारी अवस्था में आत्मा का आकार परनिमित्त रहता है। अतः उसको वैभाविक कह दिया गया है। इसही परनिमित्त के दूर हो जाने पर वैसे वही स्वभाविक कहलाने लगता है। अतः आकारों के साथ स्वभाव और विभाव शब्दों का प्रयोग केवल आपेक्षिक ही है।

यदि आकारों के साथ ही स्वभाव और विभाव का वास्तविक सम्बन्ध होता तब तो इनको भी अपनी शुद्धावस्था में त्रिलोक-व्यापी ही होना चाहिये था, किन्तु बात इसके प्रतिकूल है। अतः आक्षेपक का यह दृष्टान्त भी शुद्धज्ञानों के विषय सम्बन्ध की एकता का बाधक नहीं है।

यह तो हुई आपके शेष दोनों दृष्टान्तों की चर्चा अब हम आपके प्रस्तुत कथन पर आते हैं। आपके तीसरे स्वर्ण के दृष्टान्त के सम्बन्ध में हमने अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की थीं तथा आपने भी नम्बरवार ही उनकी समीक्षा की है। अतः यहाँ हम भी आपकी समीक्षा की क्रमशः एक-एक बात पर ही विचार करेंगे।

आपके इन तीनों दृष्टान्तों के सम्बन्ध में पहिली आपत्ति हमने साध्य सिद्धि में दृष्टान्त की अनुपयोगिता की उठाई थी। इसके सम्बन्ध में अब आक्षेपक का कहना है कि व्यभिचार स्थल के रूप में दृष्टान्तों को उपस्थित किया जा सकता है। दृष्टान्त और व्यभिचारस्थल में अन्तर है। अतः आप यदि इन तीनों बातों को व्यभिचारस्थल शब्द के साथ ही उपस्थित करते तब तो यह आपत्ति उपस्थित करने की आवश्यकता ही न पड़ती।

आपकी दूसरी, तीसरी और चौथी समीक्षायें निम्नलिखित हैं—

विरोध—"(ख) अवयवों की न्यूनाधिकता न होने पर भी आकार में विषमता होती है जैसे सिद्धों के आत्मप्रदेश में न्यूनाधिकता न होने पर आकार भेद होता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ प्रतिविम्ब की विषमता का विचार करना है……इस प्रकार शुद्धता वाले दर्पणों में प्रतिविम्ब नाना तरह के रह सकते हैं।

(ग) ज्ञान में बाह्य पदार्थों की आवश्यकता है। इस बात को मैं विस्तार से कह चुका हूं।

(घ) शक्ति की विषमता मैं भी नहीं कहता, परन्तु शक्ति की विषमता न होने पर भी व्यक्ति की विषमता हो सकती है जैसे सिद्धों की आकृति में।

परिहार—आक्षेपक के उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानों की जहां तक शक्ति का सम्बन्ध है वहां तक तो आप भी इनमें एकता मानते हैं। विवाद केवल व्यक्ति के सम्बन्ध में है। इसके सम्बन्ध में इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि दर्पणों में भिन्न २ प्रतिविम्ब पड़ सकते हैं, किन्तु ज्ञानों

में नहीं। दर्पणों को इस कार्य के लिये बाह्य पदार्थों की सहायता की आवश्यकता होती है न कि ज्ञानों को बाह्य पदार्थों की अपेक्षा होने से जैसी २ सहायता मिलती जावेगी वैसे ही दर्पणों में प्रतिबिम्ब पड़ते जायेंगे। एक किताब दर्पण के सामने आ जायगी तो उसमें किताब का प्रतिबिम्ब पड़ जायगा। इस ही प्रकार अन्य पदार्थों के शुद्ध ज्ञान को ज्ञेयों को जानने के लिये इन सब की सहायता की आवश्यकता नहीं है उसका तो स्वभाव ही ऐसा है जिससे वह इन पदार्थों को प्रकाशित कर देता है। शुद्ध ज्ञान की तो बात ही निराली है। आधुनिक मनोविज्ञानी तो इन्द्रियजन्य ज्ञान से भी इंद्रियादिक को केवल ज्ञानेन्द्रिय की जागृति तक ही कारण मानते हैं; न कि विषय सम्बन्ध से। जहां तक विषय के जानने की बात है वहां तक तो ये भी स्वतन्त्र हैं। संसारी जीवों का ज्ञान इन्द्रिय जन्य है या सेन्द्रिय है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन्द्रियाँ उसको जागृत करती हैं फिर वह स्वयं विषयोन्मुख होकर पदार्थों को जानता है। जो आवरण रहित है, जिनकी आत्मा से ज्ञान के आवरण दूर हो चुके हैं, उनको अपनी ज्ञान चेतना को जागृत करने के लिये बाह्य अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं। उनकी ज्ञान शक्ति तो स्वयं जागृत रहती है। ज्ञान शक्ति के जागृत रहने पर तो विषयों को जानने की बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है। अतः प्रकट है कि शुद्ध ज्ञानों में इन्द्रिय सहायता की जरूरत नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि शुद्ध दर्पणों के एक सी शक्ति के धारक होने पर भी उनको अपने स्वभाव की व्यक्ति के लिये बाह्य

साधनों की आवश्यकता है। अतः उनमें असमानता हो सकती है न कि ज्ञानों में। क्योंकि उनको अपने कार्यों में बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यही बात मुक्तात्माओं के आकारों के सम्बन्ध में है। मुक्तात्मा हो या संसारी, वे सब ही निश्चयनयकी दृष्टि से असंख्यात प्रदेशी हैं तथा जहाँ तक उनके आकार का सम्बन्ध है वे सब ही पराश्रित हैं। जैसा २ उनको निमित्त मिलता है वैसे २ ही उनके आकार हो जाते हैं। अतः पर निमित्तिक होने से शुद्धात्माओं के आकारों में भी अन्तर है किन्तु ज्ञानों में इस बात का अभाव है। अतः इसके आकार से भी ज्ञानों में यह बात घटित नहीं की जा सकती।

मुक्तात्माओं में आकार भेद होने पर उनमें शुद्धता और एकता मौजूद है। इसका वर्णन हम पूर्व ही कर चुके हैं। अतः आक्षेपक का मुक्तात्माओं वाला व्यभिचारस्थल भी कार्यकारी नहीं है।

इन सब बातों के अतिरिक्त दर्पण और मुक्तात्माओं में ज्ञान जैसा स्वभाव भी नहीं है। दर्पण में प्रतिविम्ब होने का स्वभाव है, किन्तु ज्ञान में प्रकाशित करने का स्वभाव है। प्रतिविम्ब होने के लिये परापेक्षा एक अनिवार्य जैसी बात है जबकि प्रकाशित करने में पूर्ण स्वतन्त्रता है। यही बात मुक्तात्माओं के आकारों के सम्बन्ध में है। अतः इस दृष्टि से भी ये आक्षेपक के प्रतिकूल ही प्रमाणित करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि ज्ञानों में व्यक्ति भी शक्ति के ही अनुसार समान ही माननी पड़ेगी। अब यदि सम्पूर्ण ज्ञानों में अनन्त पदार्थों के जानने का स्वभाव माना जायगा तब तो यह

समानता घटित हो सकेगी अन्यथा नहीं। अतः कहना पड़ता है कि आक्षेपक का वक्तव्य जिसको उन्होंने अपनी लेखमाला में पूर्व-पक्ष के रूप में लिखा है युक्तिपूर्ण है। पाठक उसको यहां भी पढ़ सकें अतः यहाँ हम उसको ज्यों का त्यों उद्‌धृत किये देते हैं।

"पूर्ण ज्ञान की सीमा आप अनन्त रक्खो या असंख्य, परन्तु यह तो आप मानोंगे ही कि पूर्ण ज्ञान तो शुद्ध ज्ञान ही हो सकता है और शुद्धता दो तरह की हो नहीं सकती इस लिये सब का पूर्ण ज्ञान एक तरह का होगा सबको जानने से तो समता बन सकती है परन्तु असंख्य को जानने से यह समता नहीं बन सकती, क्योंकि अनन्त पदार्थों में से कौन से असंख्य पदार्थ शुद्ध ज्ञान के विषय बनाये जांयगे। जो असंख्य पदार्थ शुद्ध ज्ञान के विषय होंगे उनके सिवाय जो जगत में अनन्त पदार्थ बाकी रहेंगे उन्हें कौन जानेगा ? अथवा कि वे सदा अज्ञात ही रहेंगे यदि उन्हें कोई जानेगा तो वह पूर्ण ज्ञानी से भी बड़ा ज्ञानी कहलायेगा।"

पाठक समझ गये होंगे कि समानता सम्पूर्ण पदार्थों के जानने के स्वभाव की व्यक्ति से ही ठीक घटित होती है। अतः स्पष्ट है कि यह युक्ति भी ज्ञान में सम्पूर्ण पदार्थों के जानने को ही प्रमाणित करती है इस ही का नाम सर्वज्ञता है।

युक्तियों में युक्त्याभास की कल्पना

सर्वज्ञ सिद्धि की युक्तियों पर आलोचना प्रारम्भ करने से पूर्व आक्षेपक ने निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—

"प्राचीन लेखकों ने इस कल्पित सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिये

बहुत कोशिश की है, परन्तु आत्मवञ्चना के सिवाय उसमें और कुछ नहीं है। प्राचीन आस्तिक दर्शनों में मीमांसक दर्शन सर्वज्ञत्व का कट्टर विरोधी है। प्राचीन लेखक इस विषय में इस ही दर्शन के विरुद्ध खड़े हुए हैं। मीमांसक दर्शन की कमजोरियों से लाभ उठा कर उनने सर्वज्ञसिद्धि की है परन्तु मीमांसक दर्शन के खंडन से सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं होती।"

आक्षेपक अपने को परीक्षा प्रधानी मानते हैं, अतः उनको अधिकार है कि वे किसी भी प्राचीन या नवीन लेखक की किसी भी बात की परीक्षा करें। जहाँ उनको इस बात का अधिकार है, वहीं उनका यह भी कर्तव्य है कि वे उनके लेखकों के प्रति समुचित शब्दों का प्रयोग करें। आक्षेपक की लेख माला में इस बात की कमी है। इसके समर्थन में उनके सर्वज्ञसिद्धि के प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध के ही शब्दों को उपस्थित किया जा सकता है। इस 'सम्बन्ध में आपने लिखा है कि "प्राचीन लेखकों ने इस कल्पित सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिये बहुत कोशिश की है, परन्तु **आत्मवञ्चना** के सिवाय उसमें और कुछ नहीं है।"

इन ही प्राचीन लेखकों में स्वामी समन्तभद्र और भट्टाकलंकदेव भी हैं। इन दोनों महापुरुषों की अन्य किसी भी बात के सम्बन्ध में मतभेद हो या हो सकता हो, किन्तु यह तो एक सर्वमान्य बात है कि इन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जो इनकी अन्तरात्मा के प्रतिकूल हो या ऐसी किसी बात का प्रचार नहीं किया जिसको ये स्वयं मिथ्या समझते हों। ऐसी अवस्था में

आक्षेपक का प्राचीन लेखकों के सर्वज्ञसिद्धि के कार्य को **आत्म-वञ्चना** बतलाना कहाँ तक युक्तिसंगत है, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

पदार्थों की सिद्धि दो प्रकार से हुआ करती है। एक प्रतिवादी के प्रमाणभूत आगम के सहारे से और दूसरी स्वतन्त्र युक्तियों से। जहाँ साध्य को या उसके सिद्ध करने वाले साधन को प्रतिवादी के प्रमाणभूत आगम के सहारे से सिद्ध किया जाता है वहाँ पहिले प्रकार की सिद्धि समझनी चाहिये! इस प्रकार की सिद्धि का परिणाम उस ही प्रतिवादी तक है या उस ही की दृष्टि से इसकी सिद्धि समझनी चाहिये।

जहाँ प्रतिवादी के आगम का सहारा नहीं लिया जाता और केवल युक्तिबल से सिद्धि की जाती है वह दूसरे प्रकार की सिद्धि है। यह सिद्धि भले ही किसी व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष की दृष्टि से की गई हो, किन्तु यह उससे मर्यादित नहीं है। इसका प्रभाव तो हर एक पर होता है या हर एक की दृष्टि से यह सिद्धि है।

जैनाचार्यों की सर्वज्ञसिद्धि दूसरे प्रकार की सिद्धि है। अतः इसका प्रभाव केवल मीमांसक तक ही मर्यादित नहीं है। मीमांसक भले ही मीमांसा शास्त्र का प्रमाण मानने वाला हो किन्तु जब वह जैनाचार्यों की सर्वज्ञ सिद्धि की युक्तियों पर विचार करता है उस समय उसको केवल तर्क का ही आश्रय है। यही बात दूसरे धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में है। अतः स्पष्ट है कि आजतक जिन्होंने भी जैनाचार्यों की सर्वज्ञ सिद्धि की युक्तियों पर विचार

किया है वह एक तार्किक—विचारक—की दृष्टि से, न कि साम्प्रदायिक की दृष्टि से।

जैन आचार्यों की सर्वज्ञसिद्धि जहाँ दूसरे किसी सम्प्रदाय के शास्त्रों के आधार से नहीं की गई वहीं यह दूसरे सम्प्रदाय का केवल खण्डन मात्र भी नहीं है। यह तो एक स्वतन्त्र विधिपक्ष का समर्थन है। यदि यह दूसरे सम्प्रदाय का केवल खण्डन मात्र होता तब तो उसकी निर्बलता का इस पर प्रभाव पड़ सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः इस सम्बन्ध में आक्षेपक का लिखना कि "मीमांसक दर्शन की कमजोरियों से लाभ उठाकर उनने सर्वज्ञसिद्धि की है परन्तु मीमांसक दर्शन के खण्डन से सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती" समुचित प्रतीत नहीं होता!

पहिली युक्ति

आचार्य समन्तभद्र ने देवागम में सर्वज्ञसिद्धि के लिये निम्नलिखित कारिका लिखी है:—

"सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः॥"

सूक्ष्म (स्वभाव व्यवहित परमाणु आदि) अन्तरित (काल व्यवहित राम रावण आदि) और दूरार्थ (देश व्यवहित सुमेरु आदि) किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं। अनुमेय होने से जैसे आग; इस प्रकार अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

व्याप्ति का निश्चय अन्वय और व्यतिरेक से होता है। साध्य की उपस्थिति में ही साधन का मिलना अन्वय है और साध्य की गैर मौजूदगी में साधन की गैर मौजूदगी व्यतिरेक है। धूम अग्नि

की मौजूदगी में ही होता है और उसकी गैर मौजूदगी में इसकी भी गैर मौजूदगी रहती है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि धूम और अग्नि की व्याप्ति है। जिसको हम अनुमान से जानते हैं, कालान्तर में उसी को प्रत्यक्ष से भी जान लेते हैं। वस्तु का दूसरा भाग, रसोई घर की आग और फल का रस आदि अनेकों बातें हैं जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था मिलती है। बहुत से ऐसे भी पदार्थ हैं जिनको हम अनुमान से जानते हैं तो दूसरे प्रत्यक्ष से। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुमान विषयता प्रत्यक्ष विषयता की मौजूदगी में ही मिलती है।

ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं जिसमें प्रत्यक्ष विषयता की गैर मौजूदगी में अनुमान विषयता मिलती हो। अतः यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यक्ष विषयता की गैर मौजूदगी में अनुमान विषयता भी नहीं रहती।

अनुमान विषयता को प्रत्यक्ष विषयता के ही साथ देखकर और उसकी अनुपस्थिति में उसकी गैर मौजूदगी से यह परिणाम निकलता है कि इन दोनों में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इस ही को दूसरे शब्दों में साहचर्य सम्बन्ध भी कह सकते हैं।

धूम और अग्नि की व्याप्ति निश्चित हो जाने पर पर्वतीय धूम पर्वत में अग्नि का निश्चायक हो जाता है। इस ही प्रकार अनुमान विषयता और प्रत्यक्ष विषयता की व्याप्ति निश्चित हो जाने से सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ पदार्थों की अनुमान विषयता उनमें प्रत्यक्ष विषयता का निश्चय कराती है! स्थूल पदार्थों की प्रत्यक्षविषयता तो स्पष्ट ही है और सूक्ष्म पदार्थों की प्रत्यक्ष विष-

यता अनुमान विषयता से सिद्ध हो जाती है। अतः जगत में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें प्रत्यक्ष विषयता न हो।

आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में निम्न लिखित बाधायें उपस्थित की हैं:—

(१) अनुमेयत्व और प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति ही असिद्ध है।

(२) इसमें व्यधिकरण दोष आता है।

(३) व्याप्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि जितना अनुमेय है वह सब किसी एक ही प्राणी का प्रत्यक्ष है।

(४) सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं तब उनको प्रत्यक्ष कर लेने पर भी प्रचलित भाषा के अनुसार सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है।

पहली बाधा के समर्थन में आक्षेपक ने चुम्बक पत्थर की आकर्षण शक्ति का दृष्टान्त दिया है, आपका कहना है कि चुम्बक की आकर्षण शक्ति अनुमेय तो है किन्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं। अतः इससे मौजूदा व्याप्ति में बाधा आती है।

आक्षेपक ने जहां चुम्बक की आकर्षण शक्ति से इस अनुमान में दोषोद्भावन का प्रयत्न किया है वहीं सर्वज्ञसिद्धि के इस अनुमान के रूप को भी बिलकुल बदल दिया है। आचार्य समन्तभद्र ने इस अनुमान में सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ को धर्मी का स्थान दिया था किन्तु आक्षेपक जगत के समस्त पदार्थों को धर्मी लिख रहे हैं। जैसा कि उनके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है:—

"जगत के सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं, क्योंकि अनुमान के विषय हैं। जो अनुमान का विषय है वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष का विषय है, जैसे अग्नि आदि। जिसके प्रत्यक्ष के विषय हैं वही सर्वज्ञ है।"

आक्षेपक ने ऐसा क्यों किया? इस प्रश्न का सीधा और सरल उत्तर यही है कि अनुमान में दोष पैदा करने के लिये।

यदि अनुमान को आचार्य समन्तभद्र के भाव में रक्खा जाय तब तो व्याप्तिग्रहण का स्थान सूक्ष्म, अन्तरित और देशव्यवहित पदार्थों के अतिरिक्त पदार्थ रहते हैं किन्तु यदि इस ही को आक्षेपक के शब्दों में रख दिया जाय तो ये पदार्थ भी व्याप्तिग्रहण का स्थान बन जाते हैं।

व्याप्तिग्रहण की पहली अवस्था में चुम्बक की आकर्षण-शक्ति से व्याप्ति में असिद्धता आने की रंचमात्र भी गुंजाइश नहीं, क्योंकि सूक्ष्म होने से चुम्बक की आकर्षण शक्ति व्याप्ति ग्रहण का स्थान ही नहीं। इसको ही यदि बदल देते हैं और दूसरी अवस्था पर ले आते हैं तो वही शक्ति व्याप्तिग्रहण का स्थान बन जाती है और उससे व्याप्ति में सन्देह उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

आक्षेपक आचार्य समन्तभद्र की युक्ति को युक्त्याभास बतला रहे हैं। अतः उनका कर्तव्य था कि वह उक्त आचार्य के कथन को उन ही के भाव में रखते और फिर उसकी समालोचना करते। आक्षेपक ने ऐसा नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने से उनकी मनोरथ सिद्धि नहीं हो सकती थी। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक की

बाधा से आचार्य समन्तभद्र की व्याप्ति बिलकुल असंबन्धित है।

प्रश्न—ऐसा होने पर भी अनुमेयत्व हेतु चुम्बक की आकर्षण-शक्ति से व्यभिचारी है, क्योंकि चुम्बक की आकर्षण शक्ति अनुमेय तो है किन्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं।

उत्तर—चुम्बक की आकर्षण शक्ति को हम प्रत्यक्ष से नहीं जानते, किन्तु इसका यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि उसमें प्रत्यक्ष विषयता का ही अभाव है।

यदि हमारी प्रत्यक्षता के साथ ही पदार्थ का अस्तित्व व्याप्त होता तब तो इस प्रकार का परिणाम निकाला जा सकता था! किन्तु ऐसा है नहीं। वायु का रूप होता है इसको हम प्रत्यक्ष से नहीं जानते, फिर भी इसका अभाव नहीं किया जा सकता। यदि आपका यह कहना है कि रूप और स्पर्श का साहचर्य सम्बन्ध है अतः एक के अस्तित्व से दूसरे के अस्तित्व का भी अनुमान हो जाता है। वायु में ठंडा; गर्म आदि स्पर्श स्पष्ट है, अतः इस ही के आधार से उसमें रूप का भी निश्चय हो जाता है। तो ठीक यही व्यवस्था अनुमान विषयता और प्रत्यक्ष विषयता के सम्बन्ध में है। चुम्बक की आकर्षण शक्ति में अनुमान विषयता है, अतः वह प्रत्यक्ष विषयता की भी अनुमायक हो जाती है। इस कारण स्पष्ट है कि चुम्बक की आकर्षण शक्ति से प्रकृतानुमान में व्यभिचार दोष नहीं आता।

दूसरी बात यह है कि इस अनुमान में सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों की प्रत्यक्ष विषयता पक्ष है। चुम्बक की आकर्षण शक्ति सूक्ष्म है अतः वह भी पक्ष में ही सम्मिलित है। विपक्ष में-

साध्य की निश्चित गैर मौजूदगी में—साधन के रहने को व्यभिचार कहते हैं। चुम्बक की आकर्षण शक्ति पक्षान्तभू्र्त होने से इससे भिन्न है, अतः इस दृष्टि से भी इससे अनुमेयत्व हेतु को व्यभिचारी नहीं कहा जा सकता।

यदि पक्षान्तभूर्त पदार्थों से ही व्यभिचारी की कल्पना की जायगी तो कोई भी अनुमान नहीं बन सकेगा। "पर्वत में अग्नि है धूम होने से, रसोई घर की तरह" इस प्रसिद्ध अनुमान को ही ले लीजियेगा। यहां भी धूम साधन को पर्वत से व्यभिचार दिया जा सकेगा, क्योंकि पर्वत में धूम की तरह अग्नि तो दीखती नहीं है। यही बात दूसरे २ अनुमानों के सम्बन्ध में है। इस ही बात का प्रतिपादन आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल * और आचार्य विद्यानन्दि ने आप्तपरीक्षादिक † में किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वज्ञसिद्धि के प्रकृतानुमान में आक्षेपक की पहिली बाधा बिलकुल निराधार है।

विरोध—बहुत से आचार्यों को मैं महान और पूज्य मानता हूं अपने को उनसे उपकृत भी मानता हूँ परन्तु उन्होंने जो गलतियाँ की हैं उनका मैं सुधार न करूं तो मेरा यह कपूतपन होगा ·········मेरे शब्द थे कि "प्राचीन लेखकों ने इस कल्पित सर्व-

---

* नहीं पक्षी कृतैरेव व्यभिचारोद्भावनं सर्वस्यानु मानस्य
—व्यभिचारित्व प्रसङ्गात्

† हेतोर्न व्यभिचारोऽत्र दूरार्थैः मन्दिरादिभिः सूक्ष्मैर्वा
—परमाण्वाद्यैस्तेषां पक्षीकृतत्वतः

ज्ञत्व की सिद्धि के लिये बहुत कोशिश की किन्तु आत्म-बञ्चना के सिवाय इसमें कुछ नहीं है।"

इसका मतलब यह हुआ कि वास्तव में वे सर्वज्ञ का मण्डन तो नहीं कर सके किन्तु उन ने झूठ मूठ ही आत्मा को सन्तुष्ट किया।.........यहां पर आत्म वंचना शब्द का यह अर्थ नहीं था कि "वे आचार्य सर्वज्ञ नहीं मानते थे और उनने सर्वज्ञ सिद्धि की है।" यह आत्मवञ्चना नहीं परवञ्चना है किन्तु इसका यह अर्थ था कि साम्प्रदायिकता आदि के कारण उनके हृदय पर सर्वज्ञता की छाप तो पड़ी थी किंतु उसकी ठीक २ सिद्धि न कर सकने पर भी उतने में सन्तोष किया था।

परिहार—आक्षेपक की ये पंक्तियाँ उनके उत्कट अभिमान की सूचक हैं। उनने यह समझ लिया है कि जो कुछ भी सत्य ज्ञान है वह उनके पास है और अतएव वह उस ही को निर्णायक मान कर संसार के सम्बन्ध में तुरन्त निर्णय प्रदान कर देते हैं प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में आत्मवञ्चना आदि शब्दों का प्रयोग भी आप के इस ही निर्णय का फल है।

आपके इस अभिमान की तुलना यदि चक्रवर्ती के अभिमान से की जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। अभिमान का पतन अवश्यंभावी है और यही बात चक्रवर्ती के अभिमान की हुई। आखिर उसको भी विजयार्ध्द पर जाकर अपने अभिमान का त्याग करना ही पड़ा था।

आक्षेपक का कर्तव्य था कि वह अभी विचारते और फिर भी उनको आचार्यों के वाक्य सुधारणा पूर्ण मिलते तो उनको सीधे

शब्दों में लिखते किंतु उनको तो पैगम्बर बनना है और ऐसा बिना दूसरे धर्म प्रचार को ठेस पहुँचाये नहीं हो सकता।

आक्षेपक को मालूम होना चाहिये कि आप अपने जिस ज्ञान को निर्णायक का स्थान देकर संसार के सम्बन्ध में निर्णय प्रदान कर रहे हैं उसकी सूक्ष्म २ बातों की क्या दशा होती है, यह तो अभी भविष्य के गर्भ में है किंतु अभी तो आपकी साधारण बातें ही यथार्थता से कोसों दूर हैं। जरा आप अपने असिद्ध हेत्वाभास* के स्वरूप के वर्णन की तरफ ही दृष्टि दे दीजियेगा और फिर देखियेगा कि आप का यह वर्णन कहाँ तक युक्तिपूर्ण है। आप ही बतलाइये कि असिद्ध हेत्वाभास का यही स्वरूप माना जायगा तब तो फिर सभी पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी असिद्ध हेत्वाभास के दायरे से बाहर न जा सकेंगे।

मेरा यह अभिप्राय कथमपि नहीं था कि मैं प्रस्तुत लेखमाला इस प्रकार से दृष्टान्त उपस्थित करूं किन्तु इस ही लिये कि

---

* जो हेतु सिद्ध न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। साध्यसम भी इसी का नाम है। हेतु दो तरह से असिद्ध होता है। या तो उसके अभाव का निश्चय हो, अथवा सद्भाव में सन्देह हो। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि आँखों से दिखता है। (चाक्षुष है।) शब्द आँखों से दीख नहीं सकता, इस लिये असिद्ध है। इसको स्वरूप सिद्ध कहते हैं क्योंकि शब्द का 'आँखों से दीखना' यह स्वरूप ही असिद्ध है। जब हेतु के सद्भाव में सन्देह होता है तब उसे निश्चय सिद्ध कहते हैं। जैसे धुआँ के न दीखने पर भी धुआँ की सम्भावना मात्र से अनुमान करना कि वहाँ अग्नि है क्योंकि धुआँ है। —न्यायप्रदीप पं० ६२

आक्षेपक को भी पता चल जाय कि वह अपने जिस ज्ञान को निर्णायक का स्थान देना चाहते हैं वह बात अभी उसके लिये बहुत दूर है।

इसके अतिरिक्त आक्षेपक के पास अन्य क्या युक्ति हो सकती है जिसको वह अपने इस वक्तव्य के समर्थन में उपस्थित कर सकें। उपस्थित की गई युक्तियां हैं या नहीं यह बात अभी भी विचाराधीन है। इन सब बातों के अतिरिक्त भी इतना तो आक्षे-पक को अवश्य देखना था कि प्राचीन लेखकों में कौन २ आते हैं और उनके सम्बंध में वे कैसे हल्के शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। किसी भी दृष्टि से क्यों न देखें आपको यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में आत्मवञ्चना शब्द का प्रयोग करके आक्षेपक ने अवश्य गलती की है और जिसके लिये उनको बिना किसी शर्त के क्षमा मांगना चाहिये।

विरोध—"मेरा कहना है कि अनुमेयत्व और प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति असिद्ध है। मेरा यह कहना नहीं कि व्याप्ति के लिये स्थान ही नहीं है। यदि हम सब पदार्थों को साध्य बनालें तो भी व्याप्ति के लिये स्थान रहेगा। पक्ष के भीतर जितना भाग सिद्ध है वह दृष्टान्त है। यहाँ व्याप्तिग्रहण हो सकता है और जितना भाग असिद्ध है वह साध्य है। पक्ष का एकांश सिद्ध होने पर भी पूर्णांश असिद्ध हो सकता है।"

परिहार—व्याप्तिपूर्वक अनुमान होता है। व्याप्ति के निश्चित हो जाने पर अनुमान की उत्पत्ति होती है। पक्ष आदि की कल्पना अनुमान काल की बात है। अतः इसमें या इसके अंश विशेष में

व्याप्तिग्रहण की बात ठीक नहीं। यदि इस विवाद को भी छोड़ दिया जाय और आक्षेपक की बात को ही स्वीकार कर लिया जाय तब भी उनका प्रस्तुत दूषण ठीक नहीं बैठता। प्रस्तुत पक्ष अर्थात् जगत के सम्पूर्ण पदार्थों में भी दो अंश हैं। एक अंश में अनुमान विषयता के साथ प्रत्यक्ष विषयता की व्याप्ति निश्चित है। स्थूल, वर्तमान और सम्बन्द्ध पदार्थों में इस प्रकार के नियम स्वीकार करने में किसी को भी बाधा नहीं हो सकती। अतः यहाँ व्याप्ति का निश्चय कर लिया जायगा और फिर इसके ही आधार से सूक्ष्मादि पदार्थों में भी इसकी सिद्धि हो जायगी। इस प्रकार भी व्याप्ति का निश्चय और जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में प्रत्यक्ष-विषयता की बात बिल्कुल ठीक बैठ जाती है।

विरोध—आचार्य समन्तभद्र के शब्दों को मैंने जिन शब्दों में रक्खा है वह सरलता के लिये। न कि झूठा दोष देने के लिये। जिस दोष की आपने वहाँ कल्पना की है वह न तो मैंने दिया है और न वहाँ दिया जा सकता है। जिस शैली को मैंने अपनाया है वह आचार्य को भी स्वीकृत है। आचार्य सूक्ष्मादि को पक्ष बना कर उपसंहार में सूक्ष्मादिज्ञ संस्थिति नहीं कहते, किन्तु सर्वज्ञ संस्थिति कहते हैं.........खेद है कि आक्षेपक ने न्याय की इस साधारण बात का भी ध्यान न रक्खा।

परिहार—प्राचीन आचार्यों के समय में सर्वज्ञ स्वीकार न करने वाले दार्शनिकों में मीमांसक सम्प्रदाय का मुख्य स्थान रहा है। मीमांसक सर्वज्ञ न मान कर भी स्थूल, वर्तमान और सम्बन्धित पदार्थों को प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार करता है उसको तो

केवल सूक्ष्म व्यवहित और असंबन्धित पदार्थों की और विशेषकर पुण्य-पाप की प्रत्यक्षविषयता में ही विवाद रहा है। किसी को भी इन पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाला प्रमाणित कर देना ही मीमांसक के प्रति सर्वज्ञ सिद्धि है। अतः आचार्य समन्तभद्र ने सूक्ष्मादि को पक्ष बना कर भी उपसंहार में "सर्वज्ञ संस्थिति" शब्द का प्रयोग किया है तथा उनको ऐसा ही करना भी चाहिये था, किन्तु आक्षेपक की परिस्थिति आचार्य समन्तभद्र की परिस्थितियों से भिन्न है। इनको तो आचार्य समन्तभद्र के कथन पर विचार करना है। अतः इनका तो यह अनिवार्य कर्तव्य था कि वह उक्त आचार्य के अनुमान को उनके ही शब्दों में रखते और उस पर विचार करते। आक्षेपक ने ऐसा क्यों किया है? इसका उत्तर हम अपनी लेखमाला में ही दे चुके हैं और वह यही है कि उक्त आचार्य के अनुमान में दोष बनाने को। यदि आचार्य समन्तभद्र के अनुमान को उनके ही शब्दों में रक्खा जाता तो दोष को स्थान ही नहीं रह जाता। आक्षेपक ने अपने ऊपर से इस दोष को हटाने की भी चेष्टा की है, किन्तु वह उनका असफल प्रयत्न है। इस पर विशेष विचार हम कुछ ही आगे करेंगे। आक्षेपक ने आचार्य समन्तभद्र के प्रस्तुत अनुमान में असिद्ध दोष की ही चर्चा चलाई थी तथा उसही के सम्बन्ध में मैंने विचार किया है। अब यदि आक्षेपक का यह कहना है कि विवादस्थ दोष प्रस्तुत अनुमान में नहीं दिया जा सकता तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। अब रह जाती है आक्षेपक के द्वारा अकल्पित दोष के सम्बन्ध में 'मेरी कल्पना'। इसको आक्षेपक ने केवल प्रतिज्ञा के रूप में ही लिखा है। उनका कर्तव्य था कि

वे बतलाते कि इस प्रकार के किस दोष का मैंने निराकरण किया है। आशा है आक्षेपक इस बात का आगे ध्यान रक्खेंगे।

"आक्षेपक ने न्याय की इस साधारण बात का भी ध्यान नहीं रक्खा" आक्षेपक की यह बात तो बिल्कुल उनके ही लिये उपयुक्त है। जो व्यक्ति पूर्व पक्ष के भाव को बिगाड़ कर फिर उसके खंडन की चेष्टा करता है उसके लिये इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग किसी भी प्रकार अनुपयुक्त नहीं।

विरोध—"प्रत्यक्ष का विषय न होने से पदार्थ के अस्तित्वनाश की बात निरर्थक है। मेरा यह कहना नहीं कि विश्व का कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकता इसलिये विश्व है ही नहीं। मेरा तो कहना सिर्फ इतना ही है कि प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता इसलिये अप्रत्यक्ष है। अभाव की बात लाना व्यर्थ है। वायु का रूप प्रत्यक्ष से नहीं जा सकता, इसलिये हम उसका अभाव भले ही न माने, परन्तु वह अप्रत्यक्ष है इतना तो कह सकते हैं। बस यही बात चुम्बक शक्ति के विषय में है। मैं उसका अभाव नहीं कहता सिर्फ उसे अप्रत्यक्ष कहता हूँ। इसी से यहाँ मतलब है।

यद्यपि जो वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं उसमें प्रत्यक्ष विषयता नहीं है यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसमें प्रत्यक्ष विषयता है यह भी तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो विषय हमारे प्रत्यक्ष का विषय है वह दूसरे के प्रत्यक्ष का विषय होना ही चाहिये यह भी नियम नहीं है। इसलिये यहाँ सन्देह तो है ही और जो सन्दिग्ध है वह असिद्ध है। यहाँ मेरा

कहना भी सिर्फ इतना ही था कि यह व्याप्ति असिद्ध है तब उसके आधार पर अनुमान कैसे खड़ा किया जा सकता है।"

परिहार—आक्षेपक ने अपने इस वक्तव्य में परस्पर विरोधी दो बातों का विधान किया। एक प्रत्यक्ष के अभाव में किसी को अप्रत्यक्ष कहना और दूसरे प्रत्यक्ष के न मानने पर भी उसमें प्रत्यक्षविषय के अभाव को न मानना। आक्षेपक की ही दूसरी बात से उनकी पहली बात का निराकरण हो जाता है। अतः उस पर कुछ भी टीका टिप्पणी करना हम आवश्यक नहीं समझते।

वायु के रूप को हम प्रत्यक्ष से नहीं जानते किन्तु "रूपवान् वायुः स्पर्शवत्वात्" इस अनुमान से जानते हैं। अतः वायु को रूपवान् ही माना जाता है। यही बात चुम्बक की शक्ति के सम्बन्ध में है। चुम्बक की शक्ति की प्रत्यक्ष विषयता को हम प्रत्यक्ष से नहीं जानते, किन्तु फिर भी वह हमारे अनुमान के बाहर नहीं है। अनुमान से तो हम उसको जानते ही हैं। चुम्बक की आकर्षण शक्ति में प्रत्यक्ष विषयता है अनुमान विषयता होने से। चुम्बक की शक्ति की अनुमान विषयता के सम्बन्ध में तो विरोध को गुञ्जाइश ही नहीं है। इससे प्रकट है कि चुम्बक की आकर्षण शक्ति में प्रत्यक्षविषयता के निषेध पक्ष की तरह विधिपक्ष असिद्ध नहीं है।

विरोध—अगर प्रत्येक व्यभिचारस्थल को पक्षान्तरगत मान लिया जायगा तब तो व्यभिचारी नामक हेत्वाभास कहीं भी न रहेगा। जिस समय ईश्वर कर्तृत्ववादी पृथ्वी पर्वत आदि को बुद्धिमत्कर्तृक मानता है और उसके लिये व्याप्ति बनाता है कि

जो-जो कार्य हैं वह सब बुद्धिमत्कर्तृक हैं इसके उत्तर में जैन लोग व्यभिचार देते हुए कहते हैं कि विद्युत वगैरह कार्य हैं परन्तु बुद्धिमत्कर्तृक नहीं हैं। इस पर वह कह सकता है कि वह भी बुद्धिमत्कर्तृक है। इस प्रकार जितने भी व्यभिचारस्थल बताये जांयगे वह सबको पक्षान्तर्गत करता जायगा। कल कोई यह कहे कि अयोगोलक में धूम है अग्नि होने से। इस पर आप व्यभिचार देते जावो वह उसे पक्षान्तर्गत करता जावे तब तो हो चुका। इसलिये पक्षान्तर्गतता की दुहाई से ही काम नहीं चलता है। जब तक अन्य थानुपपत्ति का निर्णय ठीक ढङ्ग से न किया जाय। प्रत्यक्षत्व के बिना अनुमेयत्व क्यों नहीं बन सकता जब तक इस बात को प्रमाण सिद्ध न किया जाय अथवा संदिग्ध व्यभिचार स्थलों का जब तक पूर्ण अभाव न हो जाय तब तक यह व्याप्ति असिद्ध ही मानी जायगी।

परिहार—किसी के सम्बन्ध में किसी भी हेत्वाभास के उद्भावन से पूर्व इस बात का निर्णय भी हो जाना आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में उस हेत्वाभास का लक्षण भी घटित होता है या नही। आक्षेपक ने यदि ऐसा किया होता तो आपको उपर्युक्त वाक्य लिखने का कष्ट न उठाना पड़ता। जो हेतु विपक्ष में भी रहता है उसको व्यभिचारी या अनेकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं जब तक कि किसी के सम्बन्ध में यह बात प्रमाणित न हो जावे तब तक उसके सम्बन्ध में व्यभिचार की बात ही निरर्थक है। आक्षेपक ने एक भी विपक्षस्थान नहीं बतलाया जहाँ कि अनुमेयत्व की शङ्का भी की जा सके। अतः इसके सम्बन्ध में व्यभिचार

की बात तो बिल्कुल निरर्थक है। अब रह जाती है पक्षान्तर्गत से व्यभिचार देने की बात या व्यभिचारस्थल को पक्षान्तर्गत बनाने की चर्चा, पहिली बात के सम्बन्ध में तो हम इतना ही लिख देना पर्याप्त समझते हैं कि आक्षेपक को अपने इस भाव के समर्थन में किसी के भी प्रमाण वाक्य को तो उपस्थित करना था जिसने आपके इस मत का उल्लेख किया हो। सम्भव है आक्षेपक की यह धारणा हो कि उनको इस हेत्वाभास के स्वरूप में भी संशोधन करना है। अतः उन्होंने ऐसा न किया हो यदि बात ऐसी है तो कम-से-कम वह अपने न्याय प्रदीप को स्मरण कर लेते। इसमें भी व्यभिचारी हेत्वाभास की वही परिभाषा मानी है जिसका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं।

जैन लोग भी पक्षान्तर्गत वस्तुओं से ही व्यभिचार दोष का उद्भावन करते आये हैं। इसके समर्थन में आपने यदि कुछ उल्लेख भी उपस्थित किये होते तो उन पर विशेष विचार किया जा सकता था। अभी तो इतना ही कहा जा सकता है कि व्यभिचार का उद्भावन विपक्ष में भी रहने से ही हो सकता है। जिसने भी इसके प्रतिकूल विवेचन किया है उसका वह कथन युक्तियुक्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।

किसी को भी पक्षान्तर्गत किया नहीं जाया करता, किन्तु वह पक्षान्तर्गत हुआ करता है। किसी के पक्षान्तर्गत होने और उसके पक्षान्तर्गत करने में महान् अन्तर है। जहांकि पक्षान्तर्गत होने में पक्ष में परिवर्तन नहीं होता वहीं पक्षान्तर्गत करने में पक्ष

में अन्तर करना पड़ता है। उदाहरण के तौर तर आक्षेपक ने ही "अयोगोलक में धूम है आग के होने से" अनुमान को ले लीजियेगा। प्रस्तुत अनुमान में अयोगोलक पक्ष है, यदि आगहेतु के व्यभिचारस्थल निर्धूम अग्नि के अङ्गार को भी इसमें सम्मिलित करेंगे। तब फिर यह उतना ही नहीं रहेगा, किन्तु उन दोनों का समुदायात्मक बन जायगा। इसही प्रकार जितने भी व्यभिचार स्थलों को इसमें सम्मिलित करते जाओ उतना ही इसका रूप भी बढ़ता जायगा। यह तो हुई पक्षान्तर्गत करने की बात। पक्षान्तर्गत होने की बात इससे बिल्कुल भिन्न है। विवादस्थ अनुमान को ही ले लीजियेगा। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ इसमें पक्ष हैं। अनुमेयत्व हेतु है। अब यदि चुम्बक की आकर्षण शक्ति से इसको व्यभिचारी बतलाया जाता है तो अनुमान समर्थक की तरफ से कहा जाता है कि चुम्बक की उक्त शक्ति तो पक्षान्तर्गत है। उससे व्यभिचार की कल्पना ठीक नहीं। चुम्बक की आकर्षण शक्ति सूक्ष्म है अतः पक्षान्तर्गत है। सूक्ष्म होने से यह तो पक्ष में सम्मिलित ही थी अतः इसके अन्तर्गत मानने में पक्ष में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना पड़ता।

इससे प्रकट है कि पक्षान्तर्गत करने के उदाहरण से पक्षान्तर्गत होने में बाधा उपस्थित करना ठीक नहीं।

इन सब विचारों को स्थगित करके यदि आक्षेपक की ही बात को मान लिया जाय तब भी इसमें आपको आपत्ति भी क्यों होनी चाहिये? एक वादी किसी अनुमान का प्रयोग करता है और उसके सम्बन्ध में जितने भी व्यभिचार स्थलों को बतलाय जाता

है वह उन सबको पक्ष में सम्मिलित कर लेता है। इस प्रकार यदि उसके अनुमान में व्यभिचार दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता तो इसमें हमारे आक्षेपक को चिन्ता की क्या जरूरत है? अनेक विशेषणों के प्रयोग करने पर भी यदि अनुमान निर्दोष नहीं बन पाया है और व्यभिचारोद्भावन को उसमें स्थान नहीं है तो दूसरे हेत्वाभास तो हैं, आप उसके सम्बन्ध में उनका उद्भावन कर सकते हैं। यह क्या जरूरी है कि उसको व्यभिचार दोष से ही सदोष घोषित किया जावे। इस तरह सैकड़ों सदोष हेतु मिलेंगे जिनमें व्यभिचार की गन्ध भी नहीं है, किन्तु फिर भी वे सदोषी हैं—

उपर्युक्त विवेचन को यदि संक्षेप से कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि हेतु में व्यभिचार दोष का उद्भावन उसके विपक्ष में भी रहने से किया जा सकता है। पक्षान्तर्गत से व्यभिचार दोष का उद्भावन नितान्त भ्रमपूर्ण है। चुम्बक-आकर्षण शक्ति पक्षान्तर्गत होने से उसमें व्यभिचार दोष की उद्भावना भ्रमपूर्ण है। इसके सम्बन्ध में हमने अपनी लेखमाला में निम्नलिखित शब्द भी लिखे थे।

"यदि पक्षान्तर्भूत पदार्थों से ही व्यभिचार की कल्पना की जायगी तो कोई भी अनुमान नहीं बन सकेगा। 'पर्वत में अग्नि है धूम होने से रसोई घर की तरह' इस प्रसिद्ध अनुमान को ही लीजियेगा। यहाँ भी धूमसाधन को पर्वत से व्यभिचार दिया जा सकेगा, क्योंकि पर्वत में धूम की तरह अग्नि तो दीखती नहीं है यही बात दूसरे अनुमानों के सम्बन्ध में है। हमारी बात का प्रति-

पादन आचार्य विद्यानन्द* आदि ने आप्तपरीक्षादिक में किया है।"

आक्षेपक इसके सम्बन्ध में मौन धारण कर चुके हैं। यदि अनुमान की स्थिति रहेगी तब तो व्यभिचार दोष का उद्भावन भी उपर्युक्त प्रकार से ही स्वीकार करना पड़ेगा। इससे प्रकट है कि आचार्य समन्तभद्र के अनुमान में आक्षेपक का व्यभिचार दोष का उद्भावन मिथ्या है।

मौजूदा व्याप्ति के सम्बन्ध में आक्षेपक ने दूसरी बाधा व्यधिकरण की उपस्थित की है। आपका कहना है कि "दूसरे को प्रत्यक्ष न हो तो हमें अनुमान भी न होगा, इस प्रकार एक आत्मा के ज्ञान का गठबन्धन जबरदस्ती दूसरे के साथ करने का कोई कारण नहीं है। इसलिये हमारे अनुमेयत्व से दूसरे के प्रत्यक्षत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है।" इसही के सम्बन्ध में आक्षेपक ने एक दृष्टान्त भी लिखा है और वह इस प्रकार है—"एक मकान के भीतर आग लगती है, बाहर से उसका धुआँ देखकर हम अग्नि का अनुमान कर लेते हैं। यहां यह आवश्यक है कि मकान के भीतर कोई मनुष्य बैठा बैठा उस अग्नि का प्रत्यक्ष कर रहा होगा तब तो हम बाहर से अग्नि का अनुमान कर सकेंगे, अन्यथा नहीं कर सकेंगे।"

हम यह कब कहते हैं कि प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी नहीं होता या आग वाले कोठे की आग का यदि कोई प्रत्यक्ष

---

* न हि पक्षीकृतैरेव व्यभिचारोद्भावनं सर्वस्यानुमानस्य व्यभिचारित्वप्रसङ्गात् हेतोर्व्यभिचारोऽत्र दूरार्थैर्मन्दरादिभिः सूक्ष्मैर्वापरमाण्वाद्यैस्तेषांपक्षीकृत्वतः। —आप्तपरीक्षा

नहीं कर रहा तो हमको उसका अनुमान भी नहीं होगा। एक आत्मा के ज्ञान के साथ दूसरे के ज्ञान का गठबन्धन जोड़ने का हमारा अभिमत कदापि नहीं है। ये बातें तो तब कही जा सकती थीं, जबकि मौजूदा व्याप्ति प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान की होती, किन्तु ऐसा है नहीं। मौजूदा व्याप्ति तो प्रत्यक्षविषयता और अनुमान विषयता की है।

प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष विषयता ये बिलकुल भिन्न २ बातें हैं। इसही प्रकार अनुमान ज्ञान और अनुमान विषयता, इन दोनों में पहिला यदि ज्ञानस्वरूप है तो दूसरा ज्ञेय स्वरूप।

प्रत्यक्षज्ञान और प्रत्यक्षविषयता इसी प्रकार अनुमान ज्ञान और अनुमान विषयता में साहचर्य सम्बन्ध भी नहीं जिससे अनुमान विषयता और प्रत्यक्ष विषयता की व्याप्ति के आधार से अनुमान ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान की भी व्याप्ति स्वीकार की जा सके। मौजूदा अनुमान में ऐसा कोई शब्द भी नहीं है जिसका यह अर्थ निकाला जा सके कि एक के प्रत्यक्ष के साथ दूसरे के अनुमान ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध यहाँ अभीष्ट है जिससे कि इसके व्यतिरेक रूप में यह भी कहा जा सके कि यदि एक को प्रत्यक्ष न होगा तो दूसरे को अनुमान भी न होगा। यहाँ तो कस्यचित्प्रत्यक्षाः और अनुमेयत्वात् ये दो पद हैं जिससे व्याप्ति निकालना है। कस्यचित्प्रत्यक्षाः का सीधा अर्थ यही है कि किसी के प्रत्यक्ष के विषय और अनुमेयत्वात् का अनुमान के विषय। अतः यहाँ तो प्रत्यक्ष विषयता और अनुमान विषयता की ही व्याप्ति निकालनी है। आक्षेपक इसको स्वयं भी एक जगह

स्वीकार कर चुके हैं जैसा कि उनके निम्न लिखित वाक्यों से स्पष्ट है:—

"जगत के समस्त पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं, क्योंकि वे अनुमान के विषय हैं। जो अनुमान का विषय है वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष का विषय है; जैसे अग्नि आदि"—

—जैन जगत अङ्क १२ पृष्ठ १।

व्यधिकरण के सम्बन्ध में बात यह है कि प्रथम तो व्यधिकरण कोई दूषण ही नहीं। दूसरे यहाँ व्यधिकरण है भी नहीं। अनुमान विषयता किसी अन्य पदार्थ में होती और प्रत्यक्ष विषयता किसी अन्य में, तब तो व्यधिकरण की सम्भावना थी किन्तु यहाँ तो जिसमें प्रत्यक्ष विषयता है उसी में अनुमान विषयता।

अतः स्पष्ट है कि इस व्याप्ति के सम्बन्ध में आक्षेपक की दूसरी बाधा भी ठीक नहीं।

मौजूदा अनुमान के सम्बन्ध में आक्षेपक का तीसरा आक्षेप निम्न प्रकार है:—

"यदि यह व्याप्ति स्वीकार भी करली जाय तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि जितना अनुमेय है वह सब एक प्राणी का प्रत्यक्ष है। जगत के जितने पदार्थ जुदे जुदे प्राणियों के अनुमेय हैं इसी प्रकार जुदे जुदे प्राणियों के प्रत्यक्ष हो सकते हैं। एक ही आत्मा सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करे इस बात की सिद्धि इस अनुमान से नहीं होती। इसलिये इससे सर्वज्ञसिद्धि नहीं हो सकती।"

आचार्य समन्तभद्र का इस अनुमान से केवल इतना ही प्रयोजन है कि विवादस्थ विषयों में प्रत्यक्ष विषयता सिद्ध की

जाय। आचार्य ने जो इस कारिका के अन्त में "इति सर्वज्ञ संस्थितिः" पद दिया है, उसका यह भाव नहीं है कि केवल इस ही कारिका से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, किन्तु यह है कि यदि इस कारिका के कथन को इससे पहिले के कथन से मिला दिया जाय तो सर्वज्ञसिद्धि हो जाती है।

इससे पहिली कारिका* से आचार्य ने आत्मा में दोष और आवरणों का बिलकुल अभाव प्रमाणित किया है। आत्मा में दोष और आवरणों के अभाव से यह बात स्वयं निकल आती है कि वह अपने स्वभाव के अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। इस सम्बन्ध में मीमांसक का अभिप्राय कुछ भिन्न है। उसका कहना है कि सम्पूर्ण दोष और आवरणों से रहित आत्मा भी विप्रकृष्ट-सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थ को प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जान सकता†। इस प्रकार के पदार्थों का ज्ञान तो अनुमानादिक से ही सम्भव है।

---

* दोषावरण योर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो वहिरन्तर्मलक्षयः ॥ आप्तमीमांसा ४

† ननु निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलङ्कोपि विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षी कुर्यात्। इसके भाष्यकार आचार्य विद्यानन्दिने निम्न लिखित वाक्य लिखे हैं:—

"नहिं नयनं निरस्तोपद्रवं विगलित तिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभाव विप्रकर्षभाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतं, स्वयोग्यस्यै-वार्थस्य तेनप्रत्यक्षी करणदर्शनात्। निरस्तग्रहोपरागाद्युपद्रवोपि दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्त्तमानार्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थानयोग्यानिति जीवोपि निर-स्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलित ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मा-त्मकमकलङ्कोपिचकथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ?

इससे स्पष्ट है कि मीमांसक विप्रकृष्ट पदार्थों में विशेष कर पुण्य और पाप में प्रत्यक्ष विषयता नहीं मानता* और जब इनमें प्रत्यक्ष विषयता ही नहीं है तब इनको कोई प्रत्यक्ष से जान सकेगा, यह केवल कल्पना मात्र है।

इन्हीं विवादस्थ पदार्थों में प्रत्यक्ष विषयता को सिद्ध करने के हेतु ही आचार्य समन्तभद्र ने देवा गम की पाँचवीं कारिका की रचना की—और जब अनुमेयत्व साधन से इनमें प्रत्यक्ष विषयता की सिद्धि हो गई तब ही कारिका के अन्त में "इति सर्वज्ञ-संस्थितिः" पद को जोड़ा। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जहाँ तक इस कारिका का सम्बन्ध है आचार्य समन्तभद्र का अभिप्राय विवादस्थ पदार्थों में केवल प्रत्यक्ष विषयता सिद्ध करने का है। यदि इस कारिका के साथ पहिले वक्तव्य को जोड़ दिया जाता है तो सर्वज्ञ सिद्धि होती है। आचार्य समन्तभद्र के इस भाव को न लेकर आक्षेपक के वर्तमान कथन को ही ले लें तब भी इस अनुमान से सर्वज्ञ सिद्धि हो जाती है।

जब आक्षेपक इस व्याप्ति को स्वीकार कर लेते हैं तब यह तो स्वयं सिद्ध है कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ में वह प्रत्यक्षविषयता को स्वीकार करते हैं तथा स्थूल, वर्तमान और सम्बद्ध पदार्थों की प्रत्यक्षविषयता स्वयं सिद्ध है। इसका परिणाम यह निकला कि जगत के संपूर्ण पदार्थों में प्रत्यक्षविषयता आक्षेपक को इष्ट

---

* धर्मज्ञत्व निषेधस्तु, केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केनवार्यते ॥
—मीमांसा श्लोक वार्तिक ।

हुई। विरोध की इतनी ही बात है कि यह प्रत्यक्षविषयता एक व्यक्ति के प्रत्यक्ष की दृष्टि से है या अनेक के।

जगत के सम्पूर्ण पदार्थों में अनेक व्यक्तियों के प्रत्यक्षों की दृष्टि से प्रत्यक्षविषयता स्वीकार करना ही इस बात को प्रमाणित करता है कि उनमें एक व्यक्ति की दृष्टि से भी प्रत्यक्षविषयता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि समान से समान हुआ करता है, सोलह आने और एक रुपया समान है, अतः इन दोनों में से एक के जो समान होगा वह दूसरे के भी अवश्य समान होगा, चार चवन्नियां या चौंसठ पैसे हैं, यह सोलह आने के समान हैं अतः एक रुपये के भी समान हैं। इसी प्रकार जितनी भी आत्मायें हैं वे सब स्वरूप की दृष्टि से समान हैं, अतः जिसको एक आत्मा जान सकता है या जानता है, उसी को दूसरा भी। इसी प्रकार तीसरा और चौथा आदि। जिस प्रकार कि एक आत्मा के ज्ञेय की दूसरी तीसरी आदि आत्मायें जान सकती हैं उसी प्रकार यह भी उनके ज्ञेयों को। इससे यह परिणाम निकला कि अनेक आत्माओं के प्रत्यक्षों द्वारा जाने जाने वाले पदार्थों को एक आत्मा भी प्रत्यक्ष से जान सकती है। इस प्रकार भी आक्षेपक के कथन का निराकरण हो जाता है। अतः मौजूदा अनुमान में आक्षेपक की तीसरी बाधा भी निराधार है।

इस अनुमान के सम्बन्ध में आक्षेपक ने चौथी बाधा निम्न लिखित शब्दों में उपस्थित की है:—

"व्याप्ति को स्वीकार कर लेने पर भी चौथा दोष यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं हैं। अनुमान के द्वारा हम

संसार के सब पदार्थों की त्रैकालिक समस्त पर्यायें नहीं जान सकते। अनुमेय पदार्थ बहुत थोड़े हैं तब उनको प्रत्यक्ष करने से कोई प्रचलित भाषा के अनुसार सर्वज्ञ कैसे कहला सकता है।"

आक्षेपक ने अपनी इस बाधा के समर्थन में निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं—

"सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं हैं—यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि कहीं पर अनुमान सर्वज्ञसिद्ध नहीं हुआ। इस विषय में जैनशास्त्रों की साक्षी भी मिलती है। जैन-शास्त्रों में अनुमान को मति या श्रुतज्ञान के भीतर माना है और मतिज्ञान श्रुतज्ञान का विषय बतलाया है कि ये द्रव्यों की थोड़ी सी पर्यायें जानते हैं। जब समग्र मति श्रुति ज्ञान में अनन्तपर्यायें जानने की शक्ति नहीं हैं तब उसके एक टुकड़े अनुमान में सब पर्यायें जानने की शक्ति कहां से आ सकती है। इस प्रकार जब अनुमेयत्व रूप हेतु सब पदार्थों में नहीं हैं तब प्रत्यक्षरूपसाध्य वहाँ कैसे रह सकता है।"

सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं, यह बात एक अनुमान की दृष्टि से है या अनेक अनुमान की। यदि एक अनुमान की, तब तो इस बात को हमभी स्वीकार करते हैं। कोई अनुमान सर्वज्ञसिद्ध नहीं हुआ, यह भी एक ही अनुमान की दृष्टि से है। जैनशास्त्रों की साक्षी भी इस ही के सम्बन्ध में है, या जैनशास्त्र भी इस बात का इस ही दृष्टि से वर्णन करते हैं। अनुमान का विषय मतिज्ञान या श्रुतज्ञान के भीतर बतलाया है, और मति या

श्रुत पदार्थ की सम्पूर्ण अवस्थाओं को नहीं जानते, यह भी एक अनुमान और एक मति या श्रुत की दृष्टि से है।

यदि उपर्युक्त प्रकार का कथन—सम्पूर्ण पदार्थ अनुमान के विषय नहीं—अनेक अनुमान की दृष्टि से हैं तो यह बात समुचित नहीं।

भूत, वर्तमान और भविष्यत् के पदार्थों का अनेक अनुमान का ज्ञेय होना यह एक स्वाभाविक बात है। प्रमाण से जाने हुये पदार्थ के एक अंश को नय जानता है, इस ही लिये प्रमाण और नय में अंश और अंशी का भेद है किन्तु यदि अनेक नय मिल जायं तो वे उस पदार्थ के सम्पूर्ण अंशों को जान लेती हैं। नय का ज्ञेय प्रमाण के ज्ञेय की सीमा के भीतर ही रहता है, यह कथन जब एक नय की दृष्टि से होता है तब तो इस बात की पुष्टि करता है किन्तु जब यही कथन अनेक नयों की दृष्टि से होता है तो इसकी सिद्धि इससे नहीं होती।

मौजूदा व्याप्ति अनुमानविषयता के साथ प्रत्यक्षविषयता की है। चाहे यह अनुमानविषयता एक अनुमान के द्वारा आवे या अनेक के, एक प्राणी के अनुमान के द्वारा आवे या अनेक प्राणियों के। यहां तो केवल अनुमानविषयता से प्रयोजन है न कि उसकी व्यक्ति विशेष से। इससे स्पष्ट है कि मौजूदा व्यक्ति के सम्बन्ध में आक्षेप की चौथी बाधा भी युक्तियुक्त नहीं।

आक्षेपक ने इन्हीं बाधाओं के आधार से आचार्य समन्तभद्र की सर्वज्ञता को सिद्ध करने वाली युक्ति को युक्त्याभास बतलाया था, किन्तु ये बाधायें मौजूदा युक्ति पर कुछ भी असर नहीं रखतीं,

जैसा कि ऊपरके विवेचन से स्पष्ट है। अतः आचार्य समन्तभद्र की युक्ति युक्त ही है—उसको युक्त्याभास कहना बिलकुल निराधार है।

विरोध—"प्रत्यक्षज्ञान और प्रत्यक्ष विषयता का साहचर्य सम्बन्ध नहीं यह कहना ठीक नहीं। ये परस्पर सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरा हो ही नहीं सकता, जिसे प्रत्यक्ष जानता है वही तो प्रत्यक्ष विषय कहलाता है। जहाँ प्रत्यक्ष नहीं वहाँ प्रत्यक्ष विषय कैसे बन जायगा ? हाँ पदार्थ रहेगा किन्तु बिना किसी प्रत्यक्ष के वह प्रत्यक्षविषय न कहला सकेगा, इसलिये जब तक अनुमान और प्रत्यक्ष की व्याप्ति न बन सके तब तक अनुमान विषयता और प्रत्यक्ष विषयता की व्याप्ति कैसे बन सकती है। जब प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान का होना आक्षेपक को स्वीकार है तब प्रत्यक्ष विषयता के अभाव में अनुमान विषयता हो सकती है यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिये किसी के द्वारा अनुमेय हो इससे वह न तो अनुमान करने वाले के प्रत्यक्ष का विषय सिद्ध हो सकता है, न दूसरे के प्रत्यक्ष का विषय; जिससे वह किसी के भी प्रत्यक्ष का विषय सिद्ध किया जा सके।"

परिहार—किसी को अनुमान से जानना ही उसकी अनुमान विषयता या अनुमेयत्व नहीं है, किन्तु उसका अनुमान से जान सकना ही उसकी अनुमान विषयता या अनुमेयत्व है। वायु के रूप को या पर्वतीय अग्नि को भले ही अनुमान से नहीं जान रहे हैं, किन्तु फिर भी ये अनुमेय हैं। इनको अभी अनुमान से न जानने पर भी कालान्तर में ये ही अनुमान से जाने जाते हैं। 'अनुमातुम् योग्यं अनुमेयम्' अर्थात् जो अनुमान के योग्य है या

यों कहिये कि जिनके सम्बन्ध में अनुमान हो सकता है वही अनुमेय है। किसी के सम्बन्ध में अनुमान का हो सकना और उसके सम्बन्ध में अनुमान का होना इनमें महान् अन्तर है। पहिला उस प्रकार की योग्यता का सूचक है और दूसरा वैसी अवस्था का। पाठक समझ गये होंगे कि सिर्फ वे ही पदार्थ अनुमेय नहीं हैं जिनके सम्बन्ध में अनुमान ज्ञान किया जा रहा है, किन्तु वे भी अनुमेय हैं जिनको अनुमान से जाना भी जा सकता है चाहे अभी उनके सम्बन्ध में अनुमान किया जा रहा हो या न किया जा रहा हो।

जिसको अनुमान से जाना जा रहा है वही यदि अनुमेय होता तब तो किसी प्रकार अनुमान और अनुमेय या अनुमान विषयता में साहचर्य सम्बन्ध स्वीकार भी किया जा सकता था, किन्तु अनुमेय या अनुमान विषयता में तो उन पदार्थों का भी समावेश है जो कि अनुमान से जाने भी जा सकते हैं तथा इस के लिये यह कोई ज़रूरी बात नहीं कि वे अभी अनुमान से जाने ही जा रहे हों। इससे प्रगट है कि अनुमान और अनुमेय में आक्षेपक का साहचर्य नियम बतलाना नितान्त भ्रम पूर्ण है।

यही बात प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष विषयता के सम्बन्ध में है। प्रत्यक्ष से जाने जाने वाले या जाने जा सकने वाले सभी पदार्थ प्रत्यक्ष विषयता की सीमा से बाहर नहीं हैं। अतः अनुमान और अनुमान विषयता के समान प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष विषयता में भी साहचर्य सम्बन्ध युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष विषयता इस ही प्रकार अनुमान और अनुमान विषयता में यदि साहचर्य सम्बन्ध होता तब तो प्रत्यक्ष

और अनुमान के असमान काल भावित्व से प्रत्यक्ष विषयता और अनुमान विषयता के सम्बन्ध में भी यह बात उठाई जा सकती है, किन्तु ऐसा है नहीं। इसको हम अभी ही स्पष्ट कर चुके हैं। अतः इसके आधार से भी प्रस्तुत व्यक्ति को त्रुटिपूर्ण स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विरोध—पर्वत में अग्नि है, क्योंकि मेरे रसोई घर में धुआँ निकल रहा है, यहाँ पर व्यधिकरण होने से ही यह अनुमान ठीक नहीं माना जाता। यदि व्यधिकरण दोष न माना जाय तब तो जहाँ चाहें उसी वस्तु की सिद्धि की जायगी। इस प्रकार अनुमान की उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी, हाँ साध्य और साधन का जुदे-जुदे स्थान पर रहना ही व्यधिकरण दोष नहीं है किन्तु जहाँ पर जुदा-जुदा आधार होने से हेतु असिद्ध होता हो, उसकी व्याप्ति नष्ट होती हो वहीं पर यह दोष है। जैसा कि इस समाधान के प्रारम्भ में दिया है। आचार्य समन्तभद्र तथा अन्य आचार्यों के इस अनुमान में यह दोष भी है क्योंकि वे पदार्थ में जिस व्यक्ति की अपेक्षा से अनुमेयता मानते हैं, उसी से प्रत्यक्षता नहीं मानते। ऊपर कहा जा चुका है कि विषयी के बिना विषय नहीं हो सकता। जब अनुमान और प्रत्यक्ष में वैयधिकरण है तब अनुमान विषयता और प्रत्यक्ष विषयता में भी यह दोष अवश्य है।

परिहार—हमने निम्नलिखित पंक्तियां लिखी थीं, जिनके सम्बन्ध में आक्षेपक ने उपयुक्त वाक्य लिखे हैं—"व्यधिकरण के सम्बन्ध में बात यह है कि प्रथम तो व्यधिकरण कोई दूषण ही नहीं। दूसरे यहाँ व्यधिकरण है भी नहीं। अनुमान विषयता

किसी अन्य पदार्थ में होती और प्रत्यक्ष विषयता किसी अन्य में तब तो व्यधिकरण की सम्भावना थी, किन्तु यहाँ तो जिसमें प्रत्यक्ष विषयता है उसी में अनुमान विषयता है।

अब विचारणीय यह है कि क्या 'व्यधिकरण' दोष है? यदि हाँ, तो क्या वह प्रस्तुत व्याप्ति के सम्बन्ध में घटित होता है?

व्यधिकरण दूषण है या नहीं इस बात के निर्णय के लिये हमको दूर जाने की जरूरत नहीं। आक्षेपक के प्रस्तुत वक्तव्य के ही निम्नलिखित शब्द यथेष्ट हैं—

"साध्य और साधन का जुदे-जुदे स्थान पर रहना ही व्यधिकरण दोष नहीं है, किन्तु जहाँ पर जुदा-जुदा आधार होने से हेतु असिद्ध हो, उसकी व्याप्ति नष्ट होती हो वहीं यह दोष है।"

आक्षेपक की प्रथम तो व्यधिकरण की उपर्युक्त परिभाषा ही भ्रमपूर्ण है। व्यधिकरण की यह परिभाषा किसी भी प्रसिद्ध दार्शनिक ने स्वीकार नहीं की है। व्यधिकरण को दोष मानने वाले और न मानने वाले दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों ने साध्य और साधन का भिन्नाधिकरण वृत्तित्व ही व्यधिकरण माना है। आक्षेपक को जब व्यधिकरण की प्रचलित परिभाषा के अनुसार उसकी सदोषता में सन्देश हुआ तब उन्होंने उसके "व्याप्ति नष्ट होती हो" यह विशेषण लगा दिया है। अतः उनकी यह केवल कल्पना मात्र है।

दूसरे यदि व्याप्ति का नाश ही दोष है तब तो यह भिन्नाधिकरण की तरह अभिन्नाधिकरण में भी तदवस्थ है। जिस प्रकार साध्य और साधन के भिन्नाधिकरण होने पर व्याप्तिनाश का नाम

दूषण है उस ही प्रकार अभिन्नाधिकरण की अवस्था में भी। इस ही प्रकार साध्य और साधन चाहे भिन्नाधिकरण हो या अभिन्नाधिकरण यदि व्याप्ति ठीक है तो सब काम ठीक है। इससे प्रगट है कि व्याप्ति की सदोषता या निर्दोषता के लिये साध्य और साधन का भिन्नाधिकरण वृत्तित्व और अभिन्नाधिकरण वृत्तित्व बिलकुल अप्रयोजनीभूत हैं। अतः व्याधिकरण को दूषण बतलाना युक्तियुक्त नहीं है।

पर्वत में अग्नि है क्योंकि मेरे रसोई घर में धुआँ निकल रहा है यहाँ पर व्यधिकरण होने से ही यह अनुमान ठीक नहीं माना जाता। आक्षेपक का यह कहना भी नितान्त मिथ्या है। प्रस्तुत अनुमान में साध्य और साधन का भिन्नाधिकरण वृत्तिणत्व ही दूषणरूप नहीं है। यदि ऐसा ही होता तब तो मुहूर्त के बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है, इस अनुमान को भी सदोषी मानना पड़ता। साध्य और साधन का भिन्नाधिकरणवृत्तित्व तो इस अनुमान में भी है। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत अनुमान में भी साध्य और साधन का भिन्नाधिकरणवृत्तित्व ही दूषण नहीं है किन्तु व्याप्ति का सदोषत्व ही। लेखक स्वयं भी इसको स्वीकार कर चुके हैं अतः इसके सम्बन्ध में विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं। यदि व्यधिकरण को दोष न माना जावेगा तब तो जब चाहे जिस ही वस्तु की सिद्धि की जा सकेगी। इस प्रकार अनुमान की उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी। आक्षेपक के इन शब्दों को ही उनके इस वाक्य के सम्बन्ध में उपस्थित किया जा सकता है और वह निम्न प्रकार से—

यदि व्यधिकरण को दोष माना जावेगा तब तो पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं को भी सदोष कहना पड़ेगा। इस प्रकार अनुमान की उपयोगिता ही नष्ट हो जावेगी। आक्षेपक ने अपने इन शब्दों का प्रयोग प्रतिज्ञा के रूप में एवं अस्पष्ट रूप से किया है यदि उन्होंने अपने इस ही भाव को स्पष्ट रूप से और सयुक्तिक ढंग से रक्खा होता तब तो इसके संबन्ध में और भी विशेष विचार किया जा सकता। उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि व्यधिकरण को दूषण बतलाना युक्तियुक्त नहीं।

अभ्युपगमसिद्धान्त से इसको दूषण स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रस्तुत व्याप्ति में घटित नहीं होता। इसका समाधान हम अपनी पहली लेखमाला में कर चुके हैं तथा उसके आवश्यक अंश को हम इस ही लेख में उद्धृत कर चुके हैं।

आक्षेपक का इसके सम्बन्ध में अब यह कहना कि प्रत्यक्ष विषयता किसी एक की दृष्टि से है और अनुमानविषयता किसी अन्य की दृष्टि से; भी कुछ भी मतलब नहीं रखता। साध्य और साधन की भिन्नाधिरणवृत्तित्व पर विचार करते समय केवल इतना ही देखना जरूरी है कि उनका भिन्नाधिकरणवृत्तित्व है या नहीं। यहां पर इस बात का देखना नितान्त अनुपयोगी है कि उनका साक्षात्कार कौन कौन कर रहा है। इस विषय में यदि आक्षेपक की ही बात को मान लिया जाय और यही स्वीकार कर लिया जाय कि विवादस्थ अनुमान में अनुमानविषयता किसी एक के अनुमान की दृष्टि से है और प्रत्यक्षविषयता किसी

अन्य के प्रत्यक्ष की दृष्टि से; तब भी तो यह प्रमाणित नहीं होता कि ये दोनों भिन्न २ अधिकरण में रहती हैं। इससे तो केवल ज्ञाताओं में ही भेद डाला जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि व्यधिकरण के सम्बन्ध में आक्षेपक का यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है।

अनुमान और प्रत्यक्ष के वैयधिकरण का प्रत्यक्ष विषयता और अनुमान विषयता की व्याप्ति पर कुछ भी प्रभाव नहीं है, इसका समर्थन हम कर चुके हैं। अतः इसके सम्बन्ध में अब यहाँ लिखने की जरूरत नहीं है, इन सब बातों के आधार से यह स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र के अनुमान में आक्षेपक की दूसरी आपत्ति भी मिथ्या है।

विरोध—सब प्राणी समान हैं तो जितना एक जान सकेगा उतना दूसरा जान सकेगा। जिसे एक जानेगा उसे ही दूसरा न जानेगा सब प्राणी समान हैं एक नहीं।

परिहार—सब जीवों को समान तथा उनकी ज्ञान शक्ति को बराबर स्वीकार कर लेने पर तो यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिसको एक जानता है उस ही को दूसरा भी जान सकता है। या यों कहिये कि उसका जानना भी उसके ज्ञान की शक्ति के बाहर की बात नहीं है। उदाहरण के तौर पर यों समझियेगा कि तीन व्यक्ति हैं। इनमें से एक वैज्ञानिक दूसरा औपन्यासिक और तीसरा गणितज्ञ है। अपने २ विषय के ये तीनों ही असाधारण पण्डित हैं। वैज्ञानिक गणित और उपन्यास लेखनकला का असाधारण पण्डित नहीं है। इस ही प्रकार अन्य दो भी

अपने विषय से इतर विषयों के। ये तीनों ही ज्ञान की शक्ति की दृष्टि से समान हैं, अतः हर एक में उसके विषय के अतिरिक्त अन्य दोनों विषयों के असाधारण पाण्डित्य की शक्ति भी माननी पड़ेगी। यही बात संसार के समस्त जीवों में घटित कर लेनी चाहिये। समानता के इस तर्क से जगत के प्रत्येक प्राणी का जगत के सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की शक्ति वाला होना बिलकुल स्पष्ट है। इसका विशेष विवेचन हम पहिले ही कर चुके हैं।

विरोध—अनेक अनुमान मिल कर भी सब पदार्थों को नहीं जान सकते यह बात युक्ति अनुभव तथा जैन शास्त्रों से भी सिद्ध है। अनुमान जिस ज्ञान का टुकड़ा है जब उसी में सब को जानने की शक्ति नहीं तब अनुमान कैसे जान सकता है। अनुमान कितने ही एकत्रित हो जांय परन्तु वे सब मति श्रुत के विषय के बाहर तो नहीं पहुँच सकते, नय भी सब मिल कर सिर्फ श्रुत ज्ञान की जगह भर सकते हैं न कि प्रमाण मात्र की। नय श्रुत ज्ञान के विकल्प हैं।

परिहार—आक्षेपक ने हमारे पूर्व वक्तव्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया। हम बतला चुके हैं कि मतिश्रुत ज्ञान का विषय अनन्त पदार्थ नहीं हैं यह कथन एक मति ज्ञान या श्रुतज्ञान की दृष्टि से है। यदि जगत के समस्त प्राणियों की दृष्टि से इस ही बात का विवेचन किया जाय तब यही बात असङ्गत ठहरती है। उनकी दृष्टि से तो मति और श्रुत ज्ञान के विषय अनन्तपदार्थ ही ठहरते हैं। यही बात एक अनुमान और समस्त अनुमानों की दृष्टि भेद की है। प्रस्तुत अनुमान में विचारणीय बात अनुमान विषयता

है। यह एक अनुमान या समस्त अनुमान किसी भी दृष्टि से स्वीकार की जासकती हैं। यहाँ यह बात नितान्त अनुपयोगी है कि यह अनुमान विषयता अमुक अनुमान की ही दृष्टि से आनी चाहिये।

मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान का विषय भी इतना विशाल है कि इसमें किसी भी ज्ञेय का समावेश किया जासकता है। अवधि, मनपर्यय और केवल ज्ञान के ज्ञेय भी इनकी सीमा के बाहर नहीं हैं। जिस समय उक्त तीनों ज्ञान धारी अपने २ ज्ञानों के ज्ञेयों को शब्द द्वारा प्रतिपादन करते हैं तब यह ही श्रोता के लिये श्रुत ज्ञान के विषय बन जाते हैं। अवधिज्ञानी किसी के भवान्तरों को और मनःपर्यय ज्ञानी दूसरे की मन की बात को भले ही इन ज्ञानों के द्वारा प्रत्यक्ष जानता हो किन्तु श्रुत ज्ञानी इनके शब्दों के द्वारा इनही बातों को अपने श्रुत ज्ञान से ही जान लेता है। यही बात प्रत्यक्ष ज्ञानों के अन्य ज्ञेयों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि जगत के किसी भी पदार्थ को श्रुत ज्ञान या अनुमान की सीमा के बाहर बतलाना युक्तियुक्त नहीं। उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि आचार्य समन्तभद्र के अनुमान के संबंध में आक्षेपक के चारों ही आक्षेप निःसार हैं।

सर्वज्ञसिद्धि के सम्बन्ध में द्वितीय युक्त्याभास का उल्लेख करते हुए आक्षेपक ने द्वितीय युक्ति को निम्न लिखित शब्दों में लिखा है:—

"त्रिकाल त्रिलोक में कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा कहने वाले

ने अगर त्रिकाल त्रिलोक नहीं देखा तो उसके वचनों का मूल्य ही क्या है। अगर उसने त्रिकाल त्रिलोक देख कर सर्वज्ञत्व का अभाव बतलाया है तब तो वही सर्वज्ञ हुआ, क्योंकि त्रिकाल-त्रिलोक ज्ञाता ही सर्वज्ञ है। इसलिये सर्वज्ञ हुए बिना कोई सर्वज्ञत्व का अभाव नहीं बतला सकता। और सर्वज्ञ हो कर कोई सर्वज्ञत्व का अभाव कैसे बतलायगा।"

इसके सम्बन्ध में आपका कहना है कि यदि सर्वज्ञता के बिना त्रैकालिक निर्णय नहीं हो सकता तो व्याप्तिज्ञान भी न होगा, क्यों कि यह भी त्रैकालिक निर्णय से सम्बन्ध रखता है। व्याप्तिज्ञान के बिना अनुमान न होगा।

यदि सर्वज्ञत्व के बिना भी हम त्रैकालीय निर्णय कर सकते हैं तो सर्वज्ञ के विषय में भी दे सकते हैं।

दूसरी बात आपने यह लिखी है कि यदि किसी भी वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सके तो इसी से उसका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। सद्भावसिद्धि के लिये प्रमाण देने पड़ते हैं।

वस्तु के निर्णय के लिये जहाँ उसके समर्थक प्रमाणों की आवश्यकता है वहीं उसके निषेधक प्रमाणों के निराकरण की भी। निषेधक प्रमाणों का निराकरण और समर्थक प्रमाणों का भाव इन दोनों में से एक के भी अभाव में वस्तुस्वरूप का वास्तविक निर्णय नहीं होता। इस ही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों भी कह सकते हैं कि इन दोनों में से एक के सद्भाव से ही दूसरे की दृढ़ता होती है।

सर्वज्ञ के सम्बन्ध में भी जैन शास्त्रों में दोनों ही बातें मिलती हैं। जैनाचार्यों ने यदि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में किसी बात को उठा नहीं रक्खा तो उन्होंने उसके निषेधक प्रमाणों की आलोचना में भी किसी बात की कमी नहीं की। प्रस्तुत कथन दूसरे प्रकार का कथन है। सर्वज्ञ के विधि पक्ष में जैनाचार्यों की यह युक्ति नहीं है, किन्तु उसके निराकरण पक्षके प्रमाणों की आलोचना है और वह भी केवल प्रत्यक्ष की। उनका कहना है* कि प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का अभाव प्रमाणित करने के पक्ष में यह बात पैदा होती है कि यह अभाव क्षेत्र विशेष और काल विशेष की दृष्टि से है या सर्व देश और सर्व काल की दृष्टि से। मत भेद को छोड़कर यदि पहली बात मान भी लें तब भी इससे सर्वज्ञ का अभाव नहीं होता, क्योंकि क्षेत्र विशेष और कालविशेष के अभाव की वस्तु के अभाव के साथ व्याप्ति नहीं। यह सम्भव हो सकता है कि वह क्षेत्र विशेष और काल विशेष में न रहे, किन्तु इसका यह भाव कैसे हो सकता है कि वह वस्तु ही नहीं है। एक नहीं अनेकों दृष्टान्त इसके समर्थन में उपस्थित किये जा सकते हैं। बम्बई शहर ही है, इसका कलकत्ता के क्षेत्र विशेष में अभाव है, फिर भी वह अपने अस्तित्व को रखता है!

---

* सर्वविदोऽभावः प्रत्यक्षेणाधिगम्यः प्रमाणान्तरेणवा! नहि सकल देश कालाश्रित पुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण प्रत्यक्षस्त-दाधारमसर्वज्ञत्वं प्रत्येतुं शक्यम्। द्वितीय पक्षेतु न सर्वथा सर्व-ज्ञाभावसिद्धिः। —प्रमेयकमल मार्तण्ड पे० ७२

दूसरे† पक्ष में भी प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का अभाव प्रमाणित नहीं होता। सर्व क्षेत्र और सर्व काल में सर्वज्ञ के अभाव को बतलाने वाला प्रत्यक्ष इनको जानकर इनमें सर्वज्ञ का अभाव करता है या बिना ही जाने—

यदि जानकर तब तो यों कहना चाहिये कि वह प्रत्यक्ष ही सर्वज्ञ है, सर्व देश और सर्व काल के परिज्ञान के अतिरिक्त और सर्वज्ञता ही क्या है? इस प्रकार तो यह सर्वज्ञता के अभाव के बजाय उसका साधक ही होता है। यदि यह उनको बिना ही जाने उनमें सर्वज्ञ का अभाव बतलाता है तब तो इसकी मान्यता ही क्या हो सकती है।

इस तरह यह बात निश्चित हुई कि प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा माना जायगा तो यह अभाव के बजाय भाव को ही सिद्ध करेगा। आक्षेपक का विचार यदि वास्तव में शास्त्रकारों के कथनों की परीक्षा एवम् आलोचना का था तो उनका कर्तव्य था कि वह उनके कथन को उनके भाव में रखते और फिर उसकी आलोचना करते, ऐसा करने से ही वह अपने मन्तव्य को पूरा कर सकते थे।

प्रस्तुत युक्ति के सम्बन्ध में आक्षेपक ने ऐसा नहीं किया है। यदि ऐसा किया होता तो उनको यहां आलोचना योग्य कोई बात ही न मिलती।

---

† तत्र न तावदस्मदादिभिः प्रत्यक्षं सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञस्य बाधकं तेन त्रिकाल भुवनत्रयस्य सर्वज्ञ रहितस्यापरिच्छेदात तत्परिच्छेदे तस्यास्मदादि प्रत्यक्षत्व विरोधात्। नांपियोगि प्रत्यक्षं तद्बाधकं तस्य तत्साधकत्वात्। —आप्त परीक्षा पे० ५६

शास्त्रकार ने जिस बात का कथन प्रत्यक्ष की दृष्टि से किया है आक्षेपक उसको सम्पूर्ण प्रमाणों की दृष्टि से घटित करते हैं। यदि इस बात को बदल दिया जाय और प्रस्तुत युक्ति को शास्त्र-कार के ही भाव में रक्खा जाय तब तो आक्षेपक की बाधायें उपस्थित ही नहीं होतीं।

सर्वज्ञ के बिना त्रैकालिक निर्णय हो सकता है और वह सर्वज्ञ के सम्बन्ध में भी हो सकता है, किन्तु इस प्रकार का निर्णय प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिये तो सर्वज्ञता की ही आवश्यकता है। इससे स्पष्ट है कि जैन शास्त्रकार सर्व-ज्ञता के बिना त्रैकालिक निर्णय के विरोधी नहीं हैं, किन्तु वे प्रत्यक्ष के द्वारा इस बात के निर्णय के लिये सर्वज्ञता को अनि-वार्य बतलाते हैं। व्याप्ति का निर्णय त्रैकालिक है, किन्तु यह प्रत्यक्ष से नहीं होता। अतः व्याप्तिज्ञान एवं अनुमान ज्ञानादिक के अभाव की आपत्ति उनके कथन के सम्बन्ध में उपस्थित नहीं की जा सकती।

इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक की पहिली बाधा शास्त्रकार के कथन के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। दूसरी बाधा के सम्बन्ध में बात यह है कि यदि शास्त्रकार ने यह कहा होता कि हम केवल अभाव सूचक प्रमाणों की आलोचना से ही सर्वज्ञता को सिद्ध करते हैं तब तो आक्षेपक की बात ठीक हो सकती थी। शास्त्रकार तो वस्तु के निर्णय के लिये दोनों ही बातों को आवश्यक मानते हैं। अभाव सूचक प्रमाणों की आलोचना के अतिरिक्त सर्वज्ञ के विधिपक्ष में भी जैन शास्त्रकारों ने अनेक युक्तियां दी हैं। जिस

समय जिस बात का वर्णन हो उस समय उस ही की आलोचना होनी चाहिये, अतः आक्षेपक को यहां तो इस ही युक्ति की सत्यता और असत्यता की परीक्षा करनी थी, न कि वक्तव्य में न्यूनता बतलाना, न्यूनता तो वह तब कह सकते थे जबकि सर्वज्ञ के विधिपक्ष के समर्थन में जैन शास्त्रों में उनको युक्तियां न मिली होतीं।

सर्वज्ञ के भावपक्ष में न हम युक्ति का अभाव ही पाते हैं और न सन्देह ही, अतः इन दोनों पक्षों के सम्बन्ध में बतलाई बातों की आलोचना भी अनुपयोगी है। इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक की दोनों बाधाओं का प्रस्तुत युक्ति पर कोई भी प्रभाव नहीं है।

विद्वान् लेखक ने तृतीय युक्त्याभास का उल्लेख करते हुए तृतीय युक्ति को प्रश्न के रूप में निम्नलिखित शब्दों में लिखा है:—

"यदि सर्वज्ञत्व न होता तो उसका निषेध कैसे होता। क्योंकि सर्वज्ञत्व की अभाव सिद्धि में जो साध्य और हेतु रह जायंगे वे अगर सर्वज्ञरूप पक्ष में हैं तो सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जायगा अगर पक्ष में नहीं हैं तो सर्वज्ञत्वाभास साधक हेतु रहा रहेगा; निराधार होने से वह कुछ भी सिद्ध न कर सकेगा। साथ ही साध्य भी निराधार हो जायगा।"

जिस प्रकार दूसरी युक्ति सर्वज्ञ की विधि में नहीं थी किन्तु सर्वज्ञ के अभाव सूचक प्रमाणों की आलोचना थी और वह भी केवल प्रत्यक्ष की, उस ही प्रकार यह भी सर्वज्ञ के अभाव सूचक प्रमाणों की आलोचना है और वह भी केवल अभाव की।

शास्त्रकार का कहना है* कि यदि अभाव प्रमाण में सर्वज्ञ का अभाव प्रमाणित किया जायगा तो सर्वज्ञ का अस्तित्व ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि बिना सर्वज्ञ के अस्तित्व के इसके विषय में अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

किसी पदार्थ का अभावज्ञान मानसिक ज्ञान है। यह तब ही हो सकता है जबकि उस पदार्थ का ज्ञान हो, जहाँ कि किसी भी पदार्थ का अभाव करना है। साथ ही उस पदार्थ का जिसका अभाव करना है स्मरण होना भी अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में मानसिक अभाव ज्ञान होता है। सर्वज्ञ का अभाव कालत्रय और लोकत्रय में करना है, अतः इनका ज्ञान और सर्वज्ञ का स्मरण हुए बिना सर्वज्ञ के सम्बन्ध में अभाव प्रमाण कैसे हो सकता है, तथा इस प्रकार की परिस्थिति बिना सर्वज्ञ के हो नहीं सकती। अतः यदि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव किया

---

* गृहीत्वा वस्तु सद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥

नचाशेषज्ञनास्तिताधिकरणाखिलदेशकाल प्रत्यक्षता कस्यचिदस्त्यऽतीन्द्रियार्थदर्शित्व प्रसङ्गात् ।.........न ह्यप्रतिपन्ने भूतले घटे च घट निषेधो घटते। —प्रमेयकमल० पे० ७३

निषेध्य सर्वज्ञाधारभूतं त्रिकालं भुवनत्रयं च कुतश्चित्प्रमाणाद् ग्राह्यं तत्प्रतियोगी च प्रतिषेध्यः सर्वज्ञः स्मर्त्तव्यः एवान्यथा तत्र नास्तिताज्ञानस्य मानसस्यानुपपत्तेर्न च निषेध्याधार त्रिकाल जगत्रयसद्भावग्रहणं कुतश्चित्प्रमाणान्मीमांसकस्यास्ति नापि प्रतिषेध्यसर्वज्ञस्य स्मरणं तस्य प्रागननुभूतत्वात्पूर्वं तदनुभवने वा क्वचित्सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभाव साधन विरोधात्।—आप्त परीक्षा ५६।

जायगा तो वह अभाव के स्थान पर उसके भाव को ही प्रमाणित कर देगा।

विद्वान् लेखक ने शास्त्रकार के इस कथन की परवाह नहीं की और उसको एक दम बदल दिया। बदला भी इस ढङ्ग से कि उसमें इस प्रकार की बातों का समावेश कर दिया जिनका प्रतिवाद कि स्वयं शास्त्रकारों ने किया है। आक्षेपक यदि अपने ध्यान को भट्टाकलङ्क की अष्टशती एवं विद्यानन्दि की अष्टसहस्री पर ले जायँगे तो आपको मालूम होगा कि इस प्रकार की बातें जिनको आप जैन शास्त्रकारों की बातें बतला रहे हैं उन्होंने अज्ञानियों की बातें बतलाई हैं।† जैन शास्त्रकारों द्वारा खण्डित जिन बातों को आपने जैन शास्त्रकारों की बतलाकर उन पर जो-जो आपत्तियाँ की हैं वे ही एवं उनसे भी बढ़ी-चढ़ी बातें शास्त्रकारों ने सिद्धान्त के रूप में बतलाई हैं।

इससे स्पष्ट है कि शास्त्रकारों का प्रसिद्ध प्रस्तुत केवल अभाव-प्रमाण की दृष्टि से है और इस पर इसही रूप में रखने से वे बाधायें जोकि आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में बतलाई हैं बिल्कुल

---

† धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभय धर्माणामसिद्ध विरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि सत्व सिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानां प्रियस्तद्धर्मिस्वभावं न लक्षयति········विमत्यधिकरण भावापन्न विनाश धर्मि धर्मत्वे कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि संदिग्धसद्भाव धर्मिधर्मत्वं सिद्धं बौद्धव्यम्। भट्टाकलङ्क। अष्टसहस्री छपी पेज ५८-६

इसके सम्बन्ध में विशेष परिचय के लिये इसही की टीका—अष्टसहस्री को इनही पेजों पर देखना चाहिये।

घरित नहीं होतीं। हाँ यदि इस प्रकार का कथन अनुमान की दृष्टि से होता और वहाँ यह बतलाया गया होता कि यदि अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव प्रमाणित किया जायगा तो सर्वज्ञ के अभाव के बजाय सर्वज्ञ का भाव ही प्रमाणित हो जायगा, तब तो विद्वान् लेखक का कथन यहाँ पर घरित हो सकता था, किन्तु यहाँ ऐसा है नहीं।

इसही को यदि सीधे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि विद्वान् लेखक ने जिन वाक्यों को जैन शास्त्रकारों के बतला कर पूर्वपक्ष स्वरूप प्रश्न के रूप में लिखा है यह उनकी कल्पना-मात्र है न कि जैन शास्त्रकारों का कथन। अतः उनका निराकरण भी विद्वान् लेखक की निजी कल्पना का निराकरण है न कि जैन-शास्त्रकारों के वक्तव्य का। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत युक्ति युक्ति ही है न कि युक्त्याभास।

विरोध—यदि जैनाचार्यों का यह कहना नहीं है तो उनका यह खंडन नहीं कहलायगा! मुझे किसी खास आचार्य या कृति का खण्डन नहीं करना है, किन्तु जिस किसी का भी यह वक्तव्य हो उसका खण्डन करना है। आज कल ऐसे बहुत से अर्द्ध दग्ध लोग हैं जो ऐसी कुयुक्तियों से ही सर्वज्ञ सिद्धि मान बैठते हैं। दूर जाने की जरूरत नहीं है अभी ता० १-११-३३ के जैन मित्र में एक ब्रह्मचारी कहलाने वाले भाई ने इसी ढङ्ग की युक्ति का उपयोग करके सर्वज्ञसिद्धि करना चाही है।.........किसी बात का मैं खंडन करता हूँ वह अगर जैनाचार्यों की नहीं है तो इससे यही सिद्ध हुआ कि वह बात जैनाचार्यों की नहीं है परन्तु

इससे उसका खण्डन असत्य नहीं हो जाता। युक्त्याभासों की आलोचना में मैंने साफ लिख दिया है कि सर्वज्ञ के विकृत रूप को सिद्ध करने के लिये प्राचीन और नवीन लेखकों ने अनेक युक्त्याभासों का प्रयोग किया है। सत्य की खोज के लिये उन पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। मतलब यह है कि आजकल के लेखकों की कुयुक्तियों का भी खण्डन करना था इस लिये यह खंडन किया...............वृहत् सर्वज्ञसिद्धि में अनन्त वीर्य ने भी इसी ढङ्ग के विचार प्रगट किये हैं।

परिहार—जब कि आक्षेपक यह स्वीकार कर लेते हैं कि उन्हों ने द्वितीय युक्त्याभास के खंडन में जैनाचार्यों के अभिमत का खंडन नहीं किया है तब इसके सम्बन्ध में कुछ कहने की जरूरत नहीं रह जाती। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि आक्षेपक का यह कहना कि उन्होंने यह खंडन आजकल के लेखकों की युक्तियों के प्रतिवाद के लिये किया है मिथ्या है। यह तो उनको तब कहना पड़ता है जब कि वह अपने प्रस्तुत खंडन का जैनाचार्यों के पूर्वपक्ष के साथ सम्बन्ध में घटित नहीं कर सके हैं या उनको उनका खंडन बिलकुल मिथ्या प्रतीत होचुका है। यदि बात ऐसी न होती तो आपको यद्वा तद्वा बातें लिखने की आवश्यकता न होती। आपने जैनमित्र १-११-३४ के एक लेख का उल्लेख किया है। आक्षेपक ने मित्र के इस लेख का उल्लेख करते हुए इस बात का ध्यान नहीं रक्खा कि उनका यह खंडन अप्रेल सन् ३३ अर्थात् मित्र के इस लेख में करीब १॥ वर्ष पूर्व का है। ऐसी अवस्था में यह तो किसी भी प्रकार माना नहीं जा सकता कि

आपने प्रस्तुत लेख को सामने रख कर यह खंडन लिखा है।

अन्य किसी लेख को आप उपस्थित कर नहीं सके हैं, ऐसी अवस्था में यही कहना होगा कि आक्षेपक ने प्रस्तुत खंडन जैनाचार्य के ही वक्तव्य को सामने रख कर लिखा था किन्तु अब जब कि आप उसको उसके सम्बन्ध में समुचित नहीं पा रहे हैं तब आपने नवीन लेखक शब्द का आधुनिक लेखक अर्थ करके इसको आजकल के लेखकों के कथन के सम्बन्ध में घटित करने की चेष्टा की है। किन्तु आप अपने इस प्रयास में भी असफल ही प्रमाणित हुए हैं। किसी का भी खण्डन क्यों न सही जब तक वह उसके वास्तविक भाव के अनुसार नहीं किया गया है या उसका आधार ही नहीं है तब तक उसको मिथ्या ही कहना होगा अतः प्रगट है कि आक्षेपक का युक्त्याभास द्वितीय के खण्डन के रूप में लिखा गया वक्तव्य मिथ्या है।

वृहतसर्वज्ञसिद्धि नाम के अपने लेख में अनन्तवीर्य ने सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध में अवश्य अनेक दृष्टियों से विचार किया है किन्तु प्रत्यक्ष से सर्वज्ञाभाव मानने के पक्ष में सर्वज्ञ का ही सद्भाव हो जायगा यह बात उनकी उन पंक्तियों में नहीं है जिनका आक्षेपक ने उल्लेख किया है। दूसरे यह बात तो आक्षेपक के लिये भी आक्षेपयोग्य नहीं है अन्यथा उन्होंने हमारे इस कथन पर स्वयं आक्षेप किया होता अतः इस दृष्टि से भी अनन्तवीर्य के कथन के सम्बन्ध में यहाँ विचार करना उपयोगी नहीं है।

विरोध—आक्षेपक को भ्रम हो गया है कि मैंने अमुक पुस्तकें रख कर सर्वज्ञ खण्डन किया है। इस लिये वे बार बार यह

दुहाई दिया करते हैं कि यह कथन आचार्यों का नहीं है आदि, परन्तु उन्हें समझना चाहिये कि मैं यहां किसी ग्रन्थ या आचार्य का खण्डन करने नहीं बैठा हूँ, किन्तु सर्वज्ञ की सिद्धि के विषय में जो २ बातें कही गई हैं, कही जाती हैं और कही जा सकती हैं उनका खण्डन करने बैठा हूँ। तीसरा युक्त्याभास जिसका कि मैंने खण्डन किया है एक निर्बल युक्ति है। आपको इसके समझने में भूल हुई है कि यह मार्तण्ड के अभाव प्रमाण वाले उद्धरण का परिवर्तित रूप है।

परिहार—आक्षेपक ने युक्तियों में युक्त्याभास वाले अपने सर्वज्ञत्व मीमांसा के प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—'सर्वज्ञता के विकृतरूप को सिद्ध करने के लिये प्राचीन, नवीन लेखकों ने अनेक युक्त्याभासों का प्रयोग किया है, सत्य की खोज के लिये उन पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।"

आक्षेपक की इस प्रतिज्ञा से इतना तो अवश्य मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने इस प्रकरण में उन ही युक्तियों पर विचार किया है जो कि सर्वज्ञत्व के समर्थन में प्राचीन या नवीन लेखकों द्वारा उपस्थित की जा चुकी थीं। अब जब कि उनको अपना खंडन निराधार प्रतीत होने लगा है या जिसको उन्होंने जिसके सम्बन्ध में उपस्थित किया था वह उसके उपयुक्त नहीं हुआ है तब आप लिखते हैं कि "मैं यहाँ किसी मनुष्य या आचार्य का खण्डन करने नहीं बैठा हूं किन्तु सर्वज्ञसिद्धि के विषय में जो २ बातें कही जाती हैं या कही जा सकती हैं उनका खण्डन करने बैठा हूं"।

आक्षेपक को यदि संभवित युक्तियों का ही खण्डन करना अभीष्ट था तब उनको प्राचीन और नवीन लेखकों के खण्डन की प्रतिज्ञा की जरूरत नहीं थी। अतः प्रगट है कि खंडन करते समय तो आक्षेपक का ध्यान अवश्य किसी लेखकी तरफ ही रहा है किंतु अब जब कि उसके सम्बन्ध में उनका खंडन युक्तियुक्त प्रमाणित नहीं हो सकता है तब उनको ऐसा लिखना पड़ा है। इन सब बातों को छोड़ भी दिया जाय और आक्षेपक की ही बातों को मान लिया जाय तब भी यह तो अवश्य मानना ही चाहिये कि सर्वज्ञाभाव के समर्थन में अभाव प्रमाण का अवलम्बन ठीक नहीं तथा मार्तण्ड का यह कथन खंडन की सीमा से बाहर है।

विरोध—प्रश्न यह है कि क्या सर्वज्ञ के अस्तित्व के बिना अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ? यदि ऐसा होता तब तो खर विषाण के अस्तित्व के बिना खर विषाण में भी अभाव प्रमाण की प्रवृति न होनी चाहिये इस प्रकार किसी भी वस्तु का अभाव सिद्ध न किया जा सकेगा। फिर तो खरविषाण, खपुष्प, बन्ध्यापुत्र आदि सभी वस्तुएं सिद्ध हो जाँयगी। यद्यपि जैन न्याय में अभाव प्रमाण नहीं माना है किन्तु यहाँ तो अभाव प्रमाण को मान कर ही उसका उल्लेख हुआ है। इसीलिये मैंने भी मान कर उसका उल्लेख किया है।

परिहार—आक्षेपक ने उपर्युक्त वाक्य हमारे निम्नलिखित वाक्यों के सम्बन्ध में लिखे हैं। "यदि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव प्रमाणित किया जायगा तो सर्वज्ञ का अस्तित्व ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि बिना सर्वज्ञ के अस्तित्व के इसके विषय

में अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

किसी पदार्थ का अभावज्ञान मानसिक ज्ञान है। यह तब हो सकता है जब कि उस पदार्थ का ज्ञान हो जहाँ कि किसी भी पदार्थ का अभाव करना है साथ ही उस पदार्थ का जिसका अभाव करना है स्मरण होना भी अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में मानसिक अभाव ज्ञान होता है। सर्वज्ञ का अभाव कालत्रय और लोकत्रय में करना है अतः इनका ज्ञान और सर्वज्ञ के स्मरण हुए विना सर्वज्ञ के सम्बन्ध में अभाव प्रमाण कैसे हो सकता है। तथा इस प्रकार की परिस्थिति बिना सर्वज्ञ के हो नहीं सकती अतः यदि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव किया जायगा तो वह अभाव के स्थान पर उसके भाव को ही प्रमाणित कर देगा।

आक्षेपक ने हमारी इन पंक्तियों की परिस्थिति पर विचार नहीं किया अन्यथा उनको प्रस्तुत दूषण के उद्भावन का कष्ट न उठाना पड़ता। अभाव या किसी भी अन्य प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव मीमांसक बतलाता है। जैन लोग तो इन प्रमाणों का प्रयोग सर्वज्ञ के सद्भाव में ही करते हैं। अतः निषेधपरक जितने भी प्रमाण मिलेंगे वे सब मीमांसक या उस जैसे विचार रखने वाले ही दार्शनिक के समझने चाहिये।

प्रस्तुत वक्तव्य भी उस ही की दृष्टि से है। मीमांसक जिस परिस्थिति में अभाव प्रमाण की उत्पत्ति मानता है वह एक ऐसी परिस्थिति है कि यदि उससे सर्वज्ञ के अभाव को प्रमाणित करने की चेष्टा की जायगी तो वह सर्वज्ञ के अभाव के स्थान पर उसके

भाव को ही प्रमाणित करेगा इसका स्पष्ट वर्णन हमारे ऊपर उद्धृत वाक्यों में मौजूद है। अतः यह जो कुछ भी कहा गया है वह मीमांसक के प्रति उसके ही मान्य सिद्धान्त के अनुसार किया गया है। इसका उत्तरदायित्व भी उस ही पर है। जैन दार्शनिकों ने तो धर्मी को विकल्पसिद्ध मान कर फिर उसके सम्बन्ध में भावाभाव के निर्णय का विधान किया है। अतः आक्षेपक के प्रस्तुत दूषणका हम पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव बतलाने में आचार्यों ने जो सर्वज्ञ सद्भाव का उसको उपालम्भ दिया है वह अक्षरशः सत्य है।

आक्षेपक ने चौथे युक्त्याभास का उल्लेख करते हुए चौथी युक्ति को निम्नलिखित शब्दों में लिखा है:—

"कोई प्राणी थोड़ा ज्ञानी होता है कोई अधिक। इस प्रकार ज्ञान की तरतमता पाई जाती है। जहाँ तरतमता है वहाँ कोई सबसे छोटा और कोई सबसे बड़ा अवश्य है। जिस प्रकार परमाणु परमाणु में सब से छोटा और आकाश में सब से बड़ा (अनन्त) है, उसी प्रकार कोई सब से बड़ा ज्ञानी भी होगा, किन्तु वह अनन्त ही होगा।"

इसके सम्बन्ध में आपका कहना है कि जहाँ तक इस व्याप्ति का सब से छोटे और सब से बड़े से सम्बन्ध है वहाँ तक तो हम इससे सहमत हैं किन्तु जब इस सब से बड़े को अनन्त बतलाया जाता है, तब ही हमारा मतभेद हो जाता है। जैसा कि आपके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है:—

"जहाँ तरतमता है वहाँ कोई सब से बड़ा अवश्य होगा परन्तु वह अनन्त होना चाहिये यह नियम नहीं है ।"

दूसरी बात आपने यह बतलाई है कि जितना ज्ञान रहता है उतना कार्य नही होता।

तरतमता से सिद्ध होने वाले सब से बड़े की व्याप्ति यदि अनन्त के साथ नहीं है तो सान्त के साथ भी नहीं है। जिस प्रकार कि तरतमता से सिद्ध होने वाली सब से बड़ी वस्तुएँ सान्त भी हैं, उस ही प्रकार अनन्त भी। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, स्वयम् आक्षेपक ने इसी स्थान में आकाश को अनन्त स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था में ज्ञान को सब से बड़ा मानकर भी यदि इस ही व्याप्ति के आधार से उसको अनन्त सिद्ध नहीं किया जा सकता तो इस ही के आधार से उसकी अनन्तता का निराकरण भी नहीं किया जा सकता।

ज्ञानों में तरतमता उनकी व्यक्ति की दृष्टि से है न कि उनकी शक्ति की दृष्टि से। शक्ति की दृष्टि से तो सब ही ज्ञान तुल्य हैं। आक्षेपक ने भी अभी तक इसके सम्बन्ध में कोई आपत्ति उपस्थित नहीं की है। व्यक्ति शक्ति के अनुरूप ही हुआ करते हैं। यह एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है। ज्ञान की शक्ति अनन्त है, अतः व्यक्ति की दृष्टि से सब से बड़ा ज्ञान भी अनन्त ही होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस युक्ति के (चौथी के) सम्बन्ध में आक्षेपक ने जितनी भी बाधायें उपस्थित की थीं वे सब निराधार हैं, अतः प्रस्तुत युक्ति युक्ति ही है न कि युक्त्याभास !

इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने एक निम्न लिखित प्रश्न भी उपस्थित किया है:—

एक केवली का ज्ञान दूसरे केवली के ज्ञान को जान सकता है या नहीं ? यदि नहीं जानता तो सर्वज्ञ कैसा ? यदि जानता है तो ज्ञाता केवली का ज्ञान दूसरे केवली से बड़ा कहलाया, तभी तो दूसरे केवली का ज्ञान ज्ञाता केवली के ज्ञान के भीतर आ गया। इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट ज्ञानियों में भी तरतमता हुई, इससे उनकी सर्वोत्कृष्टता नष्ट हो गई।"

एक सर्वज्ञ का ज्ञान दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानता है, इसका यह मतलब नहीं कि उसके जानने वाले की भी उसके जानने में उतनी ही शक्ति उपयोग में आती है जितनी कि उसकी अपने ज्ञेयों के जानने में। दर्पण ही है—इसमें अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, किन्तु इसके जानने के लिये उतनी शक्ति की आवश्यकता नहीं जितनी कि उन पदार्थों को पृथक २ जानने में आवश्यक होती !

जिस प्रकार अनेक पदार्थों को प्रतिबिम्बित करना दर्पण का एक स्वभाव है और उस स्वभाव के अनुसार कार्यान्वित दर्पण को जानना एक पदार्थ का जानना है, उस ही प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करना पूर्ण शुद्ध ज्ञान का एक स्वभाव है और इस स्वभाव के अनुसार कार्यान्वित ज्ञान को जानना एक पदार्थ का जानना है।

आत्मा में दो स्वतन्त्र गुण हैं—एक जानने का जिसको चेतना कहते हैं। दूसरा जाने जाने का जिसको प्रमेयत्व कहते हैं। जब कि आत्मा पहिले गुण से जानता है तभी वह दूसरे गुण से जाना जाता है।

स्पष्टता के लिये इस ही को यों समझियेगा ! दो इञ्जन हैं, जिनमें सोलह २ घोड़ोंकी शक्ति है और चालीस २ मील प्रतिघण्टा के हिसाब से चल सकते हैं ! इन ही में से एक को यदि ट्रेन के अन्य डिब्बों के साथ साथ जोड़ दिया जाता है और दूसरा इसको खींच ले जाता है तो क्या दूसरे को इसके खींचने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगानी पड़ती है ? यदि ऐसा ही स्वीकार कर लें तब भी यह न खिचना चाहिये, क्योंकि इसकी शक्ति भी तो उतनी ही है जितनी कि खींचने वाले की और यदि इसका खिचना भी मान लें तो भी इसके साथ के दूसरे डिब्बों का खिचना तो बिलकुल ही असम्भव हो जाता है, किन्तु इस प्रकार की बातें प्रति दिन हुआ करती हैं !

दोनों इंजिनों में जहाँ खींचने की शक्ति है वहीं खिचने की भी। खींचते समय उसकी खींचने की शक्ति प्रयोग में आती है और खिचते समय खिचने की !

जहाँ कि इन दोनों इञ्जिनों में सोलह घोड़ों की या सोलह डिब्बों के खींचने की शक्ति है वहीं स्वयम् के खिचने की। अतः एक इञ्जिन दूसरे को खींचलेता है और फिर भी उसकी खींचने की शक्ति बाकी रह जाती है जिसके कि द्वारा वह अन्य डिब्बों को खींचता है।

यदि खिचते समय भी खींचने की शक्ति उपयोग में आती होती तब तो एक इंजिन का दूसरे के द्वारा खिचना असम्भव हो जाता या एक के बल को दूसरे के बल से कम मानना पड़ता !

ठीक ऐसी ही बात सर्वज्ञों के ज्ञानोंके सम्बन्ध में है ! जब एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानता है उस समय उन दोनों की भिन्न २ शक्तियाँ प्रयोगमें आती हैं। पहिले की जानने की तो दूसरे की जाने जाने की। जहाँ कि इनमें अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है वहीं केवल स्वयम् के जाने जाने की। अतः जब एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ को जानता है तब उसकी उतनी ही शक्ति प्रयोग में आती है न कि सम्पूर्ण। अतः वह उस ही समय अन्य पदार्थों को भी जानता रहता है।

यदि जाने जाते समय भी जाने जानेके लिये जानने की ही शक्ति उपयोग में आती तब तो यह कहा जा सकता था, कि एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ को नहीं जान सकता, क्योंकि दोनों की शक्तियाँ तुल्य हैं और यदि जानता है तो उनकी शक्तियों में विषमता है !

इससे स्पष्ट है कि एक सर्वज्ञ का दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानना केवल एक ज्ञेय का जानना है और ऐसी अवस्था में जहाँ जानने वाले सर्वज्ञ का ज्ञान गुण प्रयोग में आता है वहीं जाने जाने वाले का प्रमेयत्वगुण !

एक सर्वज्ञ का दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानना केवल एक ज्ञेय का जानना है, इस बात के स्वीकार कर लेने पर तो अस-मानता की बात ही उपस्थित नहीं होती। इसको यों घटित किया जा सकता है कि समान सम्पत्ति वाले एकसौ व्यक्ति हैं और सब ही एक २ रुपया प्रत्येक को देते हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक को ९९ ही देने पड़ेंगे और ९९ ही उसको मिलेंगे। देने और लेने की एक संख्या होने से उनकी सम्पत्ति में अन्तर आने की संभा-वना ही नहीं।

ठीक ऐसी ही बात सर्वज्ञों के सम्बन्ध में है। जितने भी सर्वज्ञ हैं वे सब एक दूसरे के ज्ञानों को जानते हैं अतः उनके ज्ञानों में भी न्यूनाधिकता की सम्भावना नहीं। अतः इसके आधार से दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान में पहिले सर्वज्ञ के ज्ञान की दृष्टि से छोटापन नहीं माना जा सकता।

इससे स्पष्ट है कि इस प्रश्न से भी आक्षेपक का मनोरथ सिद्ध नही होता।

चौथी युक्ति की समीक्षा के प्रकरण में आक्षेपक ने दूसरी बात यह बतलाई है कि जितना ज्ञान रहता है उतना कार्य नहीं होता। आपने अपनी इस बात के समर्थन में ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों की न्यूनाधिकता को उपस्थित किया है! आपका कहना है कि ज्ञान में जिस प्रकार अविभागी प्रतिच्छेदों की संख्या बढ़ती जाती है उसही प्रकार उसके ज्ञेयों की संख्या में वृद्धि नहीं होती।

ज्ञान में अविभागी प्रतिच्छेदों का अस्तित्व उसके अविभागी अंशों की दृष्टि से है न कि ज्ञेय की दृष्टि से। अतः अविभागी अंशों की न्यूनाधिकता से ही ज्ञान में अभिवागी प्रतिच्छेदों की वृद्धि होती है।

कहने का मतलब यह है कि ज्यों-ज्यों ज्ञानावर्णी कर्म का अभाव होता है त्यों-त्यों ज्ञान का अधिकाधिक प्रकाश होता है। जितने-जितने अधिक अंशों का प्रकाश होता है उतने-उतने ही अविभागी प्रतिच्छेदों की वृद्धि होती है।

ज्ञान में अविभागी प्रतिच्छेदों का अस्तित्व यदि अविभागी अंशों की बजाय ज्ञेयों की दृष्टि से होता तब तो अविभागी प्रति-

च्छेदों की वृद्धि के साथ ही साथ तदनुरूप हो ज्ञेयों की वृद्धि भी अनिवार्य थी, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः एक निगोदिया जीव के ज्ञान में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों के रहते हुए भी यदि वह अनन्त पदार्थों को नहीं जानता तो इसमें हानि की कौन सी बात है ?

यही बात दूसरे निगोदिया और अन्य ज्ञानधारियों के संबन्ध में है ! अतः इसके आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि जितना ज्ञान रहता है उतना कार्य नहीं होता !

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि प्राणी के चारों तरफ एक विद्युत तेज (human electricity or magetism) रहता है और ज्यों ज्यों उसके विचारों में अन्तर होता रहता है त्यों २ उस विद्युत तेज के रङ्ग में भी परिवर्तन हो जाता है। इस बात का परीक्षण अमेरिका में सन् १६२६ में हो चुका है। इससे स्पष्ट है कि विचारों के परिवर्तन के अनुरूप ही वाह्य परिवर्तन भी होता है। अतः आक्षेपक का यह कहना कि जितनी गुणी कषाय होती है उतने गुणा उसका बाहिरी असर नहीं होता समुचित प्रतीत नहीं होता, अतः कषाय का दृष्टान्त भी ज्ञान के सम्बन्ध में उपयुक्त नहीं।

विरोध—"इस आक्षेप के उत्तर में मुझे तीन बातें कहनी हैं। पहिली तो यह है कि जैन शास्त्रकारों ने ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान में अधिक अविभागी प्रतिच्छेद माने हैं। इस हिसाब से एक केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों को अगर कोई जानना चाहे तो उसे उससे अनन्तानन्त गुणा होना चाहिये। इस दृष्टि से केवल ज्ञानों में भी न्यूनाधिकता सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार एक

केवली के लिये दूसरे केवली के अविभाग प्रतिच्छेद तो अज्ञेय ही रहेंगे।

दूसरी यह कि एक ज्ञान से जब अनेक पदार्थ जाने जाते हैं तब उनकी विशेषतायें उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होती। एक दर्पण के भीतर एक पहाड़ का भी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, परन्तु पहाड़ का सामान्य आकार ही प्रतिबिम्बित होगा, उसका प्रत्येक परमाणु नहीं। अगर पूर्णरूप में प्रतिबिम्बित करना चाहें तो अपने से बड़े का प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता। एक केवल ज्ञान में जब दूसरे केवल ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़ेगा और अन्य पूरे केवलज्ञानों तथा दूसरे पदार्थों का भी प्रतिबिम्ब पड़ेगा तब केवल ज्ञान पूरे रूप में प्रतिबिम्बित न हो सकेगा। इसका सामान्यकार ही प्रतिबिम्बित होगा विशेषाकार रह जायगा और यही बात सर्वज्ञता के अभाव के लिये काफी है।

तीसरी बात ऐंजिन के दृष्टान्त के विषय में है। एक ऐंजिन दूसरे को खींच सकता है परन्तु यह तभी जबकि दूसरा ऐंजिन वास्तव में ऐंजिन न रहे अर्थात् वह ऐंजिन की तरह काम न करें। इसी प्रकार अगर केवलज्ञान की शक्ति निश्चेष्ट पड़ी हो तो उस साधारण ज्ञान के समान केवल ज्ञान को दूसरे केवलज्ञान जानलें परन्तु जब वह अपनी पूरी शक्ति से काम कर रहा हो तब उसे दूसरे ज्ञान पूरे रूप में कैसे जान सकते हैं। यह कहना हास्यास्पद है कि "दो केवल ज्ञान एक दूसरे को आपस में जान लेंगे इसलिये उनका लेन-देन बराबर हो जायगा।" जिस प्रकार समान सम्पत्ति वाले सौ व्यक्ति एक-दूसरे को एक-एक रुपया दें तो दे लेकर सब

ज्यों के त्यों बने रहते हैं।" इस उदाहरण में देने की कमी लेने से पूर्ण हो जाती है, किन्तु यह बात नहीं है आदि।

परिहार—जहाँ तक ज्ञेयों की अपेक्षा ज्ञान में अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के वर्णन की बात है वहाँ तक इसमें हमको भी विरोध नहीं है, किन्तु जब आक्षेपक दूसरे केवल ज्ञानी के ज्ञान के प्रत्येक अविभाग परिच्छेद को जानने के लिये ज्ञान में भी उतने ही अविभाग प्रतिच्छेद बतलाते हैं तथा फिर इसके आधार से ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में बतलाये गये उसके अविभाग प्रतिच्छेदों से अधिकता कहते हैं तब हम आपकी बात को स्वीकार करने को तय्यार नहीं हैं। यह बात हम अनेक बार स्पष्ट कर चुके हैं कि ज्ञान में अविभाग प्रतिच्छेदों का होना उसके निजी शक्ति अंशों से है न कि उसके द्वारा जाने वाले ज्ञेयों की संख्या से। यदि ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या उसके ज्ञेयों की संख्या पर ही अवलम्बित होती या यों कहिये कि ज्ञान अपने भिन्न-भिन्न अविभाग प्रतिच्छेदों से ही भिन्न-भिन्न ज्ञेयों का ज्ञाता होता तब तो ऐसी कल्पना को स्थान हो सकता था। आक्षेपक अपने इसही आक्षेप में स्वीकार कर चुके हैं कि ज्ञेयों की संख्या से ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या अधिक है या ऐसा जैन शास्त्र बतलाते हैं तब फिर आपको यह भी तो विचारना चाहिये था कि अब मैं ज्ञेयों के आधार से ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों को किस प्रकार बतला सकता हूँ?

यदि अभ्युपगम सिद्धान्त से थोड़ी देर के लिये आपके ही कथन को मान लिया जाय तो यह तो देखना ही होगा कि यदि

भिन्न-भिन्न ज्ञेय के जानने को ज्ञान में भिन्न-भिन्न अविभाग प्रतिच्छेद की आवश्यकता है तो क्या ज्ञेय के भिन्न २ अंश को भी जानने के लिये ज्ञान में भिन्न २ अविभाग प्रतिच्छेद चाहिये। अंशों और अंशी पदार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। न अंश ही अंशी से भिन्न है और न अंशी ही उनसे भिन्न। जब भी जिसको जाना जाता है उसके अंशों के सहित ही जाना जाता है। अब अंशों से भिन्न अंशी कोई चीज ही नहीं तब उनसे भिन्न अंशी का ज्ञान भी किस प्रकार माना जा सकता है। अंशों से युक्त अंशी के प्रतिभास में ही कोई ज्ञाता उसको जानते हुए भी उसको थोड़े अंश सहित जानता है और कोई अधिक। किन्तु ये सब एक अंशी के ज्ञान हैं। इसही प्रकार दूसरे केवल ज्ञानी के ज्ञान को केवली जानता है किन्तु यह उसके एकही केवल ज्ञान को जानता है। उसके इस ज्ञान को अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान नहीं माना जा सकता जिससे इसही के आधार से जानने वाले केवली के ज्ञान में अविभाग प्रतिच्छेदों की न्यूनाधिकता के वर्णन को स्थान मिल सके।

अनन्त प्रदेशी आकाश और स्कन्ध आदि के सम्बन्ध में प्रश्न उठाकर स्वयं आक्षेपक भी एक स्थानपर ऐसा ही स्वीकार कर चुके हैं * जिसने एक स्थान में स्वयं जिस बात को स्वीकार किया है

---

* प्रश्न—तब तो हमें यह ज्ञान कभी न होगा कि काल अनन्त है, क्षेत्र अनन्त है और न अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध को हम जान सकेंगे।

उत्तर—काल की अनन्तता को हम जान सकते हैं क्योंकि

अवसर पड़ने पर वही उसका प्रतिवाद करे इससे बढ़कर और क्या हास्य की बात है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि एक केवली के द्वारा दूसरे केवली ज्ञान को जानने के सम्बन्ध में आक्षेपक की पहिली आपत्ति मिथ्या है।

ज्ञान साकार है और दर्पण भी साकार है, किन्तु दर्पण और ज्ञान की साकारता में जमीन और आसमान का सा अन्तर है। दर्पण यदि जड़ है तो ज्ञान चेतन है। दर्पण की साकारता में पदार्थ का प्रतिविम्ब पड़ता है या उसके (पदार्थ के) निमित्त से उसका (दर्पण का) पदार्थाकार परिणमन है। ज्ञान में इन दोनों ही बातों का अभाव है। ज्ञान की साकारता से तात्पर्य तो उसकी सविषयता से है। साकार शब्द का सीधा और सरल अर्थ आकार सहित है। प्रस्तुत "आकार" शब्द का अर्थ "अर्थ विकल्प" है अर्थ का तात्पर्य "स्व और पर" से है। "स्व" शब्द से ज्ञाता

काल की अनन्तता एक ही पदार्थ है। अनन्तत्व एक धर्म है और अनन्तत्वयुक्त काल को जानना एक पदार्थ को जानना है। इसी प्रकार क्षेत्र की अनन्तता को जानना भी एक पदार्थ को जानना है। स्कन्धों में आप अनन्त परमाणु मानते हैं: परन्तु मैं असंख्य मानता हूं। (इसका कारण आगे किसी अध्याय में बतलाया जावेगा) खैर अनन्त हो या असंख्य, यहां उससे कुछ बाधा नहीं है, क्योंकि अनन्त या असंख्य परमाणुओं का स्कन्ध एक ही है, और हम एक स्कन्ध को जानते हैं, उसके प्रत्येक परमाणु को अलग-अलग नहीं जानते। यह स्कंध अनन्त प्रदेशी है, इस प्रकार के ज्ञान में स्कंध का अनन्त प्रदेशित्व नामक एक धर्म जाना गया है। —जैनजगत् वर्ष ८ अङ्क १३

ज्ञान को समझना चाहिये तथा "पर" से ज्ञेय पदार्थ को। इस ही प्रकार "विकल्प" का अर्थ सोपयोगता है।* इससे प्रगट है कि ज्ञान की साकारता और दर्पण की साकारता भिन्न २ हैं। अतः ज्ञान की साकारता के निर्णय के सम्बन्ध में दर्पण की साकारता को उदाहरण के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता।

दूसरे आक्षेपक की प्रस्तुत आपत्ति तो दर्पण के सम्बन्ध में भी समुचित नहीं है। आपका लिखना कि "जब अनेक पदार्थ जाने जाते हैं तब उन की विशेषतायें उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होतीं" एक तर्क एवं अनुभवशून्य बात है। दर्पणमें एक ही समय अनेक पदार्थों के आकार झलकते हैं। किन्तु फिर भी उसमें उनकी विशेषतायें नष्ट नहीं होजातीं। अनेक रङ्गकी अनेक वस्तुओं को दर्पण के सामने रख कर इसकी परीक्षा की जा सकती है। अनेक सभाओं के चित्र लिये जाते हैं। इनमें अनेक व्यक्तियों के आकार आते हैं तथा इनको अलग-अलग पहिचाना जाता है। इस प्रकार के चित्र एक ही समय तथा एक ही शीशे पर लिये जाते हैं। एक साथ अनेक पदार्थों का आकार पड़ने से यदि उनकी विशेषतायें न झलकतीं और उनकी समानता ही झलकती होती तब तो एक ही चित्र या एक ही दर्पण में एक साथ अनेक मनुष्यों के आकार नहीं दीखने चाहिये थे। अतः आक्षेपक के इस कथन की अनुभव शून्यता तो बिलकुल स्पष्ट ही है।

---

*आकारोऽर्थ विकल्पः स्यादर्थ स्वपर गोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम ॥
—पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ३९१

यहां पर इतना लिख देना भी अनुपयोगी न होगा कि हम आपके निम्नलिखित वाक्य से भी सहमत नहीं हैं।

"एक दर्पण के भीतर एक पहाड़ का भी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, परन्तु पहाड़ का सामान्य आकार ही प्रतिबिम्बित होगा उसका प्रत्येक परमाणु नहीं ;"

पदार्थ में समानता दूसरे की दृष्टि से है। या यों कहिये कि एक पदार्थ का वह स्वरूप जो कि दूसरे पदार्थों में भी पाया जाता है उसका सामान्य धर्म कहलाता है। यही बात पहाड़ के आकार के सम्बन्ध में है। पहाड़ का भी वही आकार उसका सामान्याकार स्वीकार किया जा सकता है जो दूसरे पहाड़ों से भी मिलता है। किसी पहाड़ का चित्र लेते समय या दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब लेते समय उसका ऐसा आकार नहीं आया करता प्रत्युत उसका विशेषाकार ही आया करता है। यदि यह बात ऐसी न होती और वही होती जैसी आक्षेपक बतला रहे हैं तब तो किसी भी पहाड़ के चित्र से उसको पहिचाना नहीं जा सकता था। ऐसी बातें प्रति दिन होती हैं। शिखरजी के चित्र से शिखरजी का बोध होता है। इस ही प्रकार दूसरे पहाड़ों के चित्रों से उन को पहचाना जाता है अतः इसके सम्बन्ध में विशेष लिखने की जरूरत नहीं है।

दूसरे यदि किसी भी दर्पण में अपने से छोटे पदार्थ का ही आकार आता तो पदार्थों के छोटे बड़े दर्पणों में आने वाले आकारों में अन्तर होना चाहिये था। आक्षेपक की मान्यता के अनुसार जो पदार्थ अपने बराबरके दर्पण में प्रतिबिम्बित होगा

उसमें तो उसका आकार पूरा पूरा आयेगा किन्तु यदि वही पदार्थ अपने से छोटे दर्पण में प्रतिम्बित होगा तब उसका वैसा आकार नहीं आवेगा। ऐसी अवस्था में इन छोटे बड़े दर्पणों के प्रतिविम्बों में अन्तर होना चाहिये। यह सब बातें अनुभव के प्रतिकूल हैं। आक्षेपक को मालूम करना चाहिये कि दर्पणों के आकारों में अन्तर दर्पणों की आकार विभिन्नता से नहीं है किन्तु उनकी दूसरी विशेषताओं से ऐसा हुआ करता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पूर्ण आकार के लिये उससे छोटापन भी अनिवार्य नहीं है। छोटी सी पुतली में बड़े बड़े पदार्थ तक अपना प्रतिविम्ब देते हैं तथा फिर उनका बिलकुल ठीक इन्द्रिय ज्ञान भी होता है। इन सब बातों के आधार से प्रगट है कि विवादस्थ प्रश्न के सम्बन्ध में आक्षेपक जी की दूसरी आपत्ति भी मिथ्या है।

इञ्जिन के दृष्टांत के सम्बन्ध में हमने निम्न लिखित शब्द लिखे थे "दोनों इञ्जिनों में जहाँ खींचने की शक्ति है वहीं खिचने की भी। खींचते समय उसकी खींचने की शक्ति प्रयोग में आती है और खिचते समय खिचने की·········यदि खिचते समय भी खींचने की ही शक्ति उपयोग में आती होती तब तो एक इंजिन का दूसरे के द्वारा खिचना असम्भव हो जाता या एक के बल को दूसरे के बल से कम मानना पड़ता। ठीक ऐसी ही बात सर्वज्ञों के ज्ञानों के सम्बन्ध में है। जब एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान को जानता है उस समय दोनों की भिन्न भिन्न शक्तियाँ उपयोग में आती हैं। पहिले की जानने की तो दूसरे की जाने जाने की। जहाँ कि इन में अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है वहीं केवल

स्वयं के जाने जाने की। अतः जब एक सर्वज्ञ दूसरे सर्वज्ञ को जानता है तब उसकी उतनी ही शक्ति प्रयोग में आती है न कि सम्पूर्ण अतः वह उस ही समय अन्य पदार्थों को भी जान सकता है"।

विज्ञपाठक समझ गये होंगे कि अब आक्षेपक जिस आपत्ति को उठा रहे हैं हम उसका पूर्व ही समाधान करचुके हैं। आक्षेपक का यह कहना कि जब इञ्जिन खिंचेगा उसको वास्तविक इञ्जिन नहीं कहना चाहिये बिलकुल निरर्थक है। ऐसी अवस्था में भी इञ्जिन की सब बातें उसमें हैं अतः उसको इञ्जिन न मानने की तो कोई बात ही नहीं रह जाती। पदार्थ में अनेक धर्म हैं। किसी समय कोई गुण बहिरङ्ग कार्य कर रहा है तो किसी समय दूसरा, किन्तु फिर भी सब ही समय उसको पदार्थ ही स्वीकार करना पड़ता है यही बात इञ्जिन के सम्बन्ध में है।

समान सम्पत्ति वाले सौ व्यक्ति जब दूसरों को धन देते हैं तब उनकी सम्पत्ति न्यूनाधिक हो जाती है तथा जब वे दूसरों से उतना ही धन ले लेते हैं तब उनकी वह न्यूनाधिकता जाती रहती है। यदि धन दिया ही जाता होता तो फिर यह न्यूनाधिकता भी बनी ही रहती ठीक यही बात केवलज्ञानियों के सम्बन्ध में है। यदि अनेक केवलज्ञानी किसी खास केवलज्ञानी को जानते रहें और साथ ही जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को भी जानते रहें किन्तु वह केवल ज्ञानी उनको न जाने तो क्या इन केवलज्ञानियों के ज्ञेयों की संख्या में न्यूनाधिकता नष्ट हो जायगी। जब कि दूसरे केवल ज्ञानी जगत के सम्पूर्ण पदार्थों के साथ उस केवलज्ञानी

के ज्ञान को भी जान रहे हैं तथा उनके ज्ञेयों की संख्या जगत के सम्पूर्ण पदार्थ धन वह केवलज्ञानी हो जाती है। यह केवलज्ञानी जगत के पदार्थों को तो जानना है किन्तु अपने जानने वाले केवलज्ञानियों को नहीं जानता तो इसके ज्ञेयों की संख्या सिर्फ जगत के पदार्थ ही रहेंगे न कि जगत के पदार्थ धन केवलज्ञानी। इससे प्रगट है कि हमारा लिखना सिद्धान्त और युक्ति के अनुकूल है। जिस प्रकार धनवान लोग जितना दिया था उतना ही ले कर अपने धन को दूसरे धनवानों के समान बना लेता है उस ही प्रकार केवलज्ञानी भी दूसरे केवलज्ञानियों के द्वारा अपने ज्ञेयों की संख्या की कमी को नष्ट कर के समान करता है।

अतः हमारा वक्तव्य कि "दो केवलज्ञान एक दूसरे को आपस में जान लेंगे इस लिये उनका लेन देन बराबर हो जायगा। जिस प्रकार समान सम्पत्ति वाले सौ व्यक्ति एक दूसरे को एक एक रुपया दें तो दे ले कर सब ज्यों के त्यों रहते हैं" बिलकुल युक्तिपूर्ण है। इसको हास्यास्पद बताना स्वयं हास्यास्पद बनना है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि विचारणीय विषय के संबंध में आक्षेपक की तीसरी आपत्ति भी मिथ्या है।

विरोध—जब ज्ञान की अनन्तता का ज्ञेय से कोई सम्बन्ध नहीं तो ज्ञान अनन्त बना रहे परन्तु वह सब पदार्थों को कैसे जानेगा? विद्युत तेज के उदाहरण से मेरे ही पक्ष की सिद्धि होती है।

परिहार—ज्ञान अनन्त है। इसकी यह अनन्तता इसके अवि-

भागी प्रतिच्छेदों की दृष्टि से है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान का ज्ञेय के साथ कोइ सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान जानता है तथा ज्ञेय जाने जाते हैं अतः इनका ज्ञानज्ञेय ही सम्बन्ध है। ज्ञाता ज्ञान या उसके अविभागी प्रतिच्छेद भिन्न-भिन्न सत्ताधारी नहीं अतः ज्ञेय के साथ अविभागी प्रतिच्छेदों का भी वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञान का है। ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों की संख्या ज्ञेयों की संख्या से भी अधिक है अतः उसके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की बात तो स्वयं सिद्ध है।

विद्युत तेज के उदाहरण को स्पष्ट करने के लिये आक्षेपक ने वर्णों से सम्बन्ध रखने वाली तरङ्गों की संख्या गणना की है। यह सब प्रकृत विषय से बिलकुल असंम्बद्ध है। विद्युत तेज से हमारा तात्पर्य उस भामण्डल से है जो प्रत्येक प्राणी के शरीर के साथ रहता है तथा उसके विचारों के अनुसार ही इसमें परिणमन होता रहता है। विचार परिवर्तन और इसके रङ्ग परिवर्तन का अविनाभावी सम्बन्ध है। इससे प्रगट है कि प्रस्तुत उदाहरण किसी भी प्रकार आक्षेपक के मन्तव्य का समर्थक नहीं अपितु विरोधक ही है।

विरोध—निगोदिया के ज्ञान की व्यक्ति भी अनन्त होती है, परन्तु इससे वह अनन्तज्ञ नहीं हो जाता। अगर कहा जाय कि अनन्त पदार्थों को जानने का नाम अनन्त शक्ति है तब यह असिद्ध ही है। क्योंकि ज्ञान अनन्त पदार्थों को जान सकता है, यह अभी साध्य है।

परिहार—निगोदिया के ज्ञान की व्यक्ति भी अनन्त होती है

इसका तात्पर्य यदि उसके ज्ञान की लब्धि से है तब यह बात ठीक है किन्तु यदि इस ही को उसके ज्ञान के उपयोग के सम्बन्ध में घटित किया जायगा तब यह बात ठीक नहीं है।

प्रत्येक आत्मा के ज्ञान के अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेद हैं। इनमें से निगोदिया के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों से आवरण का अभाव है अत: लब्धि की दृष्टि से इसका ज्ञान अनन्त है। अन्य संसारी प्राणियों की तरह इसको भी अपने मतिज्ञान में इन्द्रिय सहायता अनिवार्य है। अत: यह भी अपनी लब्धि को उपयोग रूप इन्द्रिय सहायता से ही करता है। इन्द्रिय की मदद खास समय में किसी खास विषय के सम्बन्ध में ही सहायता करती या कर सकती है अत: उस ही के सम्बन्ध में उपयोगात्मक ज्ञान हो जाया करता है। इससे स्पष्ट है कि लब्धि की दृष्टि से निगोदिया के ज्ञान को अनन्त मान कर भी उसका उपयोग की दृष्टि से अनन्त न मानना भी युक्तियुक्त है।

अनन्त पदार्थों को जानने का नाम अनन्त शक्ति नहीं अत: आक्षेपक का यह वक्तव्य तो बिलकुल निरर्थक है। अनन्त पदार्थों का जानना एक क्रिया है तथा शक्ति इससे भिन्न है। शक्ति तो वह है जिसके द्वारा आत्मा ऐसा किया करता है या कर सकता है। आक्षेपक ज्ञान में असंख्य पदार्थों को जान लेने का स्वभाव मानते हैं। आपको यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह ज्ञान की एक शक्ति है, या आत्मा की इस शक्ति का नाम ही ज्ञान है तथा इस ही शक्ति से वह पदार्थों को जानता या जाना करता है। इसमें न्यूनाधिकता के निमित्त इसमें अविभागी अंशों को भी मानना ही

पड़ेगा, इससे प्रगट है कि आक्षेपक का जानने रूप क्रिया को ज्ञान का अनन्तत्व बतला कर आक्षेप करना ठीक नहीं है।

आत्मा में अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है तथा आवरण विहीन होने पर वह ऐसा करता है इसका समर्थन हम अनेक स्थानों पर कर चुके हैं। इस ही सम्बन्ध में हमने एक प्रश्न उपस्थित किया था कि आप ज्ञान की शक्ति एवं उसकी तदनुसार व्यक्ति की सीमा निश्चित करें तथा साफ-साफ बतलावें कि कौन से पदार्थ उसकी इस सीमा के बाहर हैं। ऐसा होने पर ही ज्ञान को सान्त कहा जा सकता है। अभी तक हमारे विद्वान् लेखक इसके सम्बन्ध में मौन हैं। आशा है आप इसके सम्बन्ध में शीघ्र अपना अभिमत स्पष्ट करेंगे।

विरोध—अगर भूत पदार्थ अपने समय में थे तो इनका प्रत्यक्ष भी अपने समय में हो सकता था। इस समय तो वह अभाव रूप हैं इसलिये उसमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकती, इसलिये वह किसी के विषय भी नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष तो दूर के पदार्थ का भी नहीं होता परन्तु वह सत् रूप है इसलिये किरणों के द्वारा वह ज्ञाता पर कुछ प्रभाव डाल सकता है।

परिहार—प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता है। दूसरे के लिये नहीं। यह तो केवल आत्ममात्र सापेक्ष है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष की बातें इस ही की मर्यादा तक रह सकती हैं, इसका अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

हम इन्द्रियों की सहायता से जानते हैं अतः सर्वज्ञ भी ऐसे ही जानते होंगे यह कल्पना मिथ्या है। अतः प्रथम तो सर्वज्ञों के ज्ञानों के सम्बन्ध में यह बात घटित नहीं होती। दूसरे आधुनिक मनोविज्ञानी भी जिनकी नकल करके आक्षेपक ने ऊपर की बातें लिखी हैं इस विषय में एक मत नहीं हैं। चक्षु इन्द्रिय के सम्बन्ध में उनका कहना है कि बाह्य पदार्थ का जो चित्र हमारी पुतली पर पड़ता है। हम उस ही को नहीं जानते। यदि ऐसा होता तब तो पदार्थ का उल्टा ज्ञान होना चाहिये था। इस से तो हमारी ज्ञानेन्द्रिय को उत्तेजना मिलती है और फिर वह स्वयं पदार्थ को जानती है। यही बात दूसरी इन्द्रियों के सम्बन्ध में है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा को जानने की क्रिया में इन सब बातों की आवश्यकता नहीं। ये सब मिलकर तो ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजनामात्र करती हैं*।

---

* जिस प्रकार फोटो के कैमरे में उसके अन्तरीय प्लेट पर उल्टा चित्र बनता है उसी प्रकार मनुष्य की आँख में अन्तर्वर्ती ज्ञानी परदे पर उल्टा चित्र स्थापित होता है। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानी परदे पर उल्टा चित्र पढ़ने की अवस्था में हमें चीजें सीधी क्यों नजर आती हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कई लेखकों का यह कहना है कि ज्ञानी के परदे के चित्र का देखने की क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्र का सीधा उल्टा होना एक शारीरिक क्रिया है जो देखने की क्रिया से पूर्व चक्षु की विशेष रचना से फलित होती है। यह ज्ञानो परदे का चित्र मस्तिष्क में नहीं पहुँचता वहाँ तो केवल चक्षुनाड़ी का प्रोत्साहन ही पहुँचता है। **वास्तव में उस प्रोत्साहन के होने पर जो मानसिक व्यापार होता है वह देखना क्रिया है। देखते समय आत्मा**

जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजित हैं उनको इन सब बातों की जरूरत नहीं। वे तो इन सब बातों के बिना ही उनका ज्ञान कर सकते हैं। अतः यह कहना कि 'बिना अर्थक्रिया के ज्ञान हो ही नहीं सकता' बिल्कुल निराधार है। ज्ञान के होने में अर्थक्रिया की तो कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। ज्ञान में जानने की ताकत है और पदार्थों में जाने जाने की। चाहे वे किसी भी समय विशेष के क्यों न हों। अतः भूतकाल के पदार्थों के जानने मे कोई आपत्ति नहीं रह जाती।

आक्षेपक ने नन्दीसूत्र के आधार से अपनी लेखमाला में यह बात लिखी है कि पहले समय में अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष का भी अर्थ मानसिक प्रत्यक्ष ही था, किन्तु उनका ऐसा लिखना केवल बंचनामात्र है।

पाठक इसके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन कर सकें अतः यहाँ हम प्रथम आक्षेपक के इस प्रकरण सम्बन्धी वाक्य उद्धृत कर देना उचित समझते हैं—

"नन्दीसूत्र में ज्ञान के जो भेद प्रभेद कहे हैं उसमें केवलज्ञान नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का भेद बतलाया गया है। ज्ञान के संक्षेप में दो

का सम्बन्ध सीधा बाह्य विषय के साथ रहता है न कि चक्षु के अन्तर्वर्ती चित्र के साथ। कई अन्य लेखक अपना मत इस प्रकार भी प्रकाशित करते हैं कि ज्ञानी परदे से जो प्रोत्साहन मस्तिष्क में पहुँचता है वह उस पर्दे के चित्र का विस्तार सम्बन्ध अपने साथ नहीं लाता। अतः पदार्थ का सीधा दीखना या तो हमारे अन्तरीय स्वभाव का फल है या निरन्तर अभ्यास का।

—सुधाकर का मनोविज्ञान पे० १०६-७

भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है⋯⋯नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, मनः पर्ययज्ञान प्रत्यक्ष, केवलज्ञान प्रत्यक्ष। इससे मालूम होता है कि एक समय अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष माने जाते थे, परन्तु पीछे यह मान्यता बदल गई और खींचतान कर नोइन्द्रिय का अर्थ 'आत्मा' कर दिया और प्रसिद्ध अर्थ मन छोड़ दिया गया।" जैन-जगत वर्ष ८ अङ्क १० पेज ६।

नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में ही गुरू परम्परा दी है। इसके बाद ज्ञान प्रकरण है। ज्ञान प्रकरण में ही प्रथम ज्ञान के पाँच भेद किये हैं। बाद को इन्हीं ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से बर्णन किया है।

प्रत्यक्ष के भी दो भेद किये हैं। एक नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष। यही नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रस्तुत विवाद का विषय है। आक्षेपक का कहना है कि यहाँ नोइन्द्रिय शब्द का अर्थ मन है, तथा इस प्रकार अवधि, मनपर्यय और केवल ये तीनों ही मानसिक प्रत्यक्ष के भेद ठहरते हैं।

नन्दीसूत्र के मूल में तो इन्द्रिय शब्द की कोई व्याख्या नहीं मिलती। टीकाकारों ने इस शब्द का आत्मापरक ही अर्थ किया है और इस प्रकार यह आक्षेपक के प्रतिकूल जाता है। नन्दीसूत्र का स्वयं आगे का वर्णन भी टीकाकार के ही अभिप्राय का समर्थक है। इन्ही भेदों को गिना कर नन्दीसूत्रकार ने फिर इनमें प्रत्येक के भेदों को गिनाया है। अवधि के

भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त दो भेद किये हैं तथा इसको भूत भविष्यत का ज्ञाता स्वीकार किया है। इस ही प्रकार मनः पर्यय ज्ञान को भी भूत भविष्यत का ज्ञाता स्वीकार किया है। सूक्ष्मता की दृष्टि से भी इनके वे ही विषय बतलाये हैं जो कि दूसरे शास्त्रों में बतलाये गये हैं।

नन्दीसूत्र केवलज्ञान के सम्बन्ध में भी ठीक वैसा ही विवेचन करता है जैसा कि इसके सम्बन्ध में दूसरे शास्त्रों में मिलता है। नन्दीसूत्र इसको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अनन्त स्वीकार करता है।*

'नोइन्द्रिय' शब्द का मन की तरह आत्मा भी अर्थ है। यदि प्रस्तुत नोइन्द्रिय शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य मन से होता तो वह इसको प्रचलित मान्यता वाला स्वीकार न करते। अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञानों में मानसिक ज्ञान या प्रत्यक्ष मानने पर ये इस प्रकार के नहीं ठहरते जैसा कि इनका वर्णन नन्दीसूत्र में मिलता है, केवलज्ञान यदि मानसिक होता तो वह सर्वज्ञ कभी भी नहीं हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में यही कहना पड़ेगा कि

---

* से तं सिद्ध केवलणाणं। तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं तं जहा—दव्वाओ खेत्ताओ कालाओ भावाओ।

तत्थ दव्वाओणं केवलनाणी सव्वाइ दव्वाइं जाणइ पासइ, खेत्तओणं केवलनाणी सव्व खेत्तं जाणइ पासइ, कालओणं केवल नाणी सव्वकालं जाणई पासई, भावओणं केवल नाणी सव्वे भावे जाणई पासई। अह सव्व दव्व परिणाम भाव विण्णत्ति-कारण मणंतं सासयं मप्पडियाई एगविहं केवलनाणं।

नन्दीसूत्र ज्वालाप्रसादजी वाला ८३-४

नन्दीसूत्र के प्रस्तुत नोइन्द्रिय शब्द का अर्थ आत्मा है। अतः उसकी मान्यता के अनुसार भी अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान आत्मिक प्रत्यक्ष ही सिद्ध होते हैं।

ऐसी परिस्थिति में यह निसन्देह है कि आक्षेपक का लिखना "इससे मालूम होता है कि एक समय अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष माने जाते थे, परन्तु पीछे से यह मान्यता बदल गई और खींचतान कर नोइन्द्रिय का अर्थ 'आत्मा' कर दिया" निराधार है।

पाँचवीं युक्ति की आलोचना करने से पूर्व आक्षेपक ने उसको निम्नलिखित शब्दों में लिखा है:—

"ज्ञान स्वभाव सब आत्माओं का एक बराबर है। उसमें जो न्यूनाधिकता है वह ज्ञानावरण कर्म से है। जब ज्ञानावरण कर्म चला जायगा तब जिनका ज्ञानावरण कर्म जायगा उन सबका ज्ञान एक बराबर हो जायगा। इस शुद्ध ज्ञान की मर्यादा अगर वास्तविक अनन्त ज्ञानस्वरूप नहीं है तो कितनी है।"

यहाँ भी आक्षेपक ने पूर्व पक्ष का प्रतिपादन ठीक-ठीक नहीं किया। जिसको आप पाँचवीं युक्ति बतला रहे हैं, वास्तव में वह पाँचवीं युक्ति नहीं। यह तो एक प्रश्न है जैसा कि इसकी भाषा से स्पष्ट है। प्रश्न और पूर्व पक्ष में बड़ा अन्तर है। जहाँ पहिला किसी विषय को सिद्ध या उसका खण्डन करता है, वहीं दूसरा उसके सम्बन्ध में जानकारी को बतलाता है। विद्वान् लेखक ने यदि मूलवाक्यों को जिनका भाव कि उन्होंने यहाँ लिखा है लिख कर उनका भाव लिखा होता तो इसके सम्बन्ध में पाठकों को और

भी विशेष परिचय प्राप्त हो सकता था। क्या हम आशा कर सकते हैं कि आप अब हमारी इस लेखमाला के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य के साथ ही साथ उन मूलवाक्यों को भी लिखने का कष्ट उठावेंगे जिनके आधार से कि आपने यह लिखा है।

सर्वज्ञ सिद्धि के सम्बन्ध में जैनाचार्यों की इस ढङ्ग की यदि कोई युक्ति हो सकती है तो वह यह है कि कोई आत्मा विशेष सर्वज्ञ है सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव होकर आवरणों के हट जाने से*। जिसका जैसा स्वभाव होता है प्रतिबन्धक के दूर हो जाने से वह वैसा ही हो जाया करता है; जैसे अग्नि में दाहकत्व। आत्मा का सम्पूर्ण पदार्थों के जानने का स्वभाव है तथा प्रतिबन्धक भी दूर हो गये हैं, अतः यह सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता है।

जहाँ तक इस कथन का आवरणों के नाश से सम्बन्ध है वहाँ तक तो इसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, क्योंकि ज्ञान से सम्पूर्ण आवरणों का अभाव तो आक्षेपक ने भी स्वीकार किया है। आत्माके सम्पूर्ण पदार्थों के जानने के स्वभाव को हम पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत युक्ति भी निसन्देह सर्वज्ञ को सिद्ध करती है।

छठी युक्ति की समालोचना करने से पूर्व आक्षेपक ने उसको प्रश्न के रूप में निम्नलिखित शब्दों में लिखा है:—

"असुक दिन ग्रहण पड़ेगा तथा सूर्य चन्द्र आदि की गतियों

---

* कश्चिदात्मा सकल पदार्थ साक्षात्कारी तद्ग्रहण स्वभावत्वे सति प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्वात्। —प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ७०

का सूक्ष्म ज्ञान बिना सर्वज्ञ के नहीं हो सकता। भविष्य की जो बातें शास्त्रों में लिखी हैं वे सच्ची साबित हो रही हैं। पंचमकाल का भविष्य आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रचना भी साफ मालूम होती है। और भी बहुत सी बातें हैं जो हमें शास्त्रों से ही मालूम होती हैं। उनका मूल प्रणेता अवश्य होगा जिसने उन बातों का ज्ञान शास्त्र से नहीं, अनुभव से किया होगा; बस वही सर्वज्ञ है।"

इस कथन में दो बातें हैं—एक सूर्य और चन्द्र आदि की गतियों का परिज्ञान और दूसरी भविष्य सम्बन्धी एवम् उत्सर्पिणी अवसर्पिणी सम्बन्धी घटनाओं की यथार्थता। इन दोनों में से आक्षेपक ने केवल पहिली बात को स्वीकार किया है किन्तु फिर भी वह इसके लिये सर्वज्ञता की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते।

अब विचारणीय यह है कि क्या सूर्य और चन्द्र आदि नक्षत्रों की गति का परिज्ञान सर्वज्ञ के बिना भी हो सकता है? क्या भविष्य सम्बन्धी एवं उत्सर्पिणी अवसर्पिणी सम्बन्धी घटनाएँ यथार्थ हैं?

पहिली बात के सम्बन्ध में आक्षेपक ने निम्नलिखित दो बातें लिखी हैं:—

(१) आज जो जगत को ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान है वह किसी सर्वज्ञ का बताया हुआ नहीं है, किन्तु विद्वानों के हजारों वर्ष के निरीक्षण का फल है। तारा आदि की चालें आँखों से दिखाई देती हैं, उनके ज्ञान के लिये सर्वज्ञ की कोई जरूरत नहीं है।

(२) जो लोग जैन-शास्त्र, जैन-धर्म और जैन-भूगोल नहीं मानते वे भी ग्रहण आदि की बातें बता देते हैं और जितनी खोज को हम सर्वज्ञ बिना मानने को तैयार नहीं हैं, उससे कई गुणी खोज आजकल के असर्वज्ञ वैज्ञानिक कर रहे हैं। ज्योतिष आदि की खोज से सर्वज्ञ की कल्पना करना कूपमण्डूकता की सूचना है।

प्रकृत अनुमान यह है कि सर्वज्ञ त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञाता है, क्योंकि इसके बिना ज्योतिष ज्ञान की अनुपपत्ति है। इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने कहा था कि ज्योतिष ज्ञान सर्वज्ञ के बिना भी अनुभव से हो सकता है। "मौजूदा ज्योतिषज्ञान विद्वानों के हजारों वर्ष के ज्योतिष सम्बन्धी अनुभव का फल है" अपने इस वक्तव्य के समर्थन में आक्षेपक ने कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया, ऐसी अवस्था में विद्वान् पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि उनका यह वक्तव्य इस परीक्षा के अवसर पर क्या मूल्य रखता है? जहाँ कि आक्षेपक ने यह लिखा था कि वर्तमान ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान का आश्रय केवल विद्वानों का हजारों वर्ष का अनुभव है वहीं उनको यह भी लिखना था कि वे कौन २ से विद्वान् हैं, उनके अनुभव की वृद्धि किस किस प्रकार हुई, किस किस ने कहाँ कहाँ तक अनुभव प्राप्त किया और उन्होंने अपने अनुभवों को अगाड़ी अगाड़ी के विद्वानों को किस किस प्रकार से दिया। बगैर इन सब बातों के सामने आये कोई श्रद्धालु तो आक्षेपक के मोजूदा कथन पर विश्वास कर सकता है, किन्तु परीक्षक के लिये तो इस कथन में तनिक भी सामग्री नहीं है।

दूसरे तरफ याने मौजूदा ज्योतिष ज्ञान का आधार सर्वज्ञ ज्ञान है, इसके समर्थन में अनेक प्रमाण मौजूद हैं—

(१) जितने भी ज्योतिष के बड़े बड़े शास्त्र हैं उन सब के रचयिताओं ने परम्परा से ज्योतिष ज्ञान का आधार सर्वज्ञ को माना है।

(२) सर्वज्ञ के द्वारा ज्योतिषज्ञान की बातों के प्रतिपादन में कोई आपत्ति भी नहीं, ऐसी अवस्था में प्राचीन आचार्यों के कथनों में और भी दृढ़ता आ जाती है।

(३) अन्य अनेक दार्शनिक विद्वानों ने भी ज्योतिष का आधार सर्वज्ञ ज्ञान माना है।

ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि ज्योतिषज्ञान अनुभव से भी हो सकता है और मौजूदा ज्योतिषज्ञान विद्वानों के हजारों वर्ष के ज्योतिष सम्बन्धी अनुभवों का फल है।

आक्षेपक की दूसरी बात के पहिले अंश के सम्बन्ध में बात यह है कि यहाँ सर्वज्ञ विशेष का प्रकरण नहीं है किन्तु सर्वज्ञ सामान्य का, और उसकी सिद्धि में हेतु भी सामान्य ज्योतिषज्ञान है। सर्वज्ञ सामान्य के स्थान पर यदि हम इस युक्ति से जैन सर्वज्ञों की सर्वज्ञता प्रमाणित कर रहे होते तब तो आपका जैन एवं जैनेतर ज्योतिष का प्रश्न उपस्थित करना समुचित हो सकता था किन्तु यहां ऐसा है नहीं! जहाँ तक जैन एवं जैनेतर ज्योतिष की मुख्य २ बातों का सम्बन्ध है वहाँ तक इनमें कोई ऐसी विभिन्नता नहीं जिससे कि इनके मूल प्रणेताओं में भिन्नता का प्रश्न उपस्थिति हो सके। दूसरे एक ही सिद्धान्त है और जिसका प्रतिपादक भी

एक एवं वही व्यक्ति है, फिर भी वह साम्प्रदायिक उपभेदों में पड़ कर विभिन्न हो जाया करता है। भगवान् महावीर के उपदेश को ही ले लीजिये। यह एक था और इसके उपदेशक भी वीर प्रभु थे, फिर भी आज यह साम्प्रदायिक उपभेदों में मिलने से एक रूप नहीं मिलता। एक उपसम्प्रदाय यदि अपने रूप बतलाता है तो दूसरा अपने रूप! यह भेद कब और कैसे हुआ यह एक जुदी बात है, किन्तु यह तो निश्चित है कि इस विभिन्नता का कारण केवल-मात्र साम्प्रदायिकता है?

जब कि ऐसी बात के सम्बन्ध में जिसका समय कि केवल ढाई हजार वर्ष के करीब है इस प्रकार की विभिन्नता हो सकती है फिर ज्योतिषज्ञान के सम्बन्ध में जिसका कि अस्तित्व ऐतिहासिक दृष्टि से आज से हजारों वर्ष पहिले तक मिलता है कुछ विभिन्नता हो गई हो तो आश्चर्य की कौनसी बात है! ऐसा होने पर भी यह नहीं कह सकते कि ज्योतिष के प्रतिपादक एक ही व्यक्ति नहीं थे। यह व्यक्ति कौन थे, उन्होंने इसका उपदेश किस समय दिया और वर्तमान सम्प्रदायों में आराजप्रदान कैसे हुआ, यह एक ऐसी बात है जिसके सम्बन्ध में यहाँ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं! यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि ज्योतिषज्ञान से सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि में जैन एवं जैनेतर का प्रश्न बिलकुल असम्बन्धित है।

इस ही बात के दूसरे अंश के सम्बन्ध में बात यह है कि वर्तमान वैज्ञानिकों ने जो ज्योतिष के सम्बन्ध में अनुसन्धान किये हैं इसके द्वारा उन्होंने इस विषय का स्थापन नहीं किया, किन्तु

इसके द्वारा उन्होंने इस प्रकार के साधन सुलभ कर दिये हैं जिनसे कि आज हम इसका परिचय सुविधा से कर सकते हैं। साध्य की उन्नति से साधक की उन्नति एक भिन्न बात है। अभी साल डेढ़ साल की बात है कि अम्बाले के एक ज्योतिषी विद्वान् को एक प्राचीन श्लोक मिल गया था जिसके आधार से उन्होंने एक यन्त्र बनाया है जो कि अपनी समानता नहीं रखता और जिसके द्वारा अद्भुत अद्भुत कार्य अति सरलता से हो जाते हैं। इसका यह मतलब थोड़े ही है कि ये विद्वान् ज्योतिष के किसी विशेष विषय के संस्थापक हैं। इस ही प्रकार के अनुसंधान वर्तमान वैज्ञानिकों के हैं।

हमारे विद्वान् मित्र ने किसी से यह बात सुन ली है कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने ज्योतिष के सम्बन्ध में बड़े बड़े अनुसन्धान किये हैं; इस ही के आधार से उन्होंने यह लिख मारा है कि उनके अनुसन्धानों से उनका ज्ञान मौजूदा ज्योतिष के ज्ञान से कई गुणित हो गया है, किन्तु यह उनकी भूल है।

इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक का असर्वज्ञ वैज्ञानिकों के ज्ञान को इस सम्बन्ध में कई गुणित बतलाना एवं विद्वानों के अनुभव मात्र को ज्योतिष शास्त्र की रचना का कारण बतलाना मिथ्या है; अतः ज्योतिष विषयक ज्ञान के आधार से सर्वज्ञ सिद्धि में यह बाधक नहीं हो सकता।

इस प्रकरण की दूसरी बात भविष्य कथन और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के वर्णन की है। भविष्य कथन के सम्बन्ध में आक्षेपक ने लिखा है कि "भविष्य की बातें जो शास्त्रों में लिखी हैं

वह सिर्फ लेखकों का मायाजाल है, शास्त्रों में ऐसा कोई प्रमाणिक भविष्य नहीं मिलता जो शास्त्र रचना के बाद का हो। भविष्य की कुछ सामान्य बातें भी हैं परन्तु वे सामान्य बुद्धि से कही जा सकती हैं।"

यदि थोड़ी देर के लिये शास्त्रों के अन्य विषयों को छोड़ भी दें तो भी केवल सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के गुरूमन्त्र ही इस विषय के लिये यथेष्ठ हैं। सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का शास्त्रीय-वर्णन भविष्य का वर्णन है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं और ऐसा होने पर भी न यह शास्त्रकारों का माया जाल है और न केवल सामान्य कथन ही।

सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण का कथन केवल सामान्य दृष्टि से होता या जिस समय में इसका वर्णन शास्त्रों में मिलता है उस प्रकार ही यह न हुआ होता तब तो इस कथन को भी केवल सामान्य कथन या मिथ्या कथन कह सकते थे किन्तु ऐसा है नहीं।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के कथन की बातें भी इस ही प्रकार की बातें हैं!

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का सिद्धांत जिसको आजकल के विज्ञान के शब्दों में उत्कर्षवाद और अपकर्षवाद कहते हैं एक ऐसा विषय है जिसका लगातार परीक्षण हो चुका है। मौजूदा वैज्ञानिक अपने सतत् परीक्षण के फल से इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि पृथ्वी की शक्ति लगातार कम होती जारही है। अन्य जितनी भी भौतिक बातें हैं जो पृथ्वी से सम्बन्धित हैं, उनके बल

में भी न्यूनता आती जा रही है। यही कारण है कि ज्यों २ समय जा रहा है पृथ्वी जल अन्नादिक और प्राणियों के शरीर निर्बल होते जा रहे हैं। इस प्रकार के परिणमन की संज्ञा वैज्ञानिकों ने अवनतिवाद दी है। ये लोग यह भी स्वीकार करते हैं कि एक समय ऐसा भी आयगा जबकि ये सब बातें बढ़ती ही चली जायँगी जिसको कि उन्होंने उन्नतिवाद लिखा है। जैन शास्त्रों के वर्णनों में हम इस ही प्रकार के युगों की उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के नामों में पाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के वर्णन वैज्ञानिक वर्णन हैं, उनके सम्बन्ध में शंका करना बिलकुल निराधार है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन शास्त्रों का भविष्य के सम्बन्ध में कथन एवं उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के वर्णन मिथ्या नहीं। अतः यह भी स्पष्ट है कि छठी युक्ति युक्ति ही है उसको युक्त्याभास कहना भूल है।

सातवीं युक्ति

अन्य युक्तियों की तरह इसको भी आक्षेपक ने प्रश्न के रूप में निम्न शब्दों में लिखा है:—

"भगवान सर्वज्ञ है, क्योंकि निर्दोष है। भगवान निर्दोष है क्योंकि उनका उपदेश युक्ति शास्त्र से बाधित नहीं होता और न परस्पर विरुद्ध साबित होता है।"

आक्षेपक ने इस पर निम्नलिखित वाक्य इसकी समालोचना स्वरूप लिखे हैं:—

"आज जो शास्त्र हैं उनमें परस्पर विरोध अच्छी तरह है और वे युक्ति शास्त्र के विरुद्ध भी हैं। अगर यह कहा जाय कि सच्चे शास्त्र आज उपलब्ध नहीं है तो वर्तमान के शास्त्र अविश्वसनीय हो जायेंगे। ऐसी हालत में इन्हीं शास्त्रों में सर्वज्ञता का जो अर्थ लिखा है वह भी अविश्वसनीय हो गया। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार का बहाना तो हर एक धर्म वाला बना सकेगा। वह भी कहेगा कि हमारे शास्त्र सच्चे हैं आदि। खैर, यहां पर असली वक्तव्य यह है कि परस्पर अविरोध आदि से सत्यता सिद्ध होती है न कि सर्वज्ञता। अल्पज्ञ भी परस्पर अविरुद्ध बोल सकता है। मिथ्यावादी ही परस्पर विरुद्ध बोलता है। सत्यवादी होने से ही कोई सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता।"

यदि हमारे विद्वान मित्र ने जैन शास्त्रों के इस कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को अध्ययन की दृष्टि से देखा होता तो उनको इसमें कोई खण्डन योग्य बात ही न मिलती।

जैन शास्त्रकारों ने यदि प्रस्तुत युक्ति को सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि में उपस्थित किया होता तब तो आपका कथन ठीक हो सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं। जैन शास्त्रकारों का तो इस युक्ति से प्रयोजन सर्वज्ञ विशेष की सिद्धि से है।

यह देवागम की छठी कारिका का भाव है। इससे पहिली कारिका से आचार्य समन्तभद्र ने सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि की है। सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि हो जाने पर वह सर्वज्ञ जैन तीर्थंकर ही हैं, इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य समन्तभद्र ने इस कारिका की रचना की है। इस बात का खुलासा आचार्य विद्या-

नन्दि ने अपनी अष्ट सहस्री में बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है।

तन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्व साक्षात्कारित्वं प्रमाण सद्भावात्। सतुपरमात्मार्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोऽहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति, व्यवसिताभ्युनुज्ञान पुरस्सरं भगवतो विशेष सर्वज्ञत्व पर्यनुयोगे सत्याचार्याः प्राहुः।

ऐसी अवस्था में आक्षेपक का यह लिखना कि "यहाँ पर असली वक्तव्य यह है कि परस्पर अविरोध आदि से सत्यता सिद्ध होती है न कि सर्वज्ञता" कहाँ तक प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित है यह विचारशील पाठक स्वयं विचार सकते हैं!

हम परस्पर अविरोधी वचन के साथ सर्वज्ञता की व्याप्ति नहीं मानते, किन्तु सर्वज्ञता के साथ परस्पर अविरोधी वचन को मानते हैं। हमारा यह कहना नहीं कि जो जो परस्पर अविरोधी वचन बोलता है वह २ सर्वज्ञ है किन्तु यह है कि जो २ सर्वज्ञ है वह वह परस्पर अविरोधी वचन बोलता है। परस्पर अविरोधी वचन केवल जैन तीर्थंकरों के ही हैं; अतः वे ही सर्वज्ञ हैं।

इससे पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि इस कारिका से आचार्य समन्तभद्र का अभिप्राय सर्वज्ञ विशेष की सिद्धि से है। यदि इस ही को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि सर्वज्ञता के सिद्ध हो जाने पर वह सर्वज्ञता केवल जैन तीर्थंकरों में ही है, यह बात इस कारिका से अभीष्ट है। अब रह जाती है मौजूदा जैन शास्त्रों के परस्पर विरोधी कथन एवं असम्भव कथनों की बात, इसके सम्बन्ध में यह कहना है कि यदि आक्षेपक ने इस सम्बन्ध के कथनों का उल्लेख कर दिया होता तब तो

उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखा जा सकता था किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। अतः इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि जिस-जिस शास्त्र के जिस-जिस कथन में विरोध हो वहां इस बात का निर्णय करना आवश्यकीय है कि कौन-कौन प्राचीन एवं प्रमाणाविरुद्ध मान्यता है; जिसमें ये बातें मिलें उसी को मान्य करना चाहिये। जिसमें इस प्रकार की बातें न हों उसको विकारी समझ कर छोड़ देना चाहिये।

ऐसी अवस्था में वर्तमान के शास्त्रों की अविश्वसनीयता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि जिस शास्त्र के जिस अंश के सम्बन्ध में विरोधी कथन मिलता हो उस ही सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है न कि सम्पूर्ण उस शास्त्र के सम्बन्ध में। अतः इस दृष्टि से भी शास्त्र की अविश्वसनीयता का प्रश्न नहीं रहता।

तीसरी बात यह है कि प्राचीन अनेक शास्त्र हैं जिनमें परस्पर विरोध की गन्ध भी नहीं।

युक्ति शास्त्र के विरुद्ध कथन की बात यह है कि जहाँ इस प्रकार का कथन है वह जिनवाणी एवं उसके आधार से बने हुए शास्त्र ही नहीं। यह कोई नवीन बात नहीं है। आचार्य समन्तभद्र आज से ठीक २००० वर्ष पूर्व इसकी घोषणा कर चुके हैं। किन्तु हम इस बात को दावे के साथ कहते हैं कि प्राचीन जैन-शास्त्रों में इस बात का अभाव है। अतः इस दृष्टि से भी जैन-शास्त्रों की अमान्यता की बात ठीक नहीं जँचती।

शास्त्रों की अविश्वसनीयता का प्रश्न दूर हो जाने पर सर्वज्ञ

के अर्थ का प्रश्न भी हल हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मौजूदा युक्ति से आचार्य समन्तभद्र का अभिप्राय केवल सर्वज्ञ विशेष की सिद्धि है तथा आक्षेपक का कथन बिलकुल इससे असम्बन्ध है। अतः प्रस्तुत युक्ति युक्ति ही है इसको युक्त्याभास कहना मिथ्या है।

"जैनधर्म का मर्म" शीर्षक अपनी लेखमाला में आक्षेपक ने पूर्वपक्ष स्वरूप सर्वज्ञ सिद्धि के सम्बन्ध में अनेक बातें लिखी हैं। इन्हीं में से एक ज्योतिष ज्ञान सम्बन्धी है।

इसका यह तात्पर्य है कि यदि सर्वज्ञ न होता तो ज्योतिष ज्ञान का होना असम्भव था।

आक्षेपक सर्वज्ञ को स्वीकार नहीं करते अतः उन्होंने इसको भी स्वीकार नहीं किया है तथा इसके उत्तर स्वरूप निम्नलिखित बातें लिखी थीं—"आज जो जगत को ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान है वह किसी सर्वज्ञ का बताया हुआ नहीं है किन्तु विद्वानों के हजारों वर्ष के निरीक्षण का फल है। तारा आदि की चालें आँखों से दिखाई देती हैं उनके ज्ञान के लिये सर्वज्ञ की कोई जरूरत नहीं है। जो लोग जैन शास्त्र, जैनधर्म और जैन भूगोल नहीं मानते वे भी ग्रहण आदि की बातें बता देते हैं और जितनी खोज को हम सर्वज्ञ बिना मानने को तय्यार नहीं हैं उससे कई गुणी खोज आज कल के असर्वज्ञ वैज्ञानिक कर रहे हैं। ज्योतिष आदि की खोज से सर्वज्ञ की कल्पना करना कूप मण्डूकता की सूचना है।"

आक्षेपक के इन वाक्यों के समाधान स्वरूप हमने निम्नलिखित वाक्य लिखे थे—"मौजूदा ज्योतिष ज्ञान विद्वानों के

हजारों वर्ष के ज्योतिष सम्बन्धी अनुभव का फल है" अपने इस वक्तव्य के समर्थन में आक्षेपक ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। ऐसी अवस्था में विद्वान पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि उनका यह वक्तव्य इस परीक्षा के अवसर पर क्या मूल्य रखता है। जहां कि आक्षेपक ने यह लिखा है कि वर्तमान ज्योतिष ज्ञान का आश्रय केवल विद्वानों का हजारों वर्ष का अनुभव है वहीं उनको यह भी लिखना था कि वे कौन कौन से विद्वान हैं. उनके अनुभव की वृद्धि किस किस प्रकार हुई. किस किस ने कहां कहां तक अनुभव प्राप्त किया और उन्होंने अपने अनुभवों को आगे आगे के विद्वानों को किस किस प्रकार से दिया। बगैर इन सब बातों के सामने आये कोई श्रद्धालु तो आक्षेपक के मौजूदा कथन पर विश्वास कर सकता है किन्तु परीक्षक के लिये तो इस कथन में तनिक भी सामग्री नहीं है।

आक्षेपक की दूसरी बातके पहिले अंशके सम्बन्ध में बात यह है कि यहां सर्वज्ञ विशेष का काम नहीं है किन्तु सर्वज्ञ सामान्य का है उसकी सिद्धि में हेतु भी सामान्य ज्योतिष ज्ञान है। सर्वज्ञ सामान्य के स्थान पर यदि हम इस युक्ति से जैन सर्वज्ञों की सर्वज्ञता प्रमाणित कर रहे होते तब तो आपका जैन एवं जैनेतर ज्योतिष का प्रश्न उपस्थित करना समुचित हो सकता था किन्तु यहां ऐसा नहीं............। वर्तमान वैज्ञानिकों ने जो ज्योतिष के सम्बन्ध में अनुसन्धान किये हैं इसके द्वारा उन्होंने इस विषय का स्थापन नहीं किया किन्तु ज्योतिष ज्ञान के साधन सुलभ किये हैं।

आक्षेपक का कर्तव्य था कि वह उन विद्वानों के नाम और

उनके ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान के क्रम विकास का परिचय कराते जिससे उनके कथन की परीक्षा की जा सकती। आपने ऐसा नहीं किया है किन्तु पहिले की तरह केवल अपनी प्रतिज्ञा की पुनरावृत्ति मात्र की है अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक की प्रस्तुत प्रतिज्ञा का कुछ भी मूल्य नहीं है।

विरोध—भारतीय ज्योतिषियों की ही नहीं किन्तु हर एक शास्त्र लेखक की यही आदत रही है कि वह अपनी बात का सर्वज्ञ से सम्बन्ध जोड़ता रहा है किन्तु इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि वे सर्वज्ञ मानते थे किन्तु यहां सर्वज्ञ मानने वालों का सद्भाव सिद्ध नहीं करना है किन्तु सर्वज्ञ सिद्ध करना है।

परिहार—प्राचीनसे प्राचीन ज्योतिषशास्त्र रचयिता के ज्योतिष ज्ञानका आधार सर्वज्ञ माननेसे केवल उनकी सर्वज्ञमान्यताकी ही पुष्टि नहीं होती किन्तु यह भी सिद्ध होता है कि उन २ शास्त्र लेखकों के समय में भी सर्वज्ञ ही ज्योतिष ज्ञान का आधार माना जाता था। इनका समय हजारों वर्ष पूर्व का समय है और यदि इस समय में ज्योतिष ज्ञान का क्रम विकाश हुआ होता तो इसका उल्लेख इनके शास्त्रों में अवश्य मिलना चाहिये था। किसी भी विषय को एक लेखक मूल या गौण कर सकता है किन्तु यह सम्भव नहीं कि उस विषय के सब ही लेखक ऐसा कर जायं। अतः कोई कारण प्रतीत नहीं होता जिससे इन लेखकों के कथनों में सन्देह किया जा सके। अतः स्पष्ट है कि ज्योतिष-शास्त्र रचयिताओं का कथन आक्षेपक के क्रम-विकाशवाद का खण्डन करता हुआ ज्योतिषज्ञान का आधार सर्वज्ञ है इस मान्यता की पुष्टि में सहायक होता है।

विरोध—जो दार्शनिक सर्वज्ञ मानते हैं वे उससे ज्योतिष का प्रणयन भी मानते हैं। इससे भी सर्वज्ञ मानने वाले का अस्तित्व मालूम होता है न कि सर्वज्ञ का।

परिहार—यह भी क्रम विकाशवाद का विरोधी है। जहां कि "ज्योतिष ज्ञान का आधार सर्वज्ञ है" का समर्थन ज्योतिष एवं ज्योतिषेतर विषय के विद्वान भी स्वीकार करते हैं वहाँ क्रमविकाश के उल्लेख का पता भी नहीं मिलता। ऐसी परिस्थिति में दार्शनिक साहित्य भी ज्योतिष साहित्य की तरह क्रम विकाश का विरोधी और सर्वज्ञाधार का समर्थक ही मानना होगा। यह सोलह आने सर्वज्ञ के अस्तित्व का समर्थन भले ही न हो किंतु इससे उस विषय पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

आक्षेपक ने अपनी दूसरी बात के पहिले अंश के समर्थन में तो कुछ भी नहीं लिखा है, हाँ इस के दूसरे अंश के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। इस विषय में तो प्रथम इसही बात का निर्णय होता है कि क्या वर्तमान वैज्ञानिकों को प्राचीन ज्योतिषियों से कई गुणा ज्ञान है और इनका यह ज्ञान उनके स्वतन्त्र अनुसंधानों का फल है? आक्षेपक ने इस बात के समर्थन में एक शब्द भी नहीं लिखा है। इसके या इसके सरीखी पहिली बात के संबंध में केवल यही लिख कर इस विषय से बचने की चेष्टा की है कि इस विषय के सम्बन्ध में मैं स्वतंत्र लेखमाला प्रकाशित करने का विचार रखता हूं। यदि आक्षेपक विवादस्थ विषय में एक लेखमाला प्रकाशित करना चाहते हैं तो यहा उनको इसके संक्षिप्त नोट तो देने चाहिये थे। इससे प्रगट है कि आक्षेपकका विवादस्थ

विषय का उत्तर बिलकुल अपूर्ण है अतः यह भी ज्योतिष ज्ञान के आधार से सर्वज्ञ सिद्धि का बाधक नहीं है।

विरोध—आक्षेप ने यहां अपने वक्तव्य का अपने आप ही खण्डन कर दिया है। जब आप अविरोधी वचन की सर्वज्ञता से व्याप्ति नहीं मानते तब अविरोधी वचनसे किसी व्यक्ति विशेष को सर्वज्ञ कैसे सिद्ध करते हैं ? जैन तीर्थंकरों के वचन अगर अविरोधी भी हों तो भी आपके कथनानुसार सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते, क्योंकि अविरोधी वचन के साथ सर्वज्ञ की व्याप्ति ही नहीं है।

परिहार—केवल अविरोधी वचन से सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान के अविरोधी वचनों से अवश्य सर्वज्ञता सिद्ध होती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि वचन भी ऐसे ही हों जिन में पूर्ण कल्याण, जगत व्यवस्था आदि का वर्णन हो।

मूल युक्ति में केवल परस्पर अविरोधी वचन ही नहीं हैं किंतु वह हैं जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है, आक्षेपक को विवादस्थ युक्ति के खण्डन में जब कोई मौका नहीं मिला था तब आपने परस्पर अविरोधी वचन की ही समीक्षा करनी प्रारम्भ कर दी थी। इस पर हमने लिखा था कि हम इसकी सर्वज्ञता के साथ व्याप्ति नहीं मानते किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह सब विचार विवादस्थ युक्ति के सम्बन्ध में किया जा रहा है। विवादस्थ विषय पर तो विचार तब ही होगा जब कि आक्षेपक उसके सम्बन्ध में आक्षेप उपस्थित करेंगे। मूल युक्ति के सम्बन्ध में हम अपनी लेखमाला में स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रस्तुत युक्ति से हम

सर्वज्ञ विशेष को सिद्ध करते हैं न कि सर्वज्ञ सामान्य को, अतः यह विवाद प्रस्तुत विषय के अवसर पर अनुपयोगी एवं विषयान्तर से भी सम्बन्धित है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि आक्षेपक के प्रस्तुत आक्षेप का विवादस्थ विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यह बिलकुल अनुपयोगी है।

विरोध—मेरी लेखमाला में ही जैन शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध कथनों का ज़गह २ उल्लेख है.........यदि हम विरुद्ध भाग को विकारी समझ कर छोड़ दें तो यह सारी बात हर एक धर्म वाला अपने शास्त्रके विषय में कह सकता है। दूसरे धर्म वाले भी कहेंगे कि हमारे शास्त्रों में जो परस्पर विरुद्ध बात हो उसे विकार समझ कर छोड़ दीजिये और बाकी अंश को प्रमाण मानिये। इस तरह उन शास्त्रों के मूलप्रणेता को भी सर्वज्ञ मानिये। तब जैन तीर्थंकर ही सर्वज्ञ कैसे होंगे इस प्रकार यह युक्ति न सर्वज्ञ सामान्य को सिद्ध करती है और न सर्वज्ञ विशेष को।

परिहार—हम परिहार नंबर २६ में स्पष्ट कर चुके हैं कि हम केवल परस्पर अविरोधी वचन को सर्वज्ञत्व का नियामक नहीं मानते। सर्वज्ञत्व के लिये इसके साथ अन्य बातों का होना भी अनिवार्य है। जहां परस्पर अविरोधी वचन के साथ इन अन्यों बातों का अभाव है वहां सर्वज्ञता को भी कोई स्थान नहीं है। सर्वज्ञता की तो बात ही निराली है, हम तो लोक व्यवहार में भी एकान्ततः ऐसे व्यक्तियों को प्रमाणिक स्वीकार नहीं करते। प्रति दिन न्यायालयों में हज़ारों मनुष्यों की

साक्षियां (Evidence) हुआ करती हैं जिनमें परस्पर में विरोध नहीं रहता किन्तु फिर भी इनको प्रामाणिक नहीं माना जाता, हां परस्पर विरोधी वचन से सर्वज्ञता का अवश्य खण्डन होता है। अतः जब तक जिन २ के उपदेशों में इसका सद्भाव है तब तक उनको इस ही के आधार से असर्वज्ञ ही माना जायगा।

जैन शास्त्रों में परस्पर विरोधी वचनों का अस्तित्व नहीं है तथा जो मिलते हैं वे विरोधाभास हैं और उनका महावीर की वाणी पर कोई प्रभाव नहीं है अतः इसके आधार से उनको असर्वज्ञ नहीं माना जा सकता। सर्वज्ञताकी नियामक अन्य बातों का भी उनके शासन में अभाव नहीं है अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक का प्रस्तुत आक्षेप बिलकुल निस्सार है।

केवली और क्रमिक उपयोग

आक्षेपक ने सर्वज्ञता के अभाव के समर्थन में निम्नलिखित बातें और भी उपस्थित की हैं:—

(१) केवलीके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का क्रम से होना।

(२) केवली के कार्यकारी मन का सद्भाव।

(३) केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का सद्भाव।

(४) सर्वज्ञता का प्रचलित अर्थ।

सर्वज्ञता का भाव जहां कालत्रय और लोकत्रय की अशेष वस्तुओं का ज्ञान है वहीं उस ज्ञान का लगातार रूप से अनन्त काल तक रहना भी। आक्षेपक इन चारों बातों से इस मान्यता का खण्डन करना चाहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान जो कभी कभी होता

हो और जिसके लिये मन की सहायता आवश्यक पड़ती हो, कालत्रय और लोकत्रय की अशेष वस्तुओं को लगातार अनन्त काल तक जानता रहेगा यह बात असंभव है। कभी २ होने से जिसका अस्तित्व ही लगातार अनन्तकाल तक नहीं, फिर भी वह लगातार अनन्तकाल तक पदार्थों को जानता रहेगा यह ऐसा है जैसा कि वन्ध्या-पुत्र का सौन्दर्य ! इस ही प्रकार जो मन की सहायता से होता हो उसका कालत्रय और लोकत्रय की अशेष वस्तुओं को जानना। अब विचारणीय यह है कि क्या आक्षेपक की ये बातें सत्य हैं ? आक्षेपक ने अपनी पहिली बात के समर्थन में निम्नलिखित दो बातें उपस्थित की हैं:—

(१) प्राचीन मान्यता होने से।

(२) लब्धि के सर्वदा उपयोगात्मक न होने से।

केवली के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के क्रमवर्तित्त्व की प्राचीनता के समर्थन में आपने पण्णवणा सूत्र का एक उद्धरण उपस्थित किया है। जहां कि उक्त सूत्र के उद्धरण का भाव केवली के ज्ञान और दर्शन को भिन्न २ समयवर्ती प्रगट करता है वहीं आचार्य कुन्दकुन्द इन दोनों का एक साथ होना स्वीकार करते हैं*

---

* जुगवं वट्टइ णाणं केवल णाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वम्॥
—नियमसार गाथा १४६

अर्थात्—जिस प्रकार सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ रहते हैं, उस ही प्रकार केवलज्ञानियों के दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं।

श्वेताम्बरीय आगम सूत्रों की रचना का काल वीर सम्वत् ६८० है† और आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की पहिली शताब्दि के महापुरुष हैं¶। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द और श्वेताम्बरीय आगम शास्त्रों की रचना में कई सौ वर्षों का अन्तर है और आगमों की रचना काल की अपेक्षा उक्त आचार्य का समय ही प्राचीनतर है। श्वेताम्बरीय सूत्रों के सम्बन्ध में यह कहना कि वीर सम्वत् ६८० में तो इनको लिपिवद्ध किया गया था, इनकी रचना तो आचार्य कुन्दकुन्द से भी कई सौ वर्ष पूर्व श्रीजम्बूस्वामी और श्री भद्रबाहुस्वामी द्वारा हो चुकी थी, ऐसा ही है जैसे वैदिक मन्त्रों को ईश्वर प्रणीत बतला कर भिन्न २ वैदिक ऋषियों को उनका या उनके अर्थों का अवतरण स्थान बतलाना। वेद मंत्रों में वैदिक ऋषियों के नामोल्लेख हैं, अतः वैदिक सम्प्रदाय उनसे उन २ ऋषियों का सम्बन्ध विच्छेद तो कर नहीं सकता तथा यह कहना कि अमुक २ ऋषि अमुक २ मंत्र के रचयिता हैं उसकेलिये मरण का स्थान है। अतः उसने यह कल्पना की है कि अमुक २ ऋषि के समय में जब २ अमुक २ ऋषि ने ध्यानस्थ होकर अमुक अमुक मन्त्रार्थ का चिन्तवन किया था तब २ परमात्मा ने उनको उन उन मन्त्रों का अर्थ दिया था। वैदिक सम्प्रदाय की यह

---

† वल्लहि पुरम्मि नयरे देवड्ढिय मुह सयल संघेहि।
पुत्थे आगमलिहिओ नवसय असिआओ वीराओ॥

अर्थात्—वल्लीपुर नगर में देवर्धिगणी आदि समस्त संघ ने वीर सं० ६८० में आगम पुस्तक रूप रचे।

¶ देखो प्रो० चक्रवर्तिकी पंचास्तिकायकी ऐतिहासिक भूमिका।

कल्पना भले ही उसके श्रद्धाशुओं के लिये मान्यता का स्थान हो सकती हो किन्तु एक परीक्षक के लिये तो इसमें तनिक भी बल नहीं है। यही बात श्वेताम्बरीय सूत्रों के सम्बन्ध में है। इनमें स्थान २ पर भद्रबाहु आदि का अन्य पुरुष से उल्लेख मिलता है। अन्य भी अनेक घटनाओं का उल्लेख इन सूत्रों में विद्यमान है जिनका अस्तित्व समय कि स्वयं आचार्य भद्रबाहु के बाद का है‡। ऐसी अवस्था में भी इनको श्री जम्बूस्वामी या श्री भद्रबाहु स्वामी द्वारा विरचित स्वीकार करना केवल एक साम्प्रदायिक विचार है; अतः पएणवणा सूत्र के आधार से केवली में ज्ञान और दर्शन के क्रमवर्तित्त्व की प्राचीनता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में दूसरी बात लब्धि की कही है। आपका कहना है कि लब्धि सदैव उपयोगात्मक हो यह नियम नहीं है। आपने इस बात पर एक प्रश्न और फिर उसके उत्तर-स्वरूप में निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं:—

प्रश्न—"जो लब्धियां क्षयोपशमिक हैं उनका उपयोग सदा न हो यह हो सकता है परन्तु जो क्षायिक लब्धि है उसके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती"।

---

‡ ठाणांग सूत्र ५८७ और इसकी टीका। इनमें सात निह्नवों का वर्णन है जिनमें से अन्त के दो निह्नवों का समय इन ही के अनुसार वीर सम्वत् ५४४ और ५८४ है। इस ही बात का वर्णन विशेषावश्यक भाष्य में भी मिलता है। यह सब वर्णन इन पुस्तकों में भूतकाल के रूप में किया गया है।

उत्तर—"लब्धि और उपयोगका क्षयोपसम और क्षयके साथ कोई विषम सम्बन्ध नहीं है। क्षयोपशम से अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है और क्षय से पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है। क्षयोपशम में थोड़ी शक्ति भले ही रहे परन्तु जितनी शक्ति है उसको तो सदा उपयोग रूप रहना चाहिये। यदि क्षायोपशमिक शक्ति लब्धि रूप में रहते हुए भी उपयोग रूप में नहीं रहती तो केवलज्ञान भी लब्धि रूप में रहते हुए भी उपयोगरूप में रहना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता·········दूसरी बात यह है कि अन्य क्षायिक लब्धियां भी उपयोग रहित होती हैं। अन्तराय कर्म के क्षय होने से जैसे केवली में दानादिक"।

अर्थग्रहण शक्ति का नाम लब्धि* और अर्थग्रहण व्यापार का नाम उपयोग है†। जहाँ कि उपयोग लब्धि के अनुसार होता है वहीं लब्धि भी ज्ञानावरणकर्म के अभाव से। जैसे जैसे और जितना जितना ज्ञानावर्णी कर्म का अभाव होता जाता है वैसे वैसे और उतनी उतनी अर्थग्रहण शक्ति निरावरण होती जाती है, इस ही को लब्धि कहते हैं। जब तक ज्ञानावर्णी कर्म का बिलकुल अभाव नहीं होता तब तक की लब्धि को क्षायोपशमिक कहते हैं और जब ज्ञानावर्णी कर्म का बिलकुल अभाव होजाता है उस समय की लब्धि को क्षायिक लब्धि कहते हैं।

जब तक लब्धि क्षायोपशमिक रहती है तब तक उसको उपयोगात्मक होने में अन्य साधन भी अपेक्षणीय रहते हैं। मति ज्ञान

---

* तत्रार्थग्रहण शक्तिर्लब्धिः

† अर्थग्रहण व्यापार उपयोगः —लघीयस्त्रय पे० १५

और श्रुत ज्ञान स्पष्ट इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं तथा मन और इन्द्रिय सदैव एक विषय पर दृढ़ नहीं रह सकते। इस बात के समर्थन के लिये प्रमाणों की आवश्यकता नहीं; इसके समर्थन के लिये तो हमारा दैनिक अनुभव ही पर्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य अनुभव करता है कि उसकी इन्द्रियाँ और मन एक विषय पर चिरकाल कत नहीं टिकते। इस ही प्रकार यह भी हमारा अनुभव बतलाता है कि अधिक समय तक किसी एक विषय पर दृष्टि लगाने या विचार करने से इसको मानसिक एवं ऐन्द्रिक विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। इससे प्रगट है कि इनकी सहायता दृढ़ एवं स्थायी नहीं; अतः इनके निमित्त से होने वाले मति और श्रुतज्ञान भी दृढ़ और स्थायी नहीं।

यद्यपि अवधिज्ञान में इन्द्रिय और मन की आवश्यकता नहीं पड़ती और यह केवल आत्ममात्र सापेक्ष ही होता है, किन्तु ऐसा होने पर भी यह एकदम नहीं हो जाया करता—अवधिज्ञानी उस ही को अवधिज्ञान से जानता है जिसको वह जानना चाहता है। यही बात मनःपर्ययज्ञान के सम्बन्ध में है। अर्थात् मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के निरपेक्ष होने पर भी उस ही को जानता है जिसको कि मनःपर्ययज्ञानी जानना चाहता है। इससे प्रगट है कि जिस प्रकार मति और श्रुतज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं उस ही प्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति भी अकारण नहीं। इच्छा और उपयोग पूर्वक प्रयत्न भी उनमें से हैं जिनके द्वारा कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति होती है। इच्छा और उपयोग पूर्वक प्रयत्न ऐसी बातें

हैं जिनकी मति और श्रुत की उत्पत्ति में भी आवश्यकता होती है।

जिस बात को हम करना चाहते हैं और जिस के लिये हम प्रयत्न करते हैं उसके पूर्ण हो जाने पर हमारा ध्यान उधर से स्वयमेव निवृत्त हो जाया करता है। यही बात अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के सम्बन्ध में है। एक अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी किसी विशिष्ट विषय को जानना चाहता है और उसके लिये उपयोग पूर्वक प्रयत्न करके अवधि या मनःपर्यय के उपयोग को उसकी तरफ ले जाता है किन्तु जब वे इस कार्य को कर लेते हैं तब उनका ध्यान स्वयमेव उस विषय से निवृत्त हो जाता है। इससे प्रगट है कि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय जिन परिस्थितियों में उपयोगात्मक होते हैं, वे इस प्रकार की नहीं जिससे वे सदैव रह सकें। किन्तु ये बातें क्षायिकज्ञान के सम्बन्ध में घटित नहीं होतीं। न केवलज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है और उसके उपयोगात्मक होने में इच्छा आदि बातें आवश्यक ही हैं। केवलज्ञान तो उस अवस्था में आविर्भूत होता है जब कि मोहनीय कर्म ही नष्ट हो जाता है फिर इच्छा की तो बात ही क्या है। अतः केवलज्ञानकी उपयोगात्मक अवस्थामें कादाचित्क की बात नहीं आती। इससे स्पष्ट है कि क्षय और क्षायोपशमिक इन दोनों अवस्थाओं में लब्धि के रहने पर भी पहिली अवस्था में उसके अनुसार उपयोग होने में उपयोग के कादाचित्क की गुन्जाइश नहीं जब कि यह बात दूसरी अवस्था में युक्तियुक्त ठहरती है।

दानादिक के लिये केवल अन्तरायकर्म का क्षय ही आवश्यक नहीं, किन्तु उच्च जाति का शुभ नाम और साता का उदय भी अनिवार्य है। अन्तराय कर्म के अभाव से तो इस प्रकार की शक्ति-विशेष का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु दानादिक के लिये तो अन्य बातों की भी आवश्यकता है। भगवान् संसार दुखों से तप्त प्राणियों को उपदेश द्वारा अभय दान देते थे। यह उनके केवल अन्तराय के क्षय का ही परिणाम नहीं था, किन्तु उनका तीर्थङ्कर नामकर्म भी अपेक्षित था। जब इन दोनों में से एक का भी अभाव होजाता है तो उपदेश स्वरूप अभयदान नहीं हो सकता। यह तो तीर्थङ्करों की बात है। यदि इस ही बात को अपने में ही घटित करना चाहेंगे तब भी यह इस ही प्रकार मिलेगी। जिस प्रकार हम में दान की शक्ति विशेष के रहने पर भी बाह्य द्रव्य के अभाव से हम बाह्य द्रव्य त्याग रूप दान नहीं करते, फिर भी हमारी वह शक्ति विशेष अनुपयोगात्मक नहीं, इस ही प्रकार सिद्धों में बाह्य नाम कर्म के उदय के अभाव से उपदेश के न रहने पर भी उनकी शक्ति विशेष अनुपयोगात्मक नहीं। इसके साथ ही साथ आक्षेपक को यह भी देखना चाहिये कि ये लब्धियां जिनको वह सिद्धों में लब्धि रूप बतला रहे हैं स्वतंत्र गुण हैं या किसी गुण की अवस्थायें हैं। यदि स्वतंत्र गुण हैं तो फिर इनकी उपयोग स्वरूप अवस्था क्या है? यदि उनको किसी गुण की अवस्था विशेष स्वीकार किया जायगा तो वह गुण कौनसा है और उसकी इस प्रकार की अवस्थायें क्यों हुईं, आदि आदि। इन सब बातों के समाधान से स्पष्ट हो जायगा कि सिद्धों में यह

लब्धियाँ उपयोग स्वरूप ही हैं। इससे प्रगट है कि सिद्धों में भी लब्धियाँ उपयोग स्वरूप हैं; अतः इसके आधार से भी केवली के ज्ञान को अनुपयोगात्मक प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इससे यह भी स्पष्ट है कि आक्षेपक के वे समाधान भी जो कि उन्होंने सहवादियों की तरफ से क्रमवादियों पर किये गये आक्षेपों के सम्बन्ध में दिये हैं निराधार हैं। सहवादियों का कहना है कि केवली में यदि दर्शन और ज्ञान को क्रम से मानोगे तो निम्न लिखित बातें ठीक नहीं बैठेंगी:—

१—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का एक साथ अभाव।

२—ज्ञान और दर्शन का सादि अनन्तत्व !

३—एक की अवस्था में दूसरे की क्या अवस्था रहेगी और वह क्यों ?

४—ज्ञान के समय दर्शन का अभाव और दर्शन के समय ज्ञान का अभाव होने से उपदेश कैसे होगा—यदि होगा तो अज्ञात वस्तु का उपदेश देना कहलायेगा; आदि।

इन सब का ही समाधान आक्षेपक ने उपयोग को लब्धि के अनुसार न मान कर ही किया है किन्तु जब यह ही बात नहीं बनती तब इसी के आधार से इन आक्षेपों के समाधान कैसे ठीक बैठ सकते हैं। केवली में लब्धि के अनुसार ही उपयोग होता है इस बात का समर्थन हम पूर्व ही कर चुके हैं; अतः सहवादियों के आक्षेप क्रमवादियों पर तदवस्थ हैं।

जहां कि आक्षेपक की युक्तियों की यह हालत है वहीं केवली में ज्ञान और दर्शन के सहपक्ष में इस प्रकार की दोनों बातें मौजूद

हैं। केवली में ज्ञान और दर्शन के सहवाद की मान्यता एक अति प्राचीन मान्यता है। इसको हम आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार की गाथा से स्पष्ट कर चुके हैं। दूसरे युक्तियाँ भी इसका समर्थन करती हैं, जैसा कि निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है:--

ज्ञान और दर्शन यह दो स्वतन्त्र गुण नहीं, किन्तु चेतना गुण की पर्याय हैं। जिस समय चेतना गुण स्वातिरिक्त अन्य ज्ञेयों से असम्बन्धित होकर केवल अपना ही प्रकाश करता है उस समय उसको दर्शन कहते हैं। जब यही अपने प्रकाश के साथ ही साथ अन्य ज्ञेयों का भी प्रकाश करता है उस समय इसी को ज्ञान कहते हैं। प्रकाशात्मक पदार्थ किसी भी अन्य पदार्थ का प्रकाश न करें यह सम्भव है, किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह बिना अपने प्रकाश के दूसरों का प्रकाश कर दें। दीपक ही है; इसकी ऐसी अवस्था तो मिल सकती है जब कि यह किसी का प्रकाश न कर रहा हो, किन्तु ऐसी अवस्था का मिलना नितांत असंभव है जब कि यह दूसरों का प्रकाश तो कर रहा हो और स्वयं अप्रकाशित हो। यही बात है जिससे प्रकाश की प्रकाश्य के स्थान पर आवश्यकता हुआ करती है न कि दृष्टा के। इससे यह निष्कर्श निकला कि जितने भी प्रकाशात्मक पदार्थ हैं जिस समय वे दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करते हैं उसी समय अपने को भी। ज्ञान भी एक प्रकाशात्मक तत्त्व है, अतः उसके सम्बन्ध में भी यही बात है। यह भी जिस समय दूसरों का प्रकाश करता है उसी समय अपना भी।

जिस प्रकार द्रव्य में प्रति समय परिणमन हुआ करता है

उसी प्रकार गुण में भी। चेतना भी एक गुण है, अतः इसमें भी प्रति समय परिणमन हुआ करता है।

सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार इसके भी दो कारण हैं। एक उपादान और दूसरा निमित्त। उपादान कारण तो चेतना गुण ही है और निमित्त कारण कालादिक। जब कि यह चेतनागुण जीव की संसारी अवस्था में रहता है तब इन्द्रियादिक एवं मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले भावों का भी इसके परिणमन पर प्रभाव पड़ता है। यह बातें कादाचित्क हैं, अतः चेतना का इस अवस्था का परिणमन भी भिन्न-भिन्न रूप को लेकर होता है। जब संसारी आत्मा इस अवस्था को पार कर जाता है और जीवन्मुक्त या सिद्ध हो जाता है तब चेतना गुण के परिणमन पर उन बातों का प्रभाव जिनका जीव की संसारी अवस्था में पड़ता था नहीं पड़ता। क्योंकि उनका कारण मोहनीय कर्म इन अवस्थाओं में नष्ट हो जाता है। अतः इस समय चेतना गुणका परिणमन भी भिन्न २ रूपवाला नहीं होता। ऐसी अवस्था में इसका जैसा परिणमन होता है वह सदैव वैसा ही रहता है। यह परिणमन स्वपर प्रकाशक स्वरूप है। अतः यह इसी प्रकार की अवस्था में रहता है।

दृष्टान्त के लिये इसको यों समझियेगा कि आत्मा में प्रदेश गुण हैं, जिसके कारण इसका कुछ न कुछ आकार अवश्य रहता है तथा रहेगा। जब तक यह आत्मा शरीर में रहता है तब तक शरीर के छोटे बड़ेपन से इसके आकार में भी विभिन्नता आती रहती है। जिस समय यह शरीर बन्धन को दूर कर देता है और

मुक्त हो जाता है उस समय इसका जैसा आकार होता है वैसा ही अनन्तकाल तक रहता है, क्योंकि संसारी अवस्था में जिस शरीर के कारण इसके आकार में परिवर्त्तन होते थे अब वह इसके साथ नहीं है। अतः इसके आकार में परिवर्तन भी नहीं होते। आत्मा की मुक्त अवस्था में भी इसके प्रदेशगुण में परिणमन होते हैं किन्तु वे सदृश ही होते हैं न कि असदृश तथा जब इन सदृश परिणमनों के अतिरिक्त कारणों का भी संयोग था उस समय उनके कारण इन परिणमनों में भी विसदृशता आ जाती थी। अब वे कारण हैं नहीं, अतः वह विसदृशता भी नहीं आती। यही बात चैतन्यगुण के सम्बन्ध में है। उसमें भी प्रति समय परिणामन होता है तथा जब तक असमान परिणामन के कारण रहते हैं तब तक यह ऐसा होता है और जब यह दूर हो जाते हैं तब सदृश परिणामन होने लगता है। जीवन्मुक्त अवस्था या मुक्ति अवस्था में चैतन्य गुण के विसदृश परिणमन के कारण दूर हो जाते हैं, जैसा कि हम पहिले बतला चुके हैं। अतः उस समय चैतन्यगुण का परिणमन भी सदृश ही होता है। इसका यह भाव कदापि नहीं कि जीवन्मुक्त या सिद्धों में दो उपयोग एक साथ होते हैं किन्तु यह है कि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में जिन २ बातों की मुख्यता थी वे बातें चेतना गुण की इस अवस्था में होती हैं। जहाँ दर्शन में केवल स्वप्रकाश की बात है वहीं ज्ञान में परप्रकाश की मुख्यता तथा इस अवस्था में ये दोनों ही होती हैं। अतः यह कहा जाता है कि केवली या सिद्धों के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक साथ होते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार की व्यवस्था तो संसारी जीवों के भी ज्ञान में है फिर यही क्यों कहा जाता है कि केवली या मुक्तों में ही दोनों उपयोग एक साथ होते हैं ? उत्तर—संसारी जीवों के ज्ञान में इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी उनके चेतना गुण की यह पर्याय स्थिर नहीं है। कभी वह ज्ञान रूप रहता है तो कभी ज्ञान को छोड़ कर ऐसी अवस्था को धारण कर लेता है जहाँ कि केवल स्वप्रकाश है और जिसको दर्शनोपयोग कहते हैं। अतः वहाँ इस प्रकार की व्यवस्था सार्वकालिक न होने से ऐसा नहीं कह सकते किन्तु यही कहना पड़ता है कि उनका ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। इसका यह भाव कदापि नहीं कि संसारी जीवों का सब ही ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगपूर्वक होता है या ज्ञानोपयोग ज्ञानोपयोगपूर्वक होता ही नहीं किन्तु यह है कि संसारी अवस्था में ज्ञान से पूर्व चैतन्यगुण का परिणमन दर्शनरूप भी होता है। ये बातें जीवन्मुक्त या सिद्धों में नहीं, अतः उनके साथ संसारी जीवों के उपयोगों की बातें घटित नहीं होतीं। प्रश्न—घातिया कर्मों के नाश के समय चैतन्य गुण का जैसा परिणमन होता है वैसा ही सदैव रहता है, यदि यह बात है तो उस समय के चैतन्यगुण के परिणमन को ज्ञान स्वरूप ही क्यों माना जाय, दर्शनस्वरूप क्यों नहीं ? उत्तर—जिस समय यह जीव घातिया कर्मों का नाश करता है उस समय इसकी अवस्था ध्यानावस्था होती है। तथा ध्यानावस्था में चैतन्यगुण का परिणमन ज्ञानस्वरूप ही रहता है। अतः इसकी उस समय की अवस्था ज्ञानस्वरूप ही है और फिर अगाड़ी भी इसकी अवस्था ज्ञानस्वरूप ही रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवली के ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगपूर्वक नहीं होता।

विरोध— आपने जो गाथा उद्धृत की है। उसमें "आगमलिहिओ" का अर्थ ही आपने बदल दिया। आपने 'लिखा गया' के बदले में 'रचा गया' अर्थ किया है। जिससे संस्कृत न जानने वाले पाठक धोखे में पड़ जांय। वीर सम्वत् ६८० के पहले होने वाले सिद्धसेन दिवाकर ने आगम की इन्हीं बातों का अपने सम्मतितर्क में उल्लेख किया है और आगम के नाम पर उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि ये आगम ६८० के पहले भी थे। इस विषय में 'विरोधी मित्रों से' शीर्षक लेखमाला में बहुत कुछ लिखा गया है। देखिये जैनजगत वर्ष ७ अंक २३ पृ० ११ और ७-२४-१३। ८-२-११ और ६-१०-१२ आदि।

परिहार—"लिहिओ" शब्द का रचागया की तरह 'लिखागया' भी अर्थ होता है। आजकल मैं एक पुस्तक लिख रहा हूँ या मुझे आज एक लेख लिखना है" इन वाक्यों में 'लिखना' शब्द रचनार्थ में ही प्रयुक्त होता है। लिखने का अर्थ नकल करना है यह कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। आक्षेपक ने स्वयं भी लिखने शब्द का रचनार्थ में प्रयोग किया है।* आजकल तो

---

* मैंने अपने न्याय प्रदीप में सप्तभङ्गी पर एक अध्याय ही लिखा है…………

उसका सत्य स्वरूप बतलाने के लिये लेखमाला में लिखने वाला हूं। —जैनजगत वर्ष ६ अङ्क २० पेज १५

पुस्तक या लेखों के रचयिताओं के लिये 'लेखक' शब्द ही प्रयुक्त होता है। अतः यह स्पष्ट है कि "लिहिओ" का एकान्ततः लिखना ही अर्थ नहीं है किन्तु 'रचना करना' भी है। इससे प्रगट है कि आक्षेपक का हम पर अर्थ बदलने का आरोप मिथ्या है।

जहाँ तक सिद्धसेन दिवाकर के ग्रन्थों में सूत्र साहित्य के उल्लेखों का सम्बन्ध है वहाँ तक तो आक्षेपक के साथ हमारा कोई मतभेद नहीं है। हम स्वीकार करते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर ने अपने लेखों में सूत्र साहित्य के उल्लेखों का उल्लेख किया है किन्तु जब आप यह कहते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर का समय वीर सं० ६८० से पूर्व का है, तब हम आपकी बात मानने को तैयार नहीं हैं। सिद्धसेन दिवाकर वीर सं० ६८० से पूर्व के महापुरुष हैं इसके समर्थन में विद्वान लेखक ने एक भी युक्ति उपस्थित नहीं की है। आपका कर्तव्य था कि अपनी इस प्रतिज्ञा के साथ कम से कम एक दो तो प्रमाण उपस्थिति करते जिससे आपकी प्रतिज्ञा की सत्यता की परीक्षा की जा सकती।

सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि यह विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक थे। विक्रम के नवरत्नों में सिद्धसेन का नाम नहीं है किन्तु फिर भी कतिपय विद्वानों की धारणा है कि इनमें जिस क्षपणक का उल्लेख है वह सिद्धसेन ही है। अभ्युपगम सिद्धान्त से यदि इस प्रश्न को न भी उठाया जाय और यही स्वीकार कर लिया जाय कि सिद्धसेन दिवाकर इन्हीं नौरत्नों में से एक हैं तब भी उनका अस्तित्व वीर सं० ६८०-

से प्राचीन सिद्ध नहीं होता। इन ही नौ रत्नों में बराहमिहर का भी नाम है। यह ईसा की छठी शताब्दी के ज्योतिषी हैं। इनके सम्बन्ध में इनके लेख ही पर्याप्त हैं। जबकि बराहमिहर का समय छठी शताब्दी से आगे नहीं जाता, तब सिद्धसेन दिवाकर के समय को ही आगे कैसे ले जाया जा सकता है। सिद्धसेन दिवाकर रचित न्यायावतार की भूमिका और मध्ययुग के न्याय के इतिहास से डाकुर सतीशचन्द्र जी भी इस ही परिणाम पर पहुँचे हैं।*

डॉ० जे कोबी की दृष्टि से तो दिवाकर महोदय इससे भी बाद के हैं।¶ आपका कहना है कि जिस समय दिवाकर महोदय ने न्यायावतार की रचना की थी उस समय धर्मकीर्ति बौद्धों के

---

* Siddhsena was the well known Ksapanaka who Adorned the court of Vikramaditya and was one of the nine gems (Nava Ratan). Varahamihara, the famous astronomer who was another of the nine Gems of the Court of Vikramaditya lined A. D. 505 and A. D. 587. We are told that Ksapanaka alias Sidhasena was a contemporary of Varahamihara so he must have flourished about the middle of the 6th century. न्यायावतार की भूमिका by डा० सतीशचन्द्रजी

¶ The first Svetamber Author of Sanskrit works which have come down to us was Siddhasena Divakara who must be assigned to the 7th century A. D. Since he was acquainted with the logices of the Buddhist philosopher Dharam Kirti.

—स्वामी समन्तभद्र० पेज २५०

प्रत्यक्ष लक्षण में संशोधन कर चुके थे। धर्मकीर्ति से प्राचीन बौद्धाचार्यों के प्रत्यक्ष के लक्षण में अभ्रान्त विशेषण नहीं मिलता। यह विशेषण धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण में मिलता है। दिवाकर महोदय ने अपनी प्रत्यक्ष की परिभाषा में धर्मकीर्ति के इस विशेषण का खण्डन किया है। अतः सिद्धसेन दिवाकर का समय धर्मकीर्ति के बाद का ही होना चाहिये। धर्मकीर्ति का समय ईसा की सातवीं शताब्दी है। अतः दिवाकर महानुभाव को इससे पूर्व का कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त बातों की मौजूदगी में भी यह कह देना कि सिद्धसेन दिवाकर वीर सं० ६८० से पूर्व के महापुरुष हैं यह एक आश्चर्य की बात है। जबकि सिद्धसेन दिवाकर का समय वीर सं० ६८० से पूर्व का निश्चित नहीं है तब इसही के आधार से वर्तमान सूत्र साहित्य को वीर सं० ६८० से पूर्व का स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसके सम्बन्ध में लेखक महाशय ने अपने पूर्व लेखों की तरफ भी संकेत किया है। अतः यहाँ उन पर भी प्रकाश डाल देना अनुचित एवं अनावश्यक न होगा।

आक्षेपक ने अपने उल्लिखित लेखों में निम्नलिखित बातें लिखी हैं।

१—"श्वेताम्बरों का आगम देवर्द्धिगणी के समय में संकलित्त हुआ है यह ठीक है परन्तु फिर भी दिगम्बर साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि दिगम्बरों के पास संकलित साहित्य ही नहीं है मन की पुस्तकें बना ली है" जैन-जगत वर्ष ७ अङ्क २३ पे० ११।

२—वास्तव में देवर्द्धिगणी ने श्वेताम्बर साहित्य बनाया नहीं था, किन्तु संकलित किया था। इससे पहिले मथुरा और पाटिलपुत्र में दो वाचनायें और भी हो चुकी थीं। मथुरा और वल्लभी की वाचनाओं में जो साधारण पाठ-भेद है वह भी आज उपलब्ध है। वर्तमान के सूत्र वास्तव में माथुरी वाचना के हैं जो स्कंदिलाचार्य के अधिष्ठातृत्व में हुई थी। नन्दीसूत्र की निम्नलिखित गाथा इस बात का प्रमाण है—

जेसि इमो अणुओगो पय रइ अज्जावित्रड्ढ भरहम्मि बहुनपर निग्गय जसे ते वन्दे स्खंदिलायरिए।

अर्थात् जिनका अनुयोग अभी अर्द्धभरत में प्रचलित है उन स्कंदिलाचार्य की वन्दना करता हूं। इससे स्पष्ट है कि सूत्र ग्रन्थ किसी आचार्य ने मनमाने ढङ्ग से एक समय में बना नहीं लिये हैं, किन्तु श्रमण संघ द्वारा चले आरहे हैं। जैन-जगत वर्ष ७ अङ्क २४ पेज १३।

३—दिगम्बर जैन ग्रन्थों में उत्तराध्ययन का नाम आता है और उनके अनुसार ही वह श्रुतकेवलियों के समय का है फिर उसे भगवान् महावीर के ६०० वर्ष बाद का कहना ठीक नहीं। उस समय वे व्यवस्थित रूप से लिपिबद्ध किये गये थे। सिद्धसेन दिवाकर आदि आचार्य इस सूत्र संकलन से पहले हो गये हैं और उनके ग्रन्थों में इनही सूत्रों के आधार से खूब चर्चायें हैं, इससे सिद्ध होता है कि इन आचार्यों के समय में भी ये सूत्र उपलब्ध थे। अगर कहा जाय कि संकलन के समय नई-नई बातें मिला दी तो इस आरोप से दिगम्बर भी कैसे बच सकते हैं।

—जैन-जगत वर्ष ६ अङ्क १० पेज १२।

आक्षेपक के संकेतित तीसरे लेख में कोई उल्लेखयोग्य बात नहीं है। अतः हमने उसको यहाँ लिखना उचित नहीं समझा, श्वेताम्बरियों का साहित्य संकलित है और दिगम्बरियों का आचार्यों की निजी रचना है इस बात का निर्णय शेष बातों के निर्णय पर अवलम्बित है। अतः हम इस पर अन्त में प्रकाश डालेंगे।

अपने इन लेखों में श्वेताम्बर साहित्य को वी० सं० ६८० से पूर्व का प्रमाणित करने के लिये आक्षेपक ने तीन बातें लिखी हैं। एक दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार उत्तराध्ययन का श्रुत केवली के समय का होना, दूसरी नन्दीसूत्र की गाथा और तीसरी सिद्धसेन दिवाकर का वी० सं० ६८० से पूर्व का होना। इनमें से तीसरी पर तो हम अपने इसही लेख में विचार कर चुके हैं तथा यह सिद्ध कर चुके हैं कि सिद्धसेन दिवाकर को वी० सं० ६८० से पूर्व का कथमपि नहीं माना जा सकता। अतः इसके आधार से श्वेताम्बर साहित्य को वी० सं० ६८० से प्राचीन नहीं माना जा सकता।

किस दिगम्बर शास्त्र के आधार से वर्तमान श्वेताम्बरीय उत्तराध्ययन का अस्तित्व श्रुतकेवलियों के समकालीन प्रमाणित होता है, आक्षेपक ने यह नहीं लिखा। जब तक दिगम्बर शास्त्रों के अपेक्षित उल्लेख सामने न आ जायं तब तक इसके सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है। यही बात आक्षेपक के सम्बन्ध में है। जब तक आप अपनी कल्पना के आधार स्वरूप दिगम्बर ग्रन्थों के उल्लेखों को उपस्थित करके विचार नहीं करते तब तक जो कुछ भी आप लिखेंगे वह केवल प्रतिज्ञा ही समझी जावेगी

और इसका विचारकों की दृष्टि में कुछ भी मूल्य न होगा। आक्षेपक ने प्रस्तुत उल्लेखों को उपस्थित करना तो दूर रहा उनके सम्बन्ध में संकेत भी नहीं किये हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय के समर्थन में आक्षेपक की पहिली बात भी निरर्थक है। अब रह जाती है नन्दीसूत्र के प्रमाण की बात।

श्वेताम्बरीय साहित्य संकलित साहित्य है और इसका संकलन भिन्न-भिन्न ऋषियों के स्मरणाधार के स्कंदिलाचार्य ने किया था। इन सब बातों के निराकरण के लिये नन्दीसूत्र पर्याप्त है। नन्दीसूत्र का जो प्रमाण आक्षेपक ने उपस्थित किया है वह उसके स्थविरावलि प्रकरण का है। इसमें नन्दीसूत्रकार ने भगवान् ऋषभ से लेकर अपने से पूर्व तीर्थंकरों और आचार्यों को नमस्कार किया है। यह नमस्कार श्रेणी देवर्द्धिगणि से पूर्व ही समाप्त होती है। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसके रचयिता स्वयं देवर्द्धिगणि या उनके समय के कोई दूसरे आचार्य हैं। देवर्द्धिगणि से पूर्व जितने भी आचार्य हुए हैं उन सबको इसमें नमस्कार किया गया है। अतः इस नमस्कारमाला का समय गणि महोदय से पूर्व का किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसही स्थविरावली के अन्त में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

जे अन्ने भगवंते कालिय सुय आणु ओगिए धारे।
तं वंदिऊण सिरसा नाणस्स परूवणं वोच्छं॥

अर्थात् इन सबके अतिरिक्त अन्य भी जो आचार्य हैं उनको नमस्कार करके ज्ञान की प्ररूपणा करूंगा।

"परूपणं वोच्छं" अर्थात् परूपणा करूंगा, इससे प्रकट है

कि प्रस्तुत नन्दीसूत्र संकलन स्वरूप नहीं है, किन्तु किसी एक मस्तिष्क की रचना है। इससे प्रकट कि आक्षेपक जिस नन्दीसूत्र से श्वेताम्बरीय आगमों को संकलनात्मक तथा स्कन्दिलाचार्य के समय का प्रमाणित करना चाहते हैं उसही से उनकी मान्यता का खण्डन होता है। इसके अतिरिक्त आक्षेपक द्वारा उद्धृत नन्दीसूत्र के प्रमाणों में भी ऐसी कोई बात नहीं है जिससे श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों को स्कंदिलाचार्य के समय का संकलन माना जा सके। इसमें तो केवल यही बतलाया गया है कि जिसका अनुयोग अभी भी अर्द्ध भारत में प्रचलित है उनको नमस्कार होवे। इसमें ऐसी कौनसी बात है जिससे आक्षेपक अपने अभिमत का समर्थन करना चाहते हैं? ऐसा मालूम होता है कि स्कंदिलाचार्य ने अपने समय में ख्याति विशेष प्राप्त की होगी तथा उनकी वह ख्याति नन्दीसूत्र के समय में भी होगी। अतः नन्दीसूत्रकार ने उनकी इस बात को लेकर उनको नमस्कार किया है।

विरोध—सहवादकी मान्यता भलेही प्राचीन हो. परन्तु क्रमवाद की मान्यता कम प्राचीन नहीं है। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने इसका उल्लेख किया है और आगम का मत कहकर उल्लेख किया है। खैर, यहाँ तो आपके वक्तव्य का आपके ही वक्तव्य से खण्डन होता है। दर्शन और ज्ञान जबकि पर्याय हैं तब उनका सहवाद कैसे बन सकता है? क्योंकि एक समय में एक गुण की दो पर्यायें नहीं होतीं। अन्यथा उनकी पर्यायता ही नष्ट हो जायगी।

जैनशास्त्रों में दर्शन और ज्ञान की परिभाषाएँ दो तरहकी हैं। पहिली के अनुसार सामान्यग्रहण दर्शन, विशेषग्रहण ज्ञान है।

दूसरी के अनुसार आत्मग्रहण दर्शन और परग्रहण ज्ञान है। इन दोनों ही परिभाषाओंके अनुसार सहोपयोग नहीं बन सकता। मेरे दिये हुए दोषों से बचने के लिये पं० राजेन्द्रकुमारजी ने दर्शनज्ञान की परिभाषा में संशोधन किया है। खैर, मेरा उत्तर देने के लिये ही अगर कोई जैनशास्त्रों में संशोधन करता है तो भी मैं स्वागत करता हूं। यदि पं० राजेन्द्रकुमारजी अपनी परिभाषा को जैनशास्त्रों की परिभाषा समझते हैं तो उन्हें वह परिभाषा किसी शास्त्र से उद्धृत करके बतलाना चाहिये। खैर, यहाँ मैं उनकी परिभाषा मान कर ही उत्तर देता हूं।

आपकी परिभाषा के अनुसार भी केवलज्ञान के समय केवल-दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आपके मतानुसार ही केवली त्रिकालत्रिलोक को प्रतिसमय विषय करता है इसलिये स्वातिरिक्त अन्य पदार्थों से असम्बन्धित होकर केवल अपना ही प्रकाश वह कैसे कर सकता है ? वह आत्मप्रकाश के साथ परप्रकाश अवश्य करेगा और दर्शन में तो परप्रकाश रहित आत्मप्रकाश होना चाहिये जोकि केवली से नहीं मिल सकता। इसलिये केवलदर्शन के उपयोग का उसमें अभाव ही रहा। इसलिये सहोपयोगवाद भी न बन सका तथा उपयोग रहित लब्धि के सद्भाव को सिद्ध करने वाला एक जबर्दस्त प्रमाण और मिल गया।

विरोध—आपने यह बात इस शंका के समाधान में कही है कि "घातिया कर्मों के नाशके समय चैतन्यगुण का जैसा परिणमन होता है वैसा ही सदैव रहता है। यदि यह बात है तो उस समय के चैतन्यगुण के परिणमन को ज्ञानस्वरूप ही क्यों माना जाय ?"

इसके उत्तर में आपने जो उपर्युक्त वक्तव्य (आक्षेप १०७) उपस्थित किया है उससे सिद्ध है कि अर्हन्तसिद्ध के उपयोग को आप ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं। यह 'ही' ही सहोपयोगवाद के निषेध के लिये पर्याप्त है। परन्तु यहाँ तो आपने एक और आपत्ति खड़ी करली है। प्रश्न यह है कि घाति कर्मनाश के समय एकत्व वितर्क शुक्लध्यान की अवस्था का ज्ञानोपयोग नष्ट होता है कि नहीं ? यदि नहीं होता तब तो त्रिकालत्रिलोक का प्रतिभास हो ही नहीं सकता, क्योंकि एकत्व वितर्क शुक्लध्यान में तो किसी एक पदार्थ पर ही ध्यान स्थिर होता है। इसलिये घातिकर्म नाश होने पर उसी पर अनन्त कालतक स्थिर रहना चाहिये। यदि वह ज्ञानोपयोग नष्ट हो जाता है तब उसके बाद ज्ञानोपयोग ही क्यों होता है ? दर्शनोपयोग क्यों नहीं ? यह शंका खड़ी ही रह जाती है।

सच पूछा जाय तो पं० राजेन्द्रकुमारजी के मतानुसार एकत्व वितर्क शुक्लध्यान की ध्यानावस्था अनन्तकाल तक स्थिर रहनी चाहिये, जिस प्रकार कि प्रदेशों की अवस्था स्थिर रहती है। प्रदेशों की अवस्था का वर्णन पं० राजेन्द्रकुमारजी के शब्दों में ही रखता हूँ।

"आत्मा में प्रदेश गुण है जिसके कारण इसका कुछ न कुछ आकार अवश्य रहता है तथा रहेगा। जब तक यह आत्मा शरीर में रहता है तब तक शरीर के छोटे-बड़ेपन से इसके आकार में भी विभिन्नता आती रहती है। जिस समय यह शरीर-बन्धन को दूर कर देता है और मुक्त हो जाता है उस समय इसका जैसा आकार होता है वैसा ही अनन्तकाल तक रहता है।"

प्रदेश गुण की यही बात ज्ञान के विषय में भी लगानी चाहिये। ज्ञानावरण का बन्धन चले जाने पर ज्ञान को भी उसी अवस्था में रह जाना चाहिये जिस अवस्था में वह ज्ञानावरण नाश के समय अर्थात् ध्यानावस्था में था। इस प्रकार आक्षेपक का उदाहरण और उनका तर्क उनके ही वक्तव्य में बड़ी भारी बाधा उपस्थित करता है।

परिहार—आक्षेपक ने उपर्युक्त पहिले विरोध में तीन बातें कही हैं। एक दर्शन और ज्ञान की क्रमवाद की मान्यता की प्राचीनता की। दूसरी हमने दर्शनोपयोग की परिभाषा में संशोधन किया है तथा वह जैनशास्त्र के प्रतिकूल है। तीसरी इन दर्शनोपयोग की परिभाषाओं के अनुसार सहवाद ठीक नहीं बैठता।

आक्षेपक के इन तीनों आक्षेपों में एक भी ऐसा नहीं है जिसका उत्तर हमने अपनी लेखमाला में न दिया हो। हम यह कब कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान की क्रमवाद की मान्यता प्राचीन नहीं है। हमारा कहना तो यह है कि यह प्राचीन होकर भी सहवाद की मान्यता से प्राचीनतर नहीं है तथा इसका समर्थन हम अपनी लेखमाला में कर चुके हैं। आक्षेपक ने इसका कुछ भी जवाब नहीं दिया है। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक का यह आक्षेप निराधार है।

यही बात आपके दूसरे आक्षेप के सम्बन्ध में है।

दर्शनोपयोग की हमारी परिभाषा जिस पर कि प्रस्तुत आक्षेप खड़ा किया है निम्न प्रकार है—

"ज्ञान और दर्शन ये दो स्वतन्त्र गुण नहीं किन्तु चेतनागुण

की पर्याय हैं, जिस समय चेतना गुण स्वातिरिक्त अन्य ज्ञेयों से असम्बन्धित होकर केवल अपना ही प्रकाश करता है उसको दर्शन कहते हैं। जब यही अपने प्रकाश के साथ अन्य ज्ञेयों का भी प्रकाश करता है उस समय इसी को ज्ञान कहते हैं।"

दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग की उपर्युक्त परिभाषाएं हमने निम्नलिखित शास्त्रीय उल्लेखों के आधार से लिखी हैं—

"ततः सामान्यविशेषात्मकवाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं यदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमितिसिद्धं" श्री जयधवल अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वाह्यपदार्थों का ग्रहण करना ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण दर्शन है।

दर्शन और ज्ञान के विवेचन से यही भाव आचार्य अमृतचंद्र† ब्रह्मदेव ने* क्रमशः लघीयस्त्रय की टीका और द्रव्य संग्रह की संस्कृत टीका में प्रकट किया है।

इस विषय पर हम अपनी लेखमाला में स्वतन्त्र रीति से १६-१७ पेज लिख चुके हैं अतः बन्धुओं को यह विषय वहीं से मालूम करना चाहिये। यहाँ फिर उन सब बातों को दोहराना स्थान और शक्ति का व्यर्थ में व्यय मात्र होगा।

---

† दर्शनमेव ज्ञानावरण वीर्यान्तराय क्षयोपशमविजृम्भितमर्थ विशेष ग्रहण लक्षणाव ग्रह रूपतया परिणमत इति यथा आकाशे इदंवस्त्विति–लघीयस्त्रय।

* एकमपि चैतन्यं भेदनय विवक्षायाम् यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदातस्य दर्शनमिति संज्ञा पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषय भेदेन द्विधाभिद्यते वृहद्द्रव्य संग्रह गाथा ४३

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग की हमारी परिभाषाएं शास्त्रीय परिभाषाएं हैं। ये वही परिभाषाएं हैं जो लगातार हजारों वर्ष से शास्त्रकार अपने २ शास्त्रों में लिखते आ रहे हैं। आक्षेपक का इनके सम्बन्ध में यह कहना कि यह हमारी कल्पना है तथा हमने ऐसा उनके आक्षेपों से बचने के लिये किया है मिथ्या है। इस सम्बन्ध में अब केवल एक ही बात रह जाती है और वह यह है कि यदि दर्शन और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र गुण नहीं किन्तु चेतनागुण की पर्यायें हैं तो ये दोनों एक साथ केवली में सम्भव कैसे मानी जा सकेंगी। इसका समाधान भी हम अपनी मूल लेखमाला में ही कर आये हैं। आक्षेपक का कर्तव्य था कि इस पर विचार करते और इसमें उनको जो जो आपत्तियाँ प्रतीत होतीं उनको अपने लेख में प्रगट करते। आपने ऐसा नहीं किया है और अपने आक्षेप को ही ज्यों का त्यों लिख दिया है। यह बात किसी भी प्रकार समुचित ठहराई नहीं जा सकती।

आक्षेप के प्रस्तुत अंश का समाधान हम निम्न प्रकार कर चुके हैं।……इसका यह भाव कदापि नहीं कि जीवन्मुक्त या सिद्धों में दो उपयोग एक साथ होते हैं किन्तु यह है कि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में जिन-जिन बातों की मुख्यता है वे बातें चैतन्य गुण की ठस अवस्था में होती हैं। जहाँ दर्शन में केवल स्वप्रकाश की बात है वहीं ज्ञान में परप्रकाश की मुख्यता है और इस अवस्था में ये दोनों ही होती हैं। अतः यह कहा जाता है कि केवली या सिद्धों में दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक साथ होते हैं।

इस प्रकार की व्यवस्था तो संसारी जीवों के ज्ञान में भी है फिर यही क्यों कहा जाता है कि केवली या मुक्तों में ही दोनों उपयोग एक साथ होते हैं ? संसारी जीवों के ज्ञान में इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी उनके चेतना गुण की यह पर्याय स्थिर नहीं है, कभी यह ज्ञान रूप रहता है तो कभी दर्शन रूप। अतः वहाँ इस प्रकार की व्यवस्था के सार्वकालिक न होने से ऐसा नहीं कह सकते किन्तु यही कहना पड़ता है कि उनका ज्ञान दर्शन पूर्वक होता है.......।

इससे पाठक समझ गये होंगे कि आक्षेपक के प्रस्तुत आक्षेप में भी ऐसी बातें हैं जिनका समाधान हम पूर्व ही कर चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक का प्रस्तुत आक्षेप मिथ्या है—

आक्षेपक ने अपने इस दूसरे विरोध में दो बातें लिखी हैं। एक अर्हन्त के उपयोग को ज्ञानरूप मानने पर सहवाद का विरोध, दूसरी उपयोग के न बदलने पर सर्वज्ञता का अभाव और उपयोग के बदलने पर उसको ज्ञानरूप ही क्यों माना जाय और दर्शनस्वरूप क्यों न माना जाय।

आक्षेपक के पहिले आक्षेप का समाधान तो कुछ ही पूर्व हमने लेखमाला में कर दिया है।

आक्षेपक के दूसरे आक्षेप के सम्बन्ध में कि एकत्ववितर्क ध्यान की अवस्था में ज्ञानोपयोग नष्ट होता है कि नहीं के उत्तर को न देकर आक्षेपक से ही एक प्रश्न पूछ लेना मुनासिब समझते हैं।

श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद में होता है यह बात दोनों ही पक्षों

को स्वीकार है। अब आक्षेपक को ही सोचना चाहिये कि मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होने में पहिला ज्ञानोपयोग नष्ट होता है या नहीं। यदि पहिला ज्ञानोपयोग नष्ट होता है तो ज्ञानोपयोग के बाद ज्ञानोपयोग ही क्यों होता है, दर्शनोपयोग क्यों नहीं होता ? यदि नष्ट नहीं होता तो मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होना ही नहीं चाहिये। इसके समाधान में आक्षेपक को मजबूरन कहना पड़ेगा कि मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होने में ज्ञानोपयोग नष्ट नहीं होता किन्तु बदल जाता है, अतः नष्ट होने और न होने के सम्बन्ध की बातें ही इसके सम्बन्ध में नहीं उठतीं। यही बात आक्षेपक के प्रश्न के सम्बन्ध में है। एकत्ववितर्कध्यान के बाद केवलज्ञान होने में न तो ज्ञानोपयोग नष्ट ही होता है और न वहीं रहता है किन्तु उसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन होजाता है अतः यहाँ भी नष्ट और अनष्टपक्ष के आक्षेपों के लिये कोई स्थान नहीं है।

जहाँ तक रुपान्तर होने की बात है वहाँ तक तो ज्ञान और आकार की एक ही बात है किन्तु जब इनके भीतर की बात आती है तब इनमें भेद हो जाता है। आकार के परिवर्तन का तो कोई कारण नहीं है अतः उसमें तो रुपान्तर की तरह अंतरङ्ग परिवर्तन भी नहीं होता किन्तु यह बात ज्ञानोपयोग में नहीं है।

ज्ञानोपयोग का रुपान्तर तो नहीं होता किन्तु सम्पूर्ण आवरणों के नष्ट हो जाने से उसके अंतरङ्ग में परिवर्तन अवश्य होता है और वह संकुचित की जगह व्यापक या अल्पज्ञ की जगह सर्वज्ञ हो जाता है। अतः केवली का प्रथम समय का ज्ञानपूर्वक ज्ञान है। ऐसी दशा में इसको ज्ञानोपयोग ही कहना होगा। ऐसी

दशा में भी सद्वाद की मान्यता किस प्रकार युक्ति संगत ठ[hi]
है इसका समर्थन हम पूर्व ही कर चुके हैं। अतः आक्षेपक
यह आक्षेप भी मिथ्या है।

केवली में ज्ञान और दर्शन के क्रमवर्तित्व का वर्णन क
हुए आक्षेपक ने एक बात और लिखी है और वह केवलज्ञान
उपयोगात्मक अवस्था के सम्बन्ध में है। इससे आपका यह म
व्य है कि एक समय केवलज्ञान में एक ही वस्तु का प्रतिभास
सकता है। केवलज्ञान में एक ही समय में यदि दो वस्तुओं का प्र
भास माना जायगा या होगा तो वह उनकी समानता का ही हो
न कि विशेषता का; जैसा कि आपके निम्नलिखित शब्दों
प्रगट है—

"एक समय में सब पदार्थों का सामान्य प्रतिभास तो कि
तरह उचित कहा जा सकता है किन्तु सब पदार्थों का वि
प्रतिभास उचित नहीं कहा जा सकता। सब पदार्थ हैं इस प्र
का प्रतिभास एक साथ हो सकता है किन्तु अगर आप स
पदार्थों की विशेषता को एक साथ जानना चाहें तो यह असम्भ
है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट होगी। एक मनुष्य ए
समय में एक फल को देखता है; अब यदि वह एक साथ दो फ
को देखेगा तो दोनों फलों की विशेषतायें उसके विषय के बा
हो जायँगी और उन दोनों फलों में जो समानतत्त्व है सिर्फ व
उसका विषय रह जायगा। इसी प्रकार ज्यों २ उपयोग का क्षे
विशाल होता जायगा त्यों २ विशेषता के अंश विषय से बा
होते जायेंगे।"

इससे आक्षेपक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि केवलज्ञान एक साथ लोकत्रय और कालत्रय के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रकाश नहीं कर सकता। अब विचारणीय यह है कि क्या आक्षेपक का उक्त वक्तव्य युक्तियुक्त है?

जहाँ कि आक्षेपक ने अपने भाव को स्पष्ट करने के लिये उक्त वक्तव्य उपस्थित किया है वहीं इसको आगम की मान्यता का रूप देने के लिये पएणवणसूत्र का वह उद्धरण भी लिखा है जिसको कि आप केवली में दर्शन और ज्ञान के क्रमवर्त्तित्व के समर्थन में पहिले लिख चुके हैं।

एकत्व के साथ अनेकत्व का अविनाभावी सम्बन्ध है। इसही को यदि सीधे शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि जहाँ जहाँ एकत्व है वहाँ २ अनेकत्व भी। इसही प्रकार समानता और असमानता का भी। घट पदार्थ ही है—यदि यह घट अवयवी की दृष्टि से एक या समान है तो अवयवों की दृष्टि से अनेक या असमान। यही बात पट आदि अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार कि घट पदार्थ ज्ञेय है उसही प्रकार उसके मुख्य, पेट आदि अवयव भी। जिस समय हम घट को जानते हैं उसही समय उनका भी ज्ञान होता ही है। जिस प्रकार घट ज्ञान में घट में रहने वाली समानता या एकता का बोध होता है उसही प्रकार उसके अवयवों में रहने वाली असमानता या अनेकता का भी। कौन कह सकता है कि घट ज्ञान में उसके पेट की विशालता एवं उसके मुख की लघुता नहीं झलकती। यही बात अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में है। इससे प्रकट है कि जिस प्रकार एक उपयोग में एक ज्ञेय

प्रतिभासित होता है उसही प्रकार अनेक भी या जिस प्रकार कि उसमें उनकी समानता झलकती है उसही प्रकार विशेषतायें भी। यही व्यवस्था भिन्न-भिन्न अनेक अनुभवियों के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार घट अवयवी की दृष्टि से समान है और अवयवों की दृष्टि से असमान। उसही प्रकार भिन्न-भिन्न अवयवी भी समान-धर्म से समान और असमान धर्मों से असमान। जिस प्रकार घट के प्रतिभास में उसके सामान्य और विशेषधर्मों का प्रतिभास होता है उसही प्रकार उन भिन्न-भिन्न अवयवियों के प्रतिभास में उनके सामान्य और विशेष धर्मों का भी। स्पष्टता के लिये इसको यों समझियेगा कि दर्पण है और उसमें एक घट प्रतिबिम्बित होता है। ऐसी अवस्था में उसमें जहाँ घट के सामान्य धर्म प्रति-बिम्बित हो रहे हैं उसही प्रकार विशेष भी। इसही दर्पण में यदि एक घट के स्थान पर दो, तीन, चार और पाँच आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तब भी यही व्यवस्था मिलती है। इसको यदि और भी स्पष्ट करना चाहें तो फोटोग्राफ के कैमरे के दृष्टान्त से कर सकते हैं। फोटोग्राफ के कैमरे में यदि एक-एक करके पाँच या इससे अधिक व्यक्तियों के चित्र खींचे जाते हैं तो इनकी जो आकृतियाँ दीखती हैं वे ही आकृतियाँ तब भी दीखती हैं जबकि इनका समुदाय रूप से एक चित्र खींचा जाता है। यही बात आँख की पुतली के सम्बन्ध में है। अर्थात् आँख की पुतली में भी यदि एक-एक करके पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तब भी उनके वे ही आकार झलकते हैं और जब एक साथ अनेक झलकते हैं तब भी वे ही! फोटोग्राफ का कैमरा या आँख की पुतली इनमें तो केवल

शब्द भेद ही है, कार्य तो इनके एक ही जैसे हैं। दर्पण और फोटोग्राफ का कैमरा आदि में अनेक पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित भी हो जाते हैं और उनके आकार भी वैसे ही झलकते हैं जैसे कि उनकी भिन्न २ अवस्था में ! जो व्यक्ति इसको और भी स्पष्ट जानना चाहें वे दो या तीन मनुष्यों को एक-एक दर्पण में जुदी २ अवस्था में प्रतिबिम्बित करके या फोटोग्राफ के कैमरे द्वारा चित्र उतरवा कर और फिर एक साथ प्रतिबिम्बित होकर या कैमरे द्वारा चित्र उतरवा कर जान सकते हैं।

नेत्र रूप भावेन्द्रिय उसही का उसही ढङ्ग से प्रकाश करती है जैसा कि पुतली में प्रतिबिम्बित हुआ है। इससे प्रकट है कि एकही उपयो।। में अनेक पदार्थ प्रकाशित भी हो जाते हैं और उनका प्रतिभास भी उस ही रूप से होता है जैसा कि उनकी भिन्न-भिन्न अवस्था में।

आक्षेपक का फल का दृष्टान्त भी इसही आशय का समर्थन करता है। एक मनुष्य एक समय में एक फल को देखता है और दूसरे समय दूसरे फल को। यही मनुष्य यदि एक ही समय में इन दोनों फलों को देखेगा तो ये दोनों फल उसके ज्ञान में उसही प्रकार प्रतिभासित होंगे जैसेकि ये भिन्न-भिन्न ज्ञानों में हुए थे। कोई भी पाठक किन्हीं दो फलों को अलग-अलग और एक साथ दर्पण में प्रतिबिम्बित करके या इसही ढङ्ग से इनके चित्र खिंचवा कर इस बात का परीक्षण कर सकते हैं। फोटोग्राफ के कैमरे में भी पदार्थ प्रकाश को फैंकता है जिसके द्वारा कि उसमें उन उन पदार्थों के चित्र आ जाया करते हैं तथा यही बात आँख की

पुतली के सम्बन्ध में है। नेत्ररूप भावेन्द्रिय उसही का प्रकाश करती है जिसका चित्र कि पुतली पर आ जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि नेत्र रूप भावेन्द्रिय उसही पदार्थ का उसही ढङ्ग से प्रकाश करती है जिसका जिस ढङ्ग से चित्र पुतली पर आ जाता है। कैमरे की प्लेट की तरह पुतली पर उसही ढङ्ग के पदार्थ का चित्र आता है जिस प्रकार का कि पदार्थ है। भिन्न-भिन्न अवस्था में पदार्थ जिस स्वरूप है सम्मिलित अवस्था में भी उसी ही रूप। भिन्न-भिन्न अवस्था में दो फलों में जो गुण हैं संयुक्त अवस्था में भी वे ही रहते हैं। अतः इससे यह भी प्रकट है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का भिन्न-भिन्न उपयोगों द्वारा जैसा प्रतिभास होता है वैसा ही एक उपयोग द्वारा भी! इसही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि जो पदार्थ अनेक उपयोगों के ज्ञेय हैं उनही को एक उपयोग भी प्रतिभास कर देता है और फिर भी उनके प्रतिभास में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आता। अतः प्रकट है कि आक्षेपक का दो फलों का दृष्टान्त बजाय इस बात के कि वह भिन्न-भिन्न अवस्था के ज्ञान की अपेक्षा सहज्ञान में उनके विशेष प्रतिभास के अभाव और सामान्य प्रतिभास के अस्तित्व को सिद्ध करता यह तो यह सिद्ध करता है कि इनका जिस प्रकार का स्वरूप इनके भिन्न-भिन्न ज्ञानों में झलकता है वैसा ही इनके सम्मिलित ज्ञान में भी। इससे यह भी आक्षेपक के लिये हानिकारक ही ठहरता है। यही बात आक्षेपक के उन प्रमाणों की है जो कि उन्होंने इसके हेतु उपस्थित किये हैं। पहिला प्रमाण पएणवण सूत्र का है। जहाँ तक पएणवण सूत्र का केवली के ज्ञान और

दर्शन के क्रमवर्तित्व से सम्बन्ध है वहाँ तक तो हम इसकी प्राचीनता एवं युक्तियुक्तता की आलोचना अपने पूर्व लेख में कर चुके हैं। हम अपने पूर्व लेख में यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि क्षायिक ज्ञान लब्धि के अनुसार ही उपयोगात्मक होता है। अतः इस सूत्र का यह वक्तव्य भी कि 'केवली एक समय में रत्नप्रभा को जानते हैं और फिर इससे भिन्न किसी समय में शर्कराप्रभा आदि को' युक्ति-विरुद्ध है। यदि थोड़ी देर के लिये एक समय में केवली के एक या अनेक पृथ्वियों के ज्ञान के प्रश्न को छोड़ भी दिया जाय और अभ्युपगम सिद्धान्त से यही मान लिया जाय कि केवली एक समय में एक ही पृथ्वी को जानते हैं तब भी तो यह उल्लेख आक्षेपक की मान्यता का खण्डन ही करता है। जहाँ कि रत्नप्रभा पृथ्वी संख्या की दृष्टि से एक है वहीं उसमें अनेक भेदोपभेद भी मौजूद हैं। जिस प्रकार केवली इसकी एक संख्या को जानते हैं वैसे ही उसके भेदोपभेद को भी। जिस प्रकार कि एकता एकता ही रहती है उसही प्रकार भेदोपभेद भी भेदोपभेद। इससे प्रकट है कि केवली के एक ही ज्ञान में अनेक भेदोपभेद प्रभासित होते हुए भी अपने-अपने रूप को नहीं छोड़ते और निज-निज रूप से ही प्रतिभासित होते हैं। आक्षेपक का मन्तव्य ठीक इससे उल्टा है। वह यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जिस समय अनेक विशेष ज्ञेय एक ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं उस समय वे अपनी-अपनी विशेषता को छोड़ देते हैं और समानरूप से ही उस ज्ञान में झलकते हैं। रत्नप्रभा का दृष्टान्त इससे विपरीत सिद्ध करता है जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं। अतः आक्षेपक का कथन

इसके आधार से भी युक्तियुक्त नहीं। आक्षेपक ने इस सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण विशेषावश्यक का दिया है। विशेषावश्यक की गाथाओं का भाव आक्षेपक के शब्दों में निम्न प्रकार है:—

"एक समय में शीत और उष्ण का ज्ञान हो जाय तो क्या दोष है? उत्तर—इसमें दोष कौन कहता है। हमारा कहना तो यह है कि दो उपयोग एक साथ न होंगे, किन्तु दोनों का एक सामान्य उपयोग ही होगा। जैसा सेना शब्द से होता है। सेना यह सामान्य उपयोग है, किन्तु रथ अश्वपदाति आदि विशेषोपयोग हैं, वे अनेक हैं। वे अनेकोपयोग एक साथ नहीं हो सकते। हाँ उनमें जो समानता है वह हम एक साथ ग्रहण कर सकते हैं। जो एक साथ उष्ण वेदना और शीतवेदना का अनुभव करता है वह शीत और उष्ण के विभाग को अनुभव नहीं करता। हाँ सामान्य रूप से वेदना का ग्रहण करता है।"

अब विचारणीय यह है कि यहाँ सामान्य शब्द का क्या अर्थ है? यदि दो या अनेक पदार्थों में रहने वाला सामान्यधर्म, तब तो न यह सेनाज्ञान में ही घटित होता है और न युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। सेनाज्ञान में उन पदार्थों के, जिनका समुदाय स्वरूप कि यह है, केवल सामान्यधर्म का प्रतिभास ही नहीं होता, किन्तु उन पदार्थों की वे सब विशेषतायें भी जोकि उन-उन पदार्थों की भिन्न-भिन्न समय में एवं भिन्न-भिन्न अवस्थामें देखनेसे प्रतभिासित होती थीं प्रतिभासित होती हैं। यदि सेनाज्ञान में केवल सामान्यधर्म का ही प्रतिभास होता होगा तो वहाँ रथ, घोड़े आदि पदार्थों का बोध भी न होता, क्योंकि इनका बोध बिना इनके विशेषाकारों के प्रति-

भास के असम्भव है तथा इनका प्रतिभास एक आकार विशेष का प्रतिभास है जो कि केवल सामान्य प्रतिभास की अवस्था में हो नहीं सकता। सेनाज्ञान में इन सब पदार्थों का ज्ञान होता है। इससे प्रकट है कि जहाँ सेनाज्ञान में उसके सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है वहीं उन पदार्थों के विशेष धर्मों का भी जिनका समुदायात्मक कि यह है। इसमें युक्तिविरोध को हम पूर्व ही दर्पण आदि के दृष्टान्त से स्पष्ट कर चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि सामान्य शब्द का अर्थ यहाँ अनेक पदार्थों का केवल सामान्यधर्म ही नहीं है।

यदि सामान्य शब्द का यह भाव है कि जो २ बातें भिन्न २ उपयोगों में प्रतिभासित होती थीं वे यहां एक ही उपयोग में प्रतिभासित होंगी अर्थात् यहाँ सामान्य शब्द का समन्वय उपयोग के साथ है न कि ज्ञेयों के, तब तो यह बात सेनाज्ञान में भी घटित हो जाती है और युक्तियुक्त भी प्रतीत होती है; किन्तु इससे आक्षेपक की मान्यता की सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत यह तो उनकी मान्यता के विपरीत ही सिद्ध करती है। इसका तो यही भाव है कि जो बातें हम भिन्न २ उपयोगों द्वारा जानते थे उनही को अब एक उपयोग के द्वारा जानते हैं। जैसे जिन पदार्थों के अनेक चित्र लिये गये हों—और फिर उन्हीं का एक चित्र ले लिया जाय। इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि ऐसी अवस्था में उन पदार्थों के विशेष धर्मों का प्रतिभास नहीं होता। यह तो यही प्रमाणित करेगा कि सम्मिलित चित्र की तरह ऐसी अवस्था में भी उन पदार्थों को विशेष धर्मों का भी प्रतिभास होता है तथा यही आक्षेपक के विरुद्ध है।

प्रश्न—यदि सामान्य प्रतिभास का यही अर्थ है कि जिन पदार्थों को भिन्न भिन्न उपयोगों द्वारा जानते थे अब वे एक उपयोग से जाने जाते हैं तथा ऐसी अवस्था में उनका भिन्न २ स्वरूप भी प्रतिभासित होता है तो यह बात शीत और उष्ण की वेदना में क्यों नहीं घटती। जिस प्रकार कि नेत्रस्वरूप भावेन्द्रिय उसही को जानती है जिसका प्रतिविम्ब कि नेत्रस्वरूप द्रव्येन्द्रिय पर पड़ जाता है उस ही प्रकार स्पर्शन भावेन्द्रिय भी उस ही को जानती है जो कि स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय से सम्बन्धित हो जाती है। जिस समय शीत स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय से सम्बन्धित होता है यदि उस ही समय उष्ण भी होता है तो ये दोनों अपने बलाबल के अनुसार स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय पर एक दूसरे के प्रभाव पर आघात प्रतिघात करते हैं। ऐसी अवस्था में यदि शीत अधिक शक्तिशाली होता है तो वह उष्ण को दबा देता है और यदि उष्ण अधिक शक्तिशाली होता है तो वह शीत को दबा देता है। यदि ये दोनों समान शक्तिशाली होते हैं तो एक दूसरे की शक्ति एक दूसरे के पराभव से ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इन दोनों के स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय से एक साथ सम्बन्ध होने में स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय पर उसका उतना ही प्रभाव पड़ता है जो कि जितने अंश में दूसरे से अधिक है। स्पष्टता के लिये इसको यों समझियेगा कि एक बालू का ढेर है। इस पर गर्मी और सर्दी दोनों ही शक्तियों का प्रयोग किया जा रहा है। गर्मी की शक्ति ७० डिग्री है और ठंड की ५० डिग्री की—या दोनों ही बराबर डिग्री की हैं। इनमें से पहिली अवस्था में इसमें बीस नम्बर की गर्मी मिलेगी और दूसरी अवस्था में यथापूर्व। इनही

शक्तियों की यदि डिग्रियों को बदल दिया जाय और गर्मी की शक्ति को ७० की जगह पचास की कर दी जाय और ठंड को पचास की जगह ७० की तो फिर बालू के ढेर से २० नं० की गर्मी के बजाय बीस नम्बर की ठंड प्रतीत होने लगेगी।

भाव स्पर्शनेन्द्रिय उसही को जानती है जो कि द्रव्य स्पर्शनेन्द्रिय से सम्बन्धित है। द्रव्य स्पर्शनेन्द्रिय से शीत और उष्ण की उतनी ही शक्ति सम्बन्धित है जितनी कि एक दूसरे के आघात प्रतिघात से बची हुई है, अतः भावस्पर्शनेन्द्रिय उस ही को जानती है। इसका यह मतलब कदापि नहीं हो सकता कि उष्ण और शीत इन दोनों के संयोग में भावस्पर्शनेन्द्रिय इन दोनों के केवल सामान्य धर्म को ही जानती है। यदि ऐसा होता तो केवल स्पर्श का ही प्रतिभास होना था, क्योंकि शीत और उष्ण में रहने वाला यही एक सामान्य धर्म है। सामान्य विशेष के अभाव में रह नहीं सकता, उसके साथ तो किसी न किसी विशेषका अस्तित्व अनिवार्य है, इससे सिद्ध है कि ऐसी अवस्था में भी केवल सामान्य का प्रतिभास नहीं होता।

केवली के ज्ञान में इन्द्रियों की सहायता आवश्यक नहीं पड़ती, अतः उनके शीत और उष्ण का एक साथ ज्ञान हो जाता है। यहाँ हम यह भी लिख देना अनावश्यक नहीं समझते कि आक्षेपक का यह लिखना कि "इस प्रकार का सामान्य ज्ञान तो दर्शन का विषय है" मिथ्या है। दर्शन के विषय का पर-पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं, चाहे वह सामान्य स्वरूप हो या विशेषरूप। दर्शन तो केवल स्वप्रकाशक ही है, या यों कहिये कि जिस समय

चेतन गुण केवल अपना प्रकाश करता है उस समय इसको दर्शन कहते हैं। इसके सम्बन्ध में विशेषरूप से हम अपने अगले लेख में प्रकाश डालेंगे।

प्रश्न—आपने दर्पण आदि भौतिक चीजों के दृष्टान्त से यह बात सिद्ध की है कि एक साथ अनेक पदार्थ भी उसी तरह प्रकाशित होते हैं जिस तरह कि भिन्न २ रूप से, किन्तु यह बात ज्ञान में नहीं घटती। क्योंकि एक पदार्थ दर्पण के एक देश में प्रतिबिम्बित होता है और दूसरा दूसरे हिस्से में; इस ही प्रकार तीसरे, चौथे आदि। किन्तु ज्ञान में यह बात नहीं है—ज्ञान में जो भी प्रतिभासित होता है वह ज्ञान के सर्वदेश में। इससे दर्पण के दृष्टान्त से ज्ञान में एक साथ अनेक पदार्थों का अपने २ रूप से प्रतिभासित होना प्रमाणित नहीं हो सकता।

उत्तर—दर्पण में भी जिस जगह एक पदार्थ प्रतिविम्बित होता है उसी जगह दो तीन आदि पदार्थ प्रतिविम्बित हो सकते हैं तथा होते हैं। एक दर्पण के सामने एक-एक फुट के अन्तर से दस पदार्थ एक लाइन में रख दीजियेगा। वे दसों उस ही में और उस ही जगह प्रतिविम्बित हो जांयगे। दस और बीस ही क्या, इसमें तो सैकड़ों और हजारों यहाँ तक कि असंख्य पदार्थ भी प्रतिविम्बित हो सकते हैं। वे व्यक्ति जिन्होंने किसी ऐसे स्थान के देखने का सौभाग्य प्राप्त किया है जहाँ कि चारों तरफ बड़े बड़े दर्पण लगे हुये हैं इस बात को भली भांति जानते हैं कि एक-एक दर्पण में एक-एक व्यक्ति के हजारों और लाखों प्रतिविम्ब प्रतिविम्बित होजाया करते हैं।

इससे यह बात स्पष्ट है कि जहाँ एक पदार्थ प्रतिविम्बित या प्रतिभासित है वहीं दूसरे पदार्थ प्रतिविम्बित या प्रतिभासित नहीं हो सकते, यह नियम नहीं बनाया जा सकता। अतः इस ही के आधार से ज्ञान में एकसाथ अनेक पदार्थों के प्रतिभास का अभाव भी नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक साथ अनेक पदार्थों के अपने-अपने स्वरूप से प्रतिभासित होने में आक्षेपक ने जो बाधायें उपस्थित की हैं वे बिलकुल निराधार हैं तथा एक साथ एक ही उपयोग में अनेक पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप के अनुसार प्रतिभासित होना युक्तियुक्त है। अतः स्पष्ट है कि केवली के ज्ञान में इसके सम्बन्ध में आक्षेपक का कथन बिलकुल मिथ्या है।

विरोध—एक आदमी एक समय में **केशव को देख रहा है, दूसरे समय में माधव को, तीसरे समय में दोनों को।** यहां पहिले समय में केशव का ज्ञान जितना स्पष्ट अर्थात् सविशेष है, उतना तीसरे समय में नहीं है। इसी प्रकार दूसरे समय में माधव का ज्ञान जितना स्पष्ट है उतना तीसरे समय में नहीं है। इस अनुभवजन्य और दार्शनिकों के द्वारा मान्य नियम के आधारपर मैंने ऊपर की बात कही थी, जिसे आक्षेपक दर्पण आँख आदि के उदाहरण से काटना चाहते हैं।

दर्पण आदि में आकार क्यों मालूम होता है, इसकी वैज्ञानिक आलोचना जुदी ही चीज है। प्रकाश किरणें किसी पदार्थ पर पड़ कर जब लौट कर हमारी आंखों पर पड़ती हैं, तब हमें पदार्थ दिखलाई देता है। अगर वे ही किरणें पदार्थ से लौट कर दर्पण

पर पड़ती हैं और वहां से लौट कर आँख पर पड़ती है तो वह पदार्थ हमें दर्पण में दिखलाई पड़ने लगता है। दर्पण में कोई आकृति नहीं बनती। यही कारण है कि जब हम दर्पण के सामने खड़े होकर ज्यों ज्यों बाईं तरफ हटते हैं त्यों त्यों दाहिनी तरफ का दृश्य दिखलाई देता है, और ज्यों ज्यों दाहिनी ओर हटते हैं त्यों त्यों बाईं ओर का दृश्य दिखलाई देता है। किरण सरीखी सूक्ष्म वस्तुएँ दर्पण में सैकड़ों हजारों की संख्या में पड़ कर एक दर्पण में सैकड़ों हजारों वस्तुओं का प्रतिभास करा देती हैं। **परन्तु एक ही दर्पण में एक पदार्थ का प्रतिबिम्ब जितना स्पष्ट मालूम होता है उतना दस का नहीं** हो **सकता। स्पष्टता की कमी का अर्थ है विशेषताकी कमी, अर्थात् सामान्य की वृद्धि।** ज्यों ज्यों पदार्थ बहुत होते जायंगे त्यों त्यों विशेषता घटती जायगी। इस प्रकार अगर कोई दर्पण ऐसा हो जिसमें समग्र पदार्थों का प्रतिभास पड़ सके तो उसमें विशेषता बिलकुल न रहेगी। इस प्रकार यह दर्पण दृष्टान्त भी युगपत् सकल विशेष प्रत्यक्ष का बाधक ही है।..............

अगर मैंने केशव के मुँह पर नजर जमा ली है तो बाकी अङ्ग भी मेरे ज्ञान के अविषय हो जायंगे। हाँ, **यह ठीक है कि विशेषाकारों के** बिना **सामान्यकार का भान नहीं** हो **सकता, परन्तु इससे सामान्य और विशेष आकार एक ही ज्ञान के विषय नहीं बन जाते।** विशेषाकारों के ज्ञान जुदे हैं और सामान्याकार का ज्ञान जुदा है। यों तो प्रत्यक्ष के बिना परोक्षज्ञान नहीं होता परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि परोक्ष प्रत्यक्ष का काम

कर सकता है। उसी प्रकार विशेषाकारों के जुदे जुदे ज्ञानों के बाद जो सामान्य ज्ञान होता है, वह उन विशेषाकारों के ज्ञानों का काम नहीं कर सकता है। एक आदमी ने सेना के प्रत्येक सैनिक का पृथक् पृथक् निरीक्षण किया और दूसरे ने एक नजर में सबको देख लिया; तो एक नजर में सबको देखने वाला ज्ञान पृथक् पृथक् निरीक्षण की सारी विशेषताओं को नहीं जान सकता। उसी प्रकार अगर केवली एक ही समय में सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष करेगा तो उसके ज्ञान में एक एक पदार्थ को प्रत्यक्ष करने की विशेषताएं कभी नहीं झलक सकतीं। इस प्रकार दर्पण, नेत्र, फल, सेना आदि के समग्र दृष्टान्त युगपत् सकल-विशेष प्रत्यक्ष के विरोधी हैं।............

समाधान—स्पष्टता और सविशेषता में अन्तर है। किसी भी चीज के स्पष्ट ज्ञान से मतलब उसके प्रकट ज्ञान से है तथा किसी भी चीज के सविशेषज्ञान से मतलब उसको विशेषता सहित जानने से है। जहाँ सविशेष ज्ञान होगा वहाँ स्पष्ट ज्ञान जरूर होगा, किन्तु इन दोनों का अविनाभाव नहीं है। स्पष्ट ज्ञान तो सामान्य ज्ञान में भी होता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की स्पष्टता एक ऐसी चीज है जोकि सामान्य और विशेष दोनों ही प्रतिभासों के साथ रह सकती है। इसही को यदि और भी सूक्ष्मता के साथ कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि स्पष्टता क्रिया विशेषण है और सविशेषता ज्ञेय का धर्म है। दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि मैं कहता हूं कि मैं सविशेष घट को स्पष्ट जान रहा हूँ या घट की विशेषता को स्पष्ट जान रहा हूं। इन दोनों ही हालतों में स्पष्टता

किया विशेषण है तथा सविशेषता ज्ञेय या ज्ञेयधर्म है। अतः किसी भी ज्ञान के सम्बन्ध में स्पष्टता के अभाव से तात्पर्य उसके सामान्य ज्ञान से कदापि नहीं है, किन्तु उसके अप्रकटित या अव्यक्त अथवा धुँधले ज्ञान से है। किसी भी वस्तु का सामान्य ज्ञान तो स्वयं उसका स्पष्ट ज्ञान है। अतः उसी को स्पष्टता के अभाव का ज्ञान किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ ज्ञान में स्पष्टता का अभाव है वहाँ तो न पदार्थ का सामान्य ही धर्म मालूम पड़ सकता है और न विशेष ही। इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक की यह कल्पना भी निरर्थक ही रही।

इसके सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि ज्ञान में जब भी अस्पष्टता आती है वह पदार्थों की संख्या-वृद्धि से नहीं आती, किन्तु उनके दूर हो जाने से या बाह्यप्रकाश में कमी हो जाने आदि से आती है। इन बातों से इन्द्रियों की शक्ति की परमितता ही सिद्ध की जा सकती है नकि यह बात कि एक पदार्थ को जानने पर उसका स्पष्ट ज्ञान होता है और दो या तीन को जानने पर उनका ऐसा ज्ञान नहीं होता। यह बात तो तभी स्वीकार की जा सकती थी, जबकि दूसरे या तीसरे पदार्थों को उतनी ही तो दूरी पर रक्खा जाय तथा वहाँ भी उतना ही प्रकाश हो और वे भी उतने ही स्थूल हों, किन्तु तब भी उनका ज्ञान अस्पष्ट होने लगे। यह बात अनुभव के खिलाफ़ है; अतः यह भी आक्षेपक की कल्पना को सिद्ध नहीं कर सकती। अतः स्पष्ट है कि प्रथम तो स्पष्टता का अभाव भी असम्भव है और दूर देश आदि कारणों से मान भी लिया जाय तो यह सामान्य और विशेष दोनों ही

धर्मों के लिये अस्पष्ट ही रहेगा। इस प्रकार इसके अभाव से भी आक्षेपक का मन्तव्य सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि आक्षेपक के प्रस्तुत विरोध के कथन को स्पष्टता के अभाव के द्वारा सामान्य ज्ञान पर न सही यदि विशेष ज्ञान के अभाव के द्वारा सामान्य ज्ञान पर धरना चाहें तब भी यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यद्यपि इस बात का समर्थन हम अपनी लेखमाला में बड़ी विशदता के साथ कर चुके हैं, किन्तु फिर भी आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में अपने इस वक्तव्य में भी तीन-चार बातें लिख डाली हैं। आपका कहना है कि यदि एक आदमी केशव और माधव को भिन्न-भिन्न समय में एक-एक करके देखता है। यदि यही आदमी इन्हीं दोनों को साथ देखेगा तो इनके सम्बन्ध में उसका ज्ञान सविशेष नहीं होगा। यह सब कथन अनुभव के प्रतिकूल है। साधारण से साधारण व्यक्ति दो चीज़ों को भिन्न २ समयों में देखकर और उनको एक साथ देखकर इसकी सत्यता की परीक्षा कर सकता है।

इस ही प्रकार आक्षेपक का लिखना कि "आक्षेपक का मेरा मत है कि आँख में जब बहुत से पदार्थों का एक साथ प्रतिविम्ब पड़ता है तब भावेन्द्रिय उन्हें क्यों जानेगी? यहाँ आक्षेपक की बड़ी भारी भूल हुई है, क्योंकि द्रव्येन्द्रिय में कितने ही पदार्थ प्रतिविम्बित क्यों न हों, परन्तु भावेन्द्रिय उन सबको जाने यह नियम नहीं है। यहाँ तक हो सकता है कि भावेन्द्रिय बिल्कुल न जाने।" हमने यह सब कथन शक्ति के ख्याल से किया है। हमारे पहिले ही वाक्य में "बहुत से पदार्थों का एक साथ प्रतिविम्ब पड़ सकता है।"

इससे स्पष्ट है कि हमारा यह सब कथन शक्ति के दृष्टिकोण से है। यह अभिप्राय तो हमारा भी नहीं है कि आँख में प्रतिबिंब पड़ जाने से ही उसका जाना जाना अनिवार्य है। हाँ यह बात अवश्य है कि वह जाना जा सकता है। हमारा प्रयोजन जाने जाने या जाने जा सकने में से किसी खास से नहीं है। हमारा मतलब तो इतना ही है कि जितने पदार्थों के आँख में प्रतिविम्ब पड़ जाते हैं वे सब जाने जाते हैं या जाने जा सकते हैं। इससे तो हम एक साथ अनेक पदार्थों का सविशेष प्रतिभास सिद्ध करना चाहते हैं तथा यह दोनों ही दशाओं में सिद्ध हो जाता है। जो जाना जा सकता है वह भले ही अभी न जाना जावे, किन्तु जाना तो जायगा। हमारा तो मतलब इससे ही सिद्ध हो जाता है।

यदि थोड़ी देर के लिये इस चर्चा को छोड़ भी दिया जाय और आक्षेपक की ही बात को मान लिया जाय तब भी इससे उनका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत इससे तो उनकी बात का ही खण्डन होता हैं। जब आप कहते हैं कि "द्रव्येन्द्रिय में कितने ही पदार्थ प्रतिविम्ब क्यों न हो किन्तु भावेन्द्रिय उन सबको जाने यह नियम नहीं है" तब आपके कथन से यह तो निकल ही आता है कि आप द्रव्येन्द्रिय में एक साथ अनेक पदार्थों का प्रति-विम्बित होना तो मानते हैं, किन्तु इसका भावेन्द्रिय द्वारा जानने का नियम स्वीकार नहीं करते।

आक्षेपक के इस कथन के अनुसार यदि भावेन्द्रिय द्वारा द्रव्येन्द्रिय प्रतिविम्बित पदार्थों का अनियमित ग्रहण ही मान लिया जाय तब भी एक समय तो निकल ही आता है जबकि

भावेन्द्रिय उन सबका सविशेष ज्ञान करती है तथा यही आक्षेपक के मतके खण्डनके लिये पर्याप्त है। जो बात एकबार हो सकती है वह अनेकबार भी हो सकती है। इससे बाधाका परिहार तो हो ही जाता है। अतः आक्षेपक का यह विरोध भी उनके प्रतिकूल ही सिद्ध करता है।

आक्षेपक ने अपने इस वक्तव्य में दो बातें विशेष महत्त्व की लिखीं हैं। एक दर्पण में प्रतिविम्ब का न पड़ना और दूसरी पदार्थ के सामान्याकार और विशेषाकारका एक ज्ञान के विषय न होना।

दर्पण में प्रतिविम्ब तो पड़ता नहीं है। किरणें दर्पण पर तो कुछ भी प्रभाव नहीं डालती फिर दर्पण में प्रतिविम्ब का प्रतिभास क्यों होता है? इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने प्रकाश नहीं डाला जब-जब जिस-जिस पदार्थ से सम्बन्धित होकर किरणें हमारी आँखों पर पड़ती हैं तब-तब हमको उन-उन पदार्थों का बोध होता है, क्योंकि वे किरणें उन-उन पदार्थोंसे सम्बन्धित थीं; अतः उनके आकार की थी।

यदि किरणें पदार्थों से सम्बन्धित होकर दर्पण तक जाती हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में दर्पण में कोई आकृति या प्रतिविम्ब नहीं बनता तो उसके बाद जब किरणें आँखों में पड़ती हैं तब भी हमको दर्पण का ही ज्ञान होना चाहिये न कि प्रतिविम्बित दर्पण का। क्योंकि हमारी आँखों में पड़ने वाली किरणें तो उसही से सम्बन्धित एवं उसही के आकार होकर आई हैं। जबकि दर्पण में प्रतिविम्ब पड़ा ही नहीं था तब दर्पण के साथ उसके ज्ञान की बात ही पैदा नहीं हो सकती थी। यदि आक्षेपक की यह कल्पना

सत्य हो जाय तो बिचारे फोटोग्राफरों को बड़ी भारी मुसीबत का सामना करना पड़े। फोटोग्राफ लेते समय अपने कैमरे के द्वारा जिस पर वे चित्र को अङ्कित करते हैं, आखिर वह भी तो एक दर्पण ही तो होता है।

आक्षेपक के कथन के अनुसार तो वहां भी किसी की भी आकृति नहीं बननी चाहिये थी और यदि आकृति ही नहीं बनती तो वह उस पर अङ्कित ही कैसे रह सकती थी। सारांश केवल इतना ही है कि यह सब बातें रोजाना के अनुभव एवं तर्क सिद्ध हैं। अतः कहना पड़ता है कि आक्षेपक का कथन मिथ्या है।

आक्षेपक ने दूसरी बात को लिखते हुये लिखा है कि—"यह ठीक है कि विशेषाकारों के बिना सामान्याकार का भान नहीं हो सकता परन्तु इससे सामान्य और विशेष आकार एक ही ज्ञान के विषय नहीं बन जाते। विशेषाकारों के ज्ञान जुदे हैं और सामान्याकार का ज्ञान जुदा है। यों तो प्रत्यक्ष के बिना परोक्षज्ञान नहीं होता परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि परोक्ष प्रत्यक्ष का काम कर सकता है। उसी प्रकार विशेषाकारों के जुदे २ ज्ञानों के बाद जो सामान्य ज्ञान होता है वह उन विशेषाकारों के ज्ञान का काम नहीं कर सकता।" विशेषाकार और सामान्याकार में प्रत्यक्ष और परोक्ष जैसा सम्बन्ध नहीं है। जहाँ कि विशेषाकार और सामान्याकार सहभावी धर्म है वहीं प्रत्यक्ष और परोक्ष क्रमभावी पर्यायें हैं। अतः इनकी समानता विशेषाकार और सामान्याकार के ज्ञानों में घटित नहीं की जा सकी। इन दोनों धर्मों में सहभाव होने पर भी यदि विशेषाकारों के ज्ञान होते

होते ही सामान्याकार का ज्ञान हुआ करता जैसा कि आक्षेपक ने लिखा है तब भी इनकी अनेक ज्ञान विषयता सम्भव हो सकती थी किन्तु यह बात भी युक्ति संगत नहीं है। विशेषाकार और सामान्याकार दोनों ही स्वतन्त्र धर्म हैं। पदार्थ में अनुवृत्ताकार का नाम सामान्य धर्म है तथा व्यावृत्ताकार को विशेष-धर्म-आकार कहते हैं। जिस प्रकार किसी भी पदार्थ के अनेक विशेषाकार एक ज्ञान से भी जाने जाते हैं उसही प्रकार उसके विशेषाकार और सामान्याकार भी। किसी भी मनुष्य को देखते समय केवल उसके हाथ, नाक, कान और सिर आदि का ही ज्ञान नहीं होता, किन्तु मनुष्यों में रहने वाले एक सामान्य धर्म का भी ज्ञान होता है। यदि सामान्याकार पदार्थ का धर्म न होकर पदार्थों का सामूहिक धर्म होता तब तो आक्षेपक का कथन विचारणीय भी हो सकता था। यदि थोड़ी देर के लिये आक्षेपक के कथन के अनुसार यही स्वीकार कर लिया जाय कि अनेक विशेषाकारों के ज्ञान के बाद ही उनके सामान्याकार का ज्ञान होता है तब भी यह कैसे सम्भव है कि उनके सामान्याकार को जानते समय उनके विशेषाकारों को दृष्टि से परे कर दिया जाय। यदि एक व्यक्ति पहिले गाय को देखता है फिर गवय को देखता है। इसके बाद वह इन दोनों की समानता को जानता है किन्तु इस समय भी इन दोनों के विशेषाकार भी तो उसके ज्ञान के विषय ही रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि विशेषाकारों के बिना सामान्याकार का ज्ञान नहीं हो सकता, इसका तात्पर्य इनकी एक ज्ञान विषयता से ही है।

आक्षेपक के इस कथन को दो पदार्थों पर उपयोग लगाने पर

उनके विशेषाकारों का ज्ञान न होकर उनके सामान्याकार का ही ज्ञान होता है। यदि सत्य स्वीकार कर लिया जाय तब तो स्कूल में अध्यापक को अनेक छात्रों के भिन्न २ आकारों का, मार्ग में चलते समय मार्ग की भिन्न २ चीजों का और भिन्न २ कार्य करते समय उनकी भिन्न २ बातों का ज्ञान नहीं होना चाहिये। यह सब बातें रोजाना तथा प्रतिसमय के अनुभव के प्रतिकूल हैं। अतः कहना पड़ता है कि भले ही आक्षेपक इन को दार्शनिक गूढ़-तत्त्व समझते हों किन्तु वास्तव में ये तो सारहीन बातें हैं।

पएणवणा के कथन में आई हुई रत्न-प्रभा के सम्बन्ध में आपका लिखना कि इसका भी सामान्य ज्ञान नहीं होता है आपके अन्य विवेचनों के ही अनुरूप है। अतः इसके सम्बन्ध में यहां चर्चा चलाना विषय की केवल पुनरावृत्ति मात्र ही होगा।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान करने पर हमको भिन्न २ विशेषाकारों एवं उनके सामान्याकार का भी ज्ञान होता है। जब हमारे उपयोग में यह बातें सदैव हुआ करती हैं तब केवली के ज्ञान में इनका अभाव किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक की यह युक्ति भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने में अकिंचित्कर ही रही है।

दर्शनोपयोग का वास्तविक स्वरूप

आक्षेपक ने दर्शनोपयोग के स्वरूप को प्रश्नोत्तर के रूप में निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्रगट किया है:—"**स्वरूपग्रहण अर्थात् आत्मग्रहण को दर्शन कहते हैं और परवस्तु के ग्रहण को ज्ञान**

कहते हैं। दर्शन अनुभवरूप है, इसलिये उसको चैतन्य भी कहते हैं। यह निर्विकल्पक होता है। ज्ञान कल्पना रूप है, इसलिये यह सविकल्पक है।

प्रश्न—दर्शनोपयोग तो सभी प्राणियों को होता है परन्तु आत्मग्रहण सभी को नहीं होता। आत्मज्ञान तो सम्यग्दृष्टि कर्मयोगी केवली आदि को होता है। इसलिये आत्मग्रहण दर्शन कैसे हो सकता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि आदि को जो आत्मग्रहण होता है वह शुद्धात्म ग्रहण है……यहाँ तो दर्शन शब्द का अर्थ बाह्य पदार्थों के ज्ञान के लिये उपयोगी आत्मग्रहण है।

प्रश्न—बाह्य पदार्थों के ज्ञान के लिये उपयोगी आत्मग्रहण कैसा ?

उत्तर—हम किसी भी बाह्य पदार्थ को तभी ग्रहण कर सकते हैं जब उसका कुछ न कुछ प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है। जैसे—हम किसी पदार्थ को तभी देखते हैं जब उसमें से किरणें अपनी आंख पर पड़ती हैं; जब तक उसकी किरणें आँखों पर नहीं पड़तीं तब तक वह दिखलाई नहीं देता। अंधेरे में दिखलाई नहीं पड़ता इसका कारण यही है। चक्षु अपने शरीर का एक अवयव है जिसके साथ कि आत्मा बँधा हुआ है। इसलिये आत्मा चक्षु के ऊपर पड़े हुए प्रभावों को अनुभव करता है, यही दर्शन है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों और मन के ऊपर पड़े हुए प्रभावों का अनुभव करना भी दर्शन है। इस दर्शन के बाद जो हमें पर पदार्थ की कल्पना होती है उसे ज्ञान कहते हैं। घड़े ने जो हमारे

ऊपर प्रभाव डाला उसका जो हमें अनुभव हुआ वह दर्शन है और उस अनुभव से जो हमें घड़े के अस्तित्व आदि की कल्पना हुई वह ज्ञान है।

आक्षेपक ने अपने इस वक्तव्य में एक जगह तो आत्मग्रहण को दर्शन लिखा है और दूसरी जगह चक्षु आदि इन्द्रियों पर पड़े हुए प्रभावों का आत्मा द्वारा अनुभव करना दर्शन बतलाया है। आत्मा का ग्रहण और आत्मा द्वारा ग्रहण ये दो बातें हैं। जहाँ कि "आत्मा का ग्रहण" में आत्मा कर्म है वहीं आत्मा ग्रहण में आत्माकरण और इन्द्रियों पर पड़ा हुआ प्रभाव कर्म है। क्या आक्षेपक का दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में इस प्रकार का वक्तव्य परस्पर विरोधी कथन नहीं है? दूसरी बात यह है कि वह प्रभाव जो कि इन्द्रियों या मन पर पड़ता है और जिसके ग्रहण को आक्षेपक दर्शनोपयोग बतलाते है क्या पदार्थ है? यदि नेत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में ही इसको घटित किया जाय तो क्या यह उन किरणों का सम्बन्ध है जो कि पदार्थ से आरही हैं और पदार्थाकार हैं या उनका पूर्व रूप!

यदि किरणों का सम्बन्ध है तब तो इसके ग्रहण और पदार्थ ग्रहण में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। पदार्थ ग्रहण भी तो तभी होता है जबकि पदार्थ से सम्बन्धित और अतएव पदार्थाकार किरणें चक्षु से सम्बन्धित हो जाती है तथा यही अवस्था चक्षु पर प्रभाव की है। इस प्रकार तो यह भी ज्ञान ही हो जाता है, क्योंकि पर पदार्थ के ग्रहण ही का नाम तो ज्ञान है। आक्षेपक स्वयं भी इसको स्वीकार कर चुके हैं। चक्षु सम्बन्धी प्रभाव से

तात्पर्य यदि चक्षु पर पड़े हुए किरणों के पूर्व रूप से है तो यह किरणों का पूर्वरूप भी क्या है—किरणों की तरह ही पदार्थाकार अन्य किरणें या अन्य पदार्थाकार किरणें अथवा अपदार्थाकार किरणें ? पहिले पक्ष में तो पूर्वोक्त ही दूषण आता है दूसरे पक्ष में भी यही बात है, क्योंकि सम्बन्धित किरणें किसी भी पदार्थाकार क्यों न सही वे तो नेत्रेन्द्रिय पर अपने जैसे आकार की ही उत्पादक होंगी और फिर वैसा ही ज्ञान होगा ! अतः इस पक्ष में भी दर्शन ज्ञान ही हो जायगा। तीसरे पक्ष में बात यह है कि इस प्रकार की किरणों का प्रभाव ही नेत्र पर नहीं पड़ सकता। ऐसी किरणों का सम्बन्ध तो केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही माना जा सकता है। यह तो नेत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध की बातें हैं, स्पर्शनादिक अन्य इन्द्रियों में तो इस प्रकार के प्रभाव की और भी अधिक मिट्टी पलीत है। नेत्रेन्द्रिय में तो किरणों के द्वारा पदार्थ की आकृति आ जाती है, अतः इस प्रकार के प्रभाव के घटित होने की कल्पना भी उठाई जा सकती है किन्तु स्पर्शनादिक इन्द्रिय में तो इस प्रकार की कल्पना को भी स्थान नहीं है। स्पर्शनादिक के द्वारा तो वे ही पदार्थ ग्रहण होते हैं जिनका सम्बन्ध कि इनसे होजाता है। सम्बन्ध और ग्रहण में कोई समय भेद भी नहीं, अतः यहाँ तो इस प्रकार के प्रभाव की कल्पना भी नहीं हो सकती। जब हम अपने ध्यान को मन की तरफ ले जाते हैं तब यह बात और भी असंभव जचने लगती है। नेत्र में किरणों द्वारा और स्पर्शनादिक में विषयस्पर्श से विषय सम्बन्ध की गुञ्जायश थी, किंतु मन में तो इन दोनों ही बातों को लेश मात्र भी स्थान नहीं है।

अतः वहाँ इस प्रकार के प्रभाव की तो बात ही क्या हो सकती है ? यदि थोड़ी देर के लिये अभ्युपगमसिद्धान्त से प्रभाव और आत्मा द्वारा उसका अनुभव भी स्वीकार कर लिया जाय तब भी निम्नलिखित विकल्पों का उठना अनिवार्य है:—आत्मा इस प्रभाव को इन्द्रियों की सहायता से अनुभव करती है या बिना ही सहायता के ? पहिले पक्ष में यह ज्ञान ही ठहरता है, क्योंकि जिस प्रकार अन्य पदार्थों को आत्मा इन्द्रिय के द्वारा जानता है उस ही प्रकार इस प्रभाव को भी । जबकि अन्य पदार्थों का ग्रहण ज्ञान है फिर प्रभाव का ग्रहण ज्ञान क्यों नहीं ? दूसरे पक्ष में भी यही बात है क्योंकि इन्द्रियों की सहायता न लेने पर भी आखिर तो आत्मा प्रभाव—पर पदार्थ—को ही जानता है । उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि इस प्रकार के प्रभाव का अस्तित्व हो अनिश्चित है जिसको कि दर्शनोपयोग का विषय माना जा सके । आक्षेपक ने अपने दर्शन सम्बन्धी लेख में अनेक मतों पर विचार किया है और अन्त में यह परिणाम निकाला है कि दिगम्बराचार्य श्री जयधवलकार का मत इस सम्बन्ध में युक्तियुक्त है । अतः यहाँ हम आक्षेपक के उपर्युक्त कथन की समीक्षा उक्त दिगम्बराचार्य के मतानुसार भी करते हैं । पाठक दर्शनोपयोग के सम्बन्ध में श्री धवलकार के मत और उसके अर्थ के सम्बन्ध में हमारे और आक्षेपक के मत भेद को सरलता के साथ जान सकें, अतः यहाँ हम श्री धवल के इस सम्बन्धी वाक्य और उसका आक्षेपक का हिन्दी अर्थ उद्धृत किये देते हैं—दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमने ज्ञान दर्शनयोरविशेषः स्यात् इति चेन्न अन्तर्ब-

हिर्मुखयोश्चित प्रकाशयोर्दर्शन ज्ञान व्यपदेश माजरेकत्व विरोधात्। त्रिकाल गोचरानन्त पर्यायात्मकस्य जीव स्वरूपस्य स्व क्षयोपशम वशेन संवेदनं चैतन्यं स्वतो व्यतिरिक्त बाह्यार्थावगति प्रकाशः इति अन्तर्वहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं वाह्यमर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वं ततो न ज्ञान दर्शनयोर्भेदः इति चेन्न ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्म व्यवस्थाभावात्। ततः सामान्य विशेषात्मक वाह्यार्थ ग्रहणं ज्ञानं तदात्मक स्वरूप ग्रहणं दर्शनमिति सिद्धं। सत्यमेवमनध्यवसायो दर्शनं स्यात् इति चेन्न स्वाध्य वसायस्य अनध्यवसायबाह्यार्थस्य दर्शन त्वाद्दर्शनं प्रमाणमेव। आत्म विषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावात् चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यात् इति चेन्नैषः दोषः यद्यस्यज्ञानस्योत्पादकं स्वरूप संवेदनं तस्य तद्दर्शनव्यपदेशात् न दर्शन चातुर्विध्यानियमः। श्रीधवल के इन वाक्यों का आक्षेपक ने निम्नलिखित हिन्दी भाषांतर किया हैं:—

"प्रश्न—जिसके द्वारा जानते हैं, देखते हैं वह दर्शन है, ऐसा कहने पर दोनों में क्या भेद रहेगा ?

उत्तर—दर्शन अन्तर मुख है अर्थात् आत्मा को जानता है उसको चैतन्य कहते हैं। ज्ञान बहिर्मुख है वह परपदार्थ को जानता है उसको प्रकाश कहते हैं; इनमें एकता नहीं हो सकती।

प्रश्न—आत्मा को और बाह्यार्थ को जाने उसे ज्ञान कहते हैं। यह बात जब सिद्ध है तब त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायात्मक जीव स्वरूप का अपने क्षयोपशम से वेदन करना चैतन्य और अपने से भिन्न बाह्यार्थों को जानना प्रकाश यह बात कैसे बन सकती है ?

इसलिये ज्ञान दर्शन में भेद नहीं रहता।

उत्तर—ज्ञान में जिस प्रकार जुदी-जुदी कर्म व्यवस्था है अर्थात् जैसे उसके जुदे-जुदे विषय हैं वैसे दर्शन में नहीं हैं। **इस लिये सामान्य विशेषात्मक बाह्यार्थ ग्रहण ज्ञान और सामान्य विशेषात्मक स्वरूप ग्रहण दर्शन सिद्ध हुआ।**

प्रश्न—यदि ऐसा माना जायगा तो दर्शन अनध्यवसाय हो जायगा। इसीलिये यह प्रमाण न होगा।

उत्तर—नहीं, दर्शन **में बाह्यार्थ का अध्यवसाय न होने पर भी आत्मा का अध्यवसाय होता है**; इसलिये वह प्रमाण है।

प्रश्न—**आत्मोपयोग को यदि आप दर्शन कहोगे** तो आत्मा तो एक ही तरह का है, इसलिये दर्शन भी एक ही तरह का होगा; फिर दर्शन में चार भेद क्यों किये?

उत्तर—जो स्वरूप सम्वेदन जिस ज्ञान का उत्पादक है वह इसी नाम से कहा जाता है। इसलिये चार भेद होने में बाधा नहीं है।"

आक्षेपक ने मोटे टाइप के नं० १, ३ और ४ के वाक्यों में आये हुए अन्तर्मुख, स्वाध्यवसाय और आत्मोपयोग शब्दों के दर्शन अन्तर्मुख है अर्थात् आत्मा को जानता है, आत्मा का अध्यवसाय और आत्मोपयोग अर्थ किये हैं। आत्मा शब्द इन तीनों ही शब्दों में मिलता है, अतः विचारणीय यह है कि यहाँ आत्मा शब्द का क्या अर्थ है? आत्म द्रव्य या चेतना गुण? यदि आत्मा शब्द से आक्षेपक का अभिप्राय आत्म द्रव्य से है तब तो यह

युक्तिसंगत नहीं। यहाँ ऐसी कोई भी बात नहीं जिससे इन वाक्यों के साथ आत्मद्रव्य का सम्बन्ध घटित किया जा सके—इन वाक्यों में जितने भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनसे भी कोई ऐसी बात ध्वनित नहीं होती जिससे कि आत्मद्रव्य को यहाँ लिया जा सके। अन्तर और स्व शब्दों का अर्थ आत्मद्रव्य नहीं तथा यहाँ आत्मोपयोग शब्द भी स्वोपयोग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि आत्मोपयोग शब्द वाले वाक्य के उत्तर वाले वाक्य से प्रगट है। आत्मोपयोग शब्द जिस वाक्य में प्रयुक्त हुआ है उसके द्वारा शास्त्रकार ने यह शङ्का उपस्थित की है कि यदि आत्मोपयोग का नाम ही दर्शन है तो आत्मोपयोग तो एक ही प्रकार का होता है, फिर दर्शन के चार भेद कैसे रहेंगे। इसके उत्तर में शास्त्रकार ने लिखा है कि जो-जो स्वरूप सम्वेदन जिस-जिस ज्ञान के उत्पादक हैं वे-वे उस-उस नाम से कहे जाते हैं। प्रश्न में आचार्य ने जिस अर्थ में आत्मोपयोग शब्द का प्रयोग किया है उत्तर में उस ही अर्थ में स्वरूप सम्वेदन शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वरूप सम्वेदन का अर्थ आत्म द्रव्य सम्वेदन कदापि नहीं हो सकता। अतः निश्चित है कि यहाँ पर आत्म सम्वेदन का अर्थ भी आत्मद्रव्य सम्वेदन नहीं है। इससे प्रगट है कि यहाँ आत्म शब्द का अर्थ आत्म द्रव्य कथमपि नहीं लिया जा सकता। जहाँ कि आत्म शब्द का अर्थ आत्म द्रव्य करने में आधार का अभाव है वहीं इसका अर्थ चेतना गुण करने में अनेक प्रमाण मौजूद हैं। पहिली बात तो यह है कि ये शब्द ही इस अर्थ को बतलाते हैं। इन शब्दों में स्व शब्द का प्रयोग उस वाक्य में हुआ है जो कि एक प्रश्न का

उत्तर स्वरूप है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार तो दर्शन अनिश्चयात्मक हो जायगा। इस बात के उत्तर में शास्त्रकार ने लिखा है कि यह बात ठीक नहीं, क्योंकि दर्शन बाह्यार्थ का अनिश्चयात्मक होने पर भी स्व का निश्चयात्मक है। इससे प्रगट है कि स्व शब्द का प्रयोग दर्शन के ही लिये हुआ है। इसी प्रकार आत्मोपयोग शब्द का प्रयोग भी स्वरूप सम्वेदन के अर्थ में ही हुआ है। इसका खुलासा हम पूर्व ही कर चुके हैं। यहाँ तो हमको केवल इतना ही लिखना है कि श्रीधवल कार ने उस ही वाक्य में यह भी लिखा है कि जो-जो स्वरूप सम्वेदन जिस-जिस ज्ञान का उत्पादक होता है वह-वह उस-उस दर्शन के नाम से कहा जाता है। दर्शन या ज्ञान स्वतन्त्र गुण नहीं किन्तु चेतना गुण की पर्यायें हैं, यह बात आक्षेपक भी स्वीकार कर चुके हैं। दर्शन ही ज्ञान रूप परिणमन करता है। यदि इस ही को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि चेतना गुण ही अपनी दर्शन रूप अवस्था का त्याग करके ज्ञान रूप परिणमन करता है। अतः यह भी निश्चित है कि चेतना गुण की ज्ञान रूप अवस्था में उस ही गुण की दर्शन रूप अवस्था ही उपादान कारण है*। कार्य की विभिन्नता से कारण में भेद माना जाता है, अतः यहाँ भी ज्ञानों की विभिन्नतायें उनके कारण दर्शन की विभिन्नता की निश्चायक हो जाती हैं। चेतना गुण की इस अवस्था में यदि इसको स्व निश्चायक ही माना जाता है तब तो यह विभिन्नता तदवस्थ रहती है और फिर दर्शन भेद की नियामक हो जाती है। यदि इस अवस्था

* कार्योत्पादः क्षयः हेतोः। —देवागम, स्वामी समन्तभद्र।

में चेतना गुण को आत्म द्रव्य निश्चायक माना जाता है तो वह इस प्रकार की सभी अवस्थाओं में आत्म द्रव्य निश्चायक ही रहता है और ऐसा होने से फिर चेतना गुण की इस अवस्था में उस विभिन्नता का अभाव हो जाता है, जिसके आधार से कि दर्शन में भेद स्वीकार किया गया है। इससे प्रगट है कि स्वरूप सम्वेदन में भी स्व शब्द का अर्थ दर्शन ही है। दूसरी बात यह है कि इन वाक्यों के अतिरिक्त स्वयं श्री धवलकार के ही अन्य वाक्य भी हैं जो कि इस ही अर्थ का समर्थन करते हैं। श्री धवलकार ने स्पष्ट लिखा है कि—

"ततः सामान्य विशेषात्मक वाह्यार्थ ग्रहणं ज्ञानं तदात्मक स्वरूप ग्रहणं ज्ञानमिति सिद्धं" अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वाह्य पदार्थों का ग्रहण करना ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण दर्शन है।

एक बात इस सम्बन्ध में और भी उल्लेख योग्य है और वह यह है कि आचार्य अमृतचन्द्र और ब्रह्मदेव भी, जिनकी दर्शनोपयोग सम्बन्धी मान्यताको स्वयं आक्षेपक श्रीधवलकारकी मान्यता के अनुसार ही मानते हैं, हमारे ही वक्तव्य का समर्थन करते हैं।

लघीयस्त्रय के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से दर्शन ही अर्थ विशेष ग्रहण लक्षण स्वरूप अवग्रह रूप से परिणमन करता है; जैसे आकाश में यह वस्तु ! † आचार्य अमृतचन्द्र का दर्शन और

---

† दर्शनमेव ज्ञानावरण वीर्यान्तराय क्षयोपशम विजृम्भितमर्थ विशेष ग्रहण लक्षणावग्रह रूपतया परिणमत इति यथा आकाशे इदं वस्त्विति लघीयस्त्रय।

अवग्रह के स्वरूप को आकाश में यह वस्तु वाले दृष्टान्त से स्पष्ट करना बतलाता है कि जिस प्रकार खाली आकाश में वस्तु के आने से यह कहा जाता है कि आकाश में यह वस्तु है उस ही प्रकार केवल चैतन्य में वाह्य पदार्थों के प्रतिभासित होने से यह कहा जाता है कि यह अमुक पदार्थ ग्रहण स्वरूप अवग्रह है। दर्शन का ही ज्ञान स्वरूप परिणमन बतलाना और फिर खाली आकाश में वस्तु के दृष्टान्त से उस ही में वस्तु का प्रतिभासित होना बतलाना स्पष्ट प्रमाणित करता है कि यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ चैतन्य गुण का केवल स्व प्रकाश ही है।

इस ही प्रकार ब्रह्मदेव ने लिखा है कि जैसे एक ही अग्नि जलाने से दाहक और पचाने से पाचक कहलाती है उस ही प्रकार एक ही चैतन्यभेद नय की दृष्टि से जब अपना ही प्रकाश करती है उस समय उसको दर्शन और जब दूसरों को ग्रहण करती है तब ज्ञान कहते हैं। *

आक्षेपक ने दर्शनोपयोग के स्वरूप को इससे भिन्न रूप से माना है जिसको हम पूर्ण ही उद्धृत कर चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक का दर्शनस्वरूप श्रीधवल के कथन के अनुसार नहीं है।

---

* यथैकोप्यग्निर्दहतीति दाहकः पचतीति पाचको विषयभेदेन द्विधा भिद्यते तथैवाभेद नये नैकमपि चैतन्यं भेद नय विवक्षायाम् यदात्म ग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा पश्चात् यच परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते।—व्रहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४३।

दूसरी बात यह है कि दर्शन को आत्मद्रव्य निश्चायक मानने पर उसको प्रमाणरूप ही नहीं माना जा सकता ! ज्ञेय की यथार्थता प्रमाणता की सूचक है और अयथार्थता अप्रमाणता की। आत्मद्रव्य जिसका निश्चायक कि दर्शन को माना जाता है उसही रूप है जिस प्रकार से कि दर्शन उसको प्रकाशित करता है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जासकता। जबतक कि ज्ञेय की यथार्थता का ही निश्चय न हो जाय तब तक उसके ज्ञान को प्रमाणरूप ही नहीं स्वीकार किया जा सकता ! मिथ्या दृष्टि के दर्शन को तो प्रमाणरूप कहा ही नहीं जा सकता। जबकि दर्शन का स्वरूप चेतनागुण की केवल स्वप्रकाशात्मक (चैतन्य प्रकाशात्मक) अवस्था मानते हैं तब यह बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि चैतन्य गुण तो स्वयं प्रकाशात्मक है। वह न अपने किसी अंश विशेष को छिपा सकता है और न दूसरे को ही अपने में सम्मिलित कर सकता है। वह तो जितना और जिस रूप है उतना और उस रूप से ही प्रकाशित होगा। अतः उसमें यह बाधा उपस्थित नहीं हो सकती।

तीसरी बात यह है कि उस समय जबकि हम घटादिक पदार्थों को जानते हैं आत्मद्रव्य का भी प्रतिभास होना चाहिये, क्यों कि ज्ञान को तो स्वपर व्यवसायात्मक माना है तथा स्वव्यवसाय का अर्थ विद्वान् लेखक ने आत्मद्रव्य व्यवसायात्मक किया है। घटादिक पदार्थों को जानते समय आत्मद्रव्य का प्रतिभास नहीं होता यह हर एक जानता है। जबकि स्वव्यवसाय का अर्थ चेतनागुण की अवस्था विशेष—प्रकाशात्मिका—किया जाता है

तब यह बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि घाटादिक के प्रकाश के समय भी वह अपना प्रकाश भी तो करती है। ऐसा कौन प्रकाशात्मक तत्त्व है जो अपना प्रकाश किये बिना ही दूसरे पदार्थों का प्रकाश कर सके !

प्रश्न—जब हम रूप को देखते हैं तब यही तो कहते हैं कि हम रूपवान को देख रहे हैं। इस ही प्रकार यदि चेतना के प्रकाश को चेतनावान्—आत्मद्रव्य—का प्रकाश कह दिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—रूप के द्वारा रूपवान् को जानना या कथन करना प्रमाणज्ञान या कथन है, इस ही प्रकार चेतना के द्वारा चेतनावान का ज्ञान या कथन भी ! जहाँ इस प्रकार का ज्ञान या कथन हो वहाँ यह व्यवस्था घटित हो सकती है किन्तु प्रकृत विषय में नहीं। प्रकृत में दर्शनोपयोग का विवेचन इससे भिन्न विवेचन है। यहाँ द्रव्यदृष्टि से आत्मद्रव्य का विचार नहीं किन्तु यहाँ तो गुण और पर्याय दृष्टि से चेतना और दर्शन का विचार है। अतः यहाँ नयज्ञान एवं कथन ही लागू होगा ! इससे प्रगट है कि यहाँ उस दृष्टि से आत्मद्रव्य का ग्रहण नहीं हो सकता !

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि न इन्द्रियों पर पड़े हुए प्रभावों का अनुभव करना दर्शन है और न आत्मद्रव्य का अनुभव ही दर्शन है, किन्तु चेतनागुण जिस समय केवल अपना प्रकाश करता है। चेतनागुण की इस अवस्था का नाम दर्शन है। ब्रह्मदेव ने इस ही को एक दृष्टान्त के द्वारा भी स्पष्ट किया है। वे बतलाते हैं कि जिस समय हमारा उपयोग एक विषय से हट जाता

है किन्तु दूसरे पर लगता नहीं है उस समय जो चेतनागुण की अवस्था होती है उसका नाम दर्शन है।

विरोध (क)—मेरे लेख में आत्मग्रहण तो है, परन्तु आत्मा द्वारा ग्रहण नहीं है। नहीं मालूम आक्षेपक ने यह कैसे लिख डाला है ? अगर होता भी तो भी इसमें विरोध नहीं था, क्योंकि उसका मतलब इतना ही था कि आत्मा अपने को अपने द्वारा जानता है अर्थात् अपने को जानने में उसे इन्द्रियों को कारण बनाने की जरूरत नहीं होती। इसमें विरोध की क्या बात है ?

(ख)—इन्द्रियों पर पड़ने वाला प्रभाव इन्द्रिय की एक अवस्था-विशेष है। जैसे—शब्द का प्रभाव कान पर पड़ता है तो कान के पर्दे में कम्पन होता है। इस कम्पन को हम प्रभाव कहते हैं। इसी प्रकार हर एक इन्द्रिय पर विषय का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है। अगर इन्द्रिय पर कुछ प्रभाव न पड़े तो वह विषय को ग्रहण करते समय एक सरीखी होगी। इसलिये उसके द्वारा या तो सदा ग्रहण होगा या कभी ग्रहण न होगा। शब्द को ग्रहण न करते समय कान जैसा था, वैसा ही शब्द को ग्रहण करते समय रहे तब कान की जरूरत ही क्या रहेगी ? अथवा शब्द के बिना भी कान शब्द को सुनने लगेगा, जो कि असम्भव है। इस प्रकार हर एक इन्द्रिय पर विषय का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है, तभी इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का ग्रहण होता है। यही बात मन की है। आक्षेपक का प्रभाव के अस्तित्व को अनिश्चित कहना अति साहस है। इससे तो इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाँयगी और उनका अस्तित्व ही अनिश्चित हो जायगा।

(ग)—यह कहना ठीक नहीं कि उस प्रभाव का संवेदन पर का संवेदन होने से ज्ञान हो जायगा। प्रभाव इन्द्रिय की अवस्था-विशेष है और इन्द्रिय तथा आत्मा में बन्ध होने से इन्द्रिय प्रभाव का संवेदन भी आत्म-संवेदन है। मैंने जो 'पर' शब्द का प्रयोग किया है, वह आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु के लिये नहीं, किन्तु उस ज्ञान का विषय कहलाने वाले घटपटादि किसी भिन्न पदार्थ के लिये कहा है। मेरे इन शब्दों पर आक्षेपक को ध्यान देना चाहिये था कि "चक्षु अपने शरीर का एक अवयव है जिसके साथ कि आत्मा बँधा हुआ है, इसलिए आत्मा चक्षु के ऊपर पड़े हुए प्रभावों का अनुभव करता है, यही दर्शन है।...... इस दर्शन के बाद हमें जो परपदार्थों की कल्पना होती है, उसे ज्ञान कहते हैं।" इससे साफ मालूम होता है कि पर शब्द के अर्थ में इन्द्रियों का समावेश यहाँ नहीं है किन्तु उनके विषय रूप में प्रसिद्ध घटपटादि है।

(घ)—स्वग्रहण का अर्थ चेतनाग्रहण लिया जाय और उसे दर्शन कहा जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि दर्शन को ग्रहण करने वाला दर्शन है। क्योंकि दर्शनोपयाग के समय में ज्ञान चेतना तो है ही नहीं जिससे दर्शन, ज्ञान को ग्रहण कर सके। इस लिये दर्शन को ग्रहण करने वाला दर्शन कहलाया। आक्षेपक ने इसे स्वीकार भी किया है, जैसा कि आक्षेप (ज) से मालूम होता है। आक्षेप की इस परिभाषा में निम्नलिखित दो महान् दोष हैं:—

पहिला तो यह कि दर्शन का लक्षण नहीं बन सकेगा; क्योंकि

जब हमसे कोई पूछेगा कि दर्शन किसे कहते हैं और इसका उत्तर दिया जायगा कि जो दर्शनको जाने तो दर्शनको समझनेके लिये ही तो परिभाषा पूंछी थी परन्तु जब परिभाषा के भीतर ही फिर दर्शन शब्द आगया तो हम अब परिभाषाके भीतर आये हुए दर्शन शब्द को कैसे समझें ? उसकेलिये दूसरी परिभाषा बनायें तो उसमें भी दर्शन शब्द आयगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा।

दूसरा दोष यह है कि दर्शन को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण न रह जायगा, क्योंकि दर्शन के सिवाय वह दूसरे पदार्थ का प्रतिभास तो करता नहीं है जिससे किसी को साधन बना कर उसका अस्तित्व अनुमान से सिद्ध कर दिया जाय; और दर्शन के समय में प्रत्यक्ष ज्ञान तो है ही नहीं जो उसे जान सके।

हाँ, इस दोषके परिहार के लिये एक ही बात कही जा सकती है, जो कि आक्षेपक ने आगे चल कर कही भी है, कि एक उपयोग से हटकर दूसरा उपयोग होने के पहिले चेतना गुण की जो अवस्था विशेष है उसीका नाम दर्शन है। आक्षेपक के इस वक्तव्य का उद्धरण मैंने ऊपर (ट) में किया है। ऐसा कहने पर भी पहिला दोष तो रहता ही है। हाँ, दूसरा दोष किसी तरह जाता है परन्तु अपने से कई गुणा ज़बर्दस्त अनेक दोषों को रख जाता है।

पहिला दोष तो यह है कि जैन शास्त्रों में दर्शन की उत्पत्ति विषयविषयि सन्निपात के होनेपर बताई जाती है। (विषयविषयि सन्निपाते दर्शनं भवति तदनंतरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १-१५-१) उपयोगहीन अवस्था के लिये विषयविषयि सन्निपात की क्या आवश्यकता है ?

दूसरा दोष यह है कि उपयोगहीन अवस्था में दर्शन भेद कैसे होगा ? चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन में से कौनसा दर्शन उस समय माना जायगा। इस भेद का कारण क्या होगा ? एक ही समय में दो-दो तीन-तीन दर्शन मानने पड़ेंगे, परन्तु एक समय में दो उपयोग हो नहीं सकते।

इसी प्रकार अपर्याप्त अवस्था में चक्षु अचक्षु न होने पर भी चक्षुर्दर्शन अचक्षुदर्शन का सद्भाव मानना पड़ेगा, लब्धिउपयोग अवस्थाका भेद न मालूम होगा, आदि दोष भी हैं। इस प्रकार आक्षेपक ने मेरी दर्शन—परिभाषा का खण्डन करने के लिये जैन शास्त्रों का विरोध करने के साथ बिलकुल विचारशून्य बातें लिखमारी हैं।

(च)—दर्शन के द्वारा आत्मग्रहण होने का यह मतलब नहीं है कि वह आत्माकी लम्बाई चौड़ाई नित्यत्व अनित्यत्व आदि को जाने। अंग्रेजी में जिसे हम Self (स्व) कहते हैं उसी को यहाँ आत्मा शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार के आत्मशब्द का व्यवहार आत्मद्रव्य को न मानने वाले नास्तिक भी मानते हैं। दूसरे इस तरह तो किसी को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी न हो सकेगा क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में आत्माका जैसा ग्रहण होता है वैसा आत्मा है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अस्तित्व ही उड़ जायगा। खैर, आत्मग्रहण का मतलब मैं ऊपर कह आया हूं कि आत्मद्रव्य को जाने या करण-इन्द्रिय या करणरूप इन्द्रियपर पड़े हुए प्रभाव को जाने, वह सब आत्मग्रहण है।

(छ) मैंने ज्ञान को स्वपरव्यवसायात्मक नहीं कहा किन्तु

दर्शन को स्वग्राहक और ज्ञान को परग्राहक कहा है। खैर, यहाँ असली बात तो यह है, स्वपर व्यवसाय में जो 'स्व' शब्द है और स्वग्राहकदर्शन में जो 'स्व' शब्द है इन दोनों में क्या भेद है, इस बात पर ध्यान न देने से आक्षेपक से अनेक भूलें हुई हैं। ज्ञान का जो स्वव्यवसाय है, वह सिर्फ उसी कारण ज्ञान को बतलाने वाला है। इसलिये जिस समय परव्यवसाय है उसी समय स्व-व्यवसाय भी है। **इस प्रकार स्वपरव्यवसाय का एक ही समय है; जबकि दर्शन ज्ञान के पहिले ही एक जुदी ही अवस्था है। इन दोनों में विषयभेद है।** दर्शन का विषय और ज्ञान का विषय जुदाजुदा है। आक्षेपक को यह भ्रम हो गया है कि "दर्शन के विषय को ज्ञान भी ग्रहण कर लेता है अर्थात् ज्ञान के विषय का एक अंश ग्रहण करने वाला दर्शन है।" जबकि वास्तविक बात यह है कि दर्शन और ज्ञान ये जुदे-जुदे उपयोग हैं, उनका विषय भी भिन्न है। उनमें अंश अंशीभाव नहीं है। यदि ऐसा होता तो दो स्वतन्त्र कर्मों की और उपयोगों की मान्यता जैन शास्त्रों में न होती। इस प्रकार आक्षेपक ने जो दर्शन की परिभाषा की है वह परस्पर विरुद्ध है, युक्तिविरुद्ध है, जैन दर्शन की मान्यता के विरुद्ध है। एक तो जैन शास्त्रों में इस विषय में यों भी बहुत गड़बड़ी है, फिर आक्षेपक ने उसे और भी बढ़ा दिया है।

परिहार (क)—आक्षेपक ने दर्शन की परिभाषा लिखते हुए निम्नलिखित वाक्य लिखे थे—"स्वरूपग्रहण अर्थात् आत्मग्रहण को दर्शन कहते हैं और परवस्तु के ग्रहण को ज्ञान कहते हैं।"

"इसलिये आत्मा चक्षु के ऊपर पड़े हुये प्रभावों को

अनुभव करता है, यही दर्शन है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों और मन के ऊपर पड़े हुए प्रभावों का अनुभव करना भी दर्शन है।"

पहिले उद्धरण के अनुसार तो आत्मा का ग्रहण करना दर्शन है और दूसरे के अनुसार आत्मा का चक्षुरादिक इंद्रियों के प्रभावों का ग्रहण दर्शन है। इस ही को यदि प्रकारान्तर से कहना चाहें तो आत्मा का ग्रहण और आत्मा द्वारा ग्रहण भी कह सकते हैं। यही बात तो हमने अपनी लेखमाला में लिखी है जिसको आक्षेपक ने निराधार लिखा है। हम आक्षेपक के उन वाक्यों को जिनके अनुसार हमने उनका उपर्युक्त प्रकार का मत बतलाया है ऊपर लिख चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक का हमारे प्रस्तुत कथन को निराधार बतलाना निराधार है। आक्षेपक ने अपने इस ही वक्तव्य में इन दोनों कथनों के समन्वय का भी प्रयत्न किया है। यदि आत्मा का ही आत्मा द्वारा ग्रहण बतलाया होता तब तो आक्षेपक इस प्रकार इनका समन्वय कर सकते थे। किन्तु यहां तो आत्मा द्वारा जिसका ग्रहण दर्शन बतलाया है वह इंद्रिय प्रभाव है। अतः आक्षेपक का यह प्रयत्न भी निष्फल ही रहा।

(ख, ग, घ)—इन्द्रिय प्रभाव ग्रहण और आत्म द्रव्य-ग्रहण का नाम दर्शन नहीं है, इसका समर्थन हमने अपनी लेख माला में बड़ी विशालता के साथ किया है तथा इन दोनों ही पक्षों में अनेक दोष भी उपस्थित किये हैं। आक्षेपक ने इन पर बिलकुल विचार नहीं किया है। इसका यह मतलब नहीं है कि ये बातें आक्षेपक की निगाह में नहीं आईं। ये सब बातें उनकी निगाह में आई हैं तथा उन्होंने इन पर विचार भी करना चाहा है

किन्तु दर्शनोपयोग की अपनी परिभाषा के अनुसार वे इनका समाधान नहीं कर पाये हैं। अतः उन्होंने इनको छोड़ दिया है।

आक्षेपक ने विरोध परिहार शीर्षक अपनी लेखमाला के इकत्तीसवें लेख में दर्शनोपयोग सम्बन्धी हमारी बाधाओं की सूची दी है। इस ही में एक यह बाधा भी है—"प्रभाव को इन्द्रियों की सहायतासे जानो तो वह परज्ञान कहलायगा, अगर बिना सहायता के जानो तो भी पर तो है ही।"

ये वाक्य हमारे नहीं है, हमने तो इन्द्रिय प्रभाव ग्रहण दर्शनके पक्ष में दो विकल्प उपस्थित किये थे कि आत्मा इस इन्द्रिय-प्रभाव को इन्द्रिय की सहायता से जानता है या बिना ही इन्द्रिय की सहायता से। कुछ भी सही आक्षेपक के ऊपर के लिखने से इतना तो साफ है कि उनके मन्तव्य के सम्बन्ध में हमने जो बाधायें उपस्थित की थीं वह उनके सामने थीं। इस ही प्रकार आत्म-द्रव्य ग्रहण दर्शन के पक्ष में भी दर्शन के भेदों का न बनाना और दर्शन में प्रमाणता का अभाव आदि दूषण दिये थे किन्तु आक्षेपक ने इनके सम्बन्ध में भी मौन धारण करके उपर्युक्त विरोध उपस्थित किया है। यद्यपि आक्षेपक के इन वक्तव्यों में भी ऐसी एक भी बात नहीं है जिसका समाधान हमने अपनी लेखमाला में न किया हो फिर भी यहाँ इन्द्रिय प्रभाव के सम्बन्ध में थोड़ी-सी चर्चा कर लेना अनावश्यक नहीं है। इन्द्रिय प्रभाव के सम्बन्ध में हमने अपनी लेखमाला में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं—"वह प्रभाव जो कि इन्द्रियों या मन पर पड़ता है और जिसके ग्रहण को आक्षेपक दर्शनोपयोग बतलाते हैं क्या पदार्थ है? यदि नो-

न्द्रिय के सन्बन्ध में ही इसको घटित किया जाय तो क्या यह उन किरणों का सम्बन्ध है जो कि पदार्थ से आ रही हैं और पदार्थाकार है या उनका पूर्व रूप ? यदि किरणों का सम्बन्ध है······ इस प्रकार तो यह भी ज्ञान हो जाता है।" हमारे इन वाक्यों से स्पष्ट है कि हमने इन्द्रिय प्रभाव से इन्कार नहीं किया, किन्तु उसके ग्रहण को दर्शन न मानकर ज्ञान ही स्वीकार किया है। अतः जहाँ तक आक्षेपक के "ख" विरोध का सम्बन्ध है वह तो निराधार है। आक्षेपक ने अपने "ग" वक्तव्य में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं—"प्रभाव इन्द्रिय की अवस्था विरोध है और इन्द्रिय तथा आत्मा में बन्ध होने से इन्द्रिय प्रभाव का संवेदन भी आत्म संवेदन है। मैंने जो पर शब्द का प्रयोग किया है वह आत्मा से भिन्न किसी वस्तु के लिये नहीं, किन्तु इन ज्ञान का विषय कहलाने वाले घटपटादि किसी भिन्न पदार्थ के लिये किया है।"

कभी-कभी एक झूठ को छिपाने के लिये कई-कई झूठ बोलने पड़ते हैं यही बात आक्षेपक के इस वक्तव्य के सम्बन्ध में है। इस प्रकार तो शरीर की या उसके भागविशेष की किसी भी बात का ज्ञान ज्ञान न कहला कर दर्शन ही कहलायगा। शरीर के दर्द, हलन-चलन आदि बातों का ज्ञान भी ज्ञान न कहला सकेगा।

दूसरी बात यह है कि आत्मा यदि इस इन्द्रिय प्रभाव को इन्द्रिय की सहायता से जानता है तब तो इसमें अनवस्था नाम का दूषण आता है। जिस प्रकार किसी भी पदार्थ के जानने के लिये उसका इन्द्रिय पर प्रभाव अनिवार्य है उसही प्रकार इन्द्रिय प्रभाव को भी जानने के लिये उसका भी इन्द्रिय प्रभाव मानना

ही पड़ेगा तथा जिस प्रकार पदार्थ सम्बन्धी इन्द्रिय प्रभाव के बिना जाने पदार्थ नहीं जाना जा सकता उसही प्रकार इस इन्द्रिय प्रभाव के बिना जाने भी यह इन्द्रिय प्रभाव नहीं जाना जा सकेगा। यदि इन्द्रिय प्रभाव को जान कर इस इन्द्रिय प्रभाव को जाना जायगा तो फिर उसके लिये भी अन्य इन्द्रिय प्रभाव की कल्पना करनी पड़ेगी तथा उसके भी ज्ञान के लिये अन्य इन्द्रिय प्रभाव की इस प्रकार अनवस्था हो जायगी।

तीसरी बात यह है कि इस इन्द्रिय प्रभाव को चेतना के जिस परिणमन से जानते हो इसके जानने से पूर्व वह लब्धि रूप अवस्था में था या उपयोग रूप अवस्था में! यदि लब्धि रूप अवस्था में था तब तो उसको उपयोग रूप अवस्था में कौन लाया? दार्शनिक और मनोवैज्ञानिकों ने तो माना है कि किसी भी पदार्थ को जानते समय उसका इन्द्रिय पर प्रभाव पड़ता है तथा इससे अनुकम्पन होता है। यह अनुकम्पन शुसुप्त या लब्धिरूप अवस्था में रहने वाली चेतना शक्ति को जागृत करता है। यह चैतन्य पदार्थ को जानती है। इन्हीं को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो शारीरिक परिणमन और मानसिक या आत्मिक परिणमन कह सकते हैं। जहाँ तक इन्द्रिय प्रभाव का सम्बन्ध है यह शारीरिक परिणमन है इसका तो मानसिक परिणमन से साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। अतः मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में तो इस इन्द्रिय संस्कार के ज्ञान की चर्चा भी नहीं की गई है। इसका कार्य तो केवल अनुकम्पन पैदा करना स्वीकार किया गया है। इस इन्द्रिय प्रभाव के सम्बन्ध में एक बात यह भी है कि यदि आत्मा इसही

को जानता होता तो पदार्थ का ज्ञान भी उल्टा होना चाहिये था, क्योंकि इन्द्रिय पर हरएक पदार्थ का उल्टा ही चित्र पड़ता है।

चौथी बात यह है कि यह इन्द्रिय प्रभाव चाहे यह इन्द्रिय की अवस्था रूप ही क्यों न माना जाय, किन्तु फिर भी यह तो देखना ही होगा कि इन्द्रिय की इस अवस्था का क्या स्वरूप है ? क्या यह इन्द्रिय के अनुकम्पन रूप है या उसकी अन्य प्रकार की दशा है ? किसी भी अवस्था में इसके ज्ञान के लिये इन्द्रिय की सहायता लेना अनिवार्य ही है। इस प्रकार भी यह ज्ञान स्वरूप ही ठहरेगा।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि आक्षेपक का 'ग' विरोध भी मिथ्या है। हमने सामान्य विशेषात्मक बाह्यार्थ ग्रहण को ज्ञान तथा सामान्य विशेषात्मक स्वरूप ग्रहण को दर्शन लिखा है। इससे स्पष्ट है कि हम दर्शन को चेतनागुण की उपयोग स्वरूप अवस्था मानते हैं। अतः इसको लब्धि स्वरूप मानकर आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में जो दूषण दिये हैं वे इस पर लागू नहीं होते। यदि हम दर्शन की परिभाषा इस ढङ्ग से करते कि जो दर्शन को जाने उसे दर्शन कहते हैं तब तो आक्षेपक को इसके सम्बन्ध में अनवस्था की चर्चा चलाना उचित भी था। यह तो आक्षेपक के ही दिमाग़ की उपज है। यदि इस प्रकार की व्याख्या करके ही दूषण दिये जायेंगे तब तो इस प्रकार के दूषणों से आक्षेपक की एक भी बात न बच सकेगी। किन्तु इससे आक्षेपक की बात को सदोष नहीं माना जायगा। उनकी बात को तो तब ही सदोष माना जा सकता था जबकि वह दूषण स्वयं उनकी बात में घटित

होता। इससे स्पष्ट है कि जो भी दूषण दिया जाय वह किसी के मूल कथन में ही देना चाहिये। सामान्य विशेषात्मक स्वरूपग्रहण को दर्शन कहते हैं या चेतनगुण जब केवल अपना प्रकाश करता है उस समय उसको दर्शन कहतेहैं, ये वाक्य हैं जोकि हमने दर्शन की परिभाषा स्वरूप लिखे हैं।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक दर्शन की हमारी व्यख्या का संबन्ध है अनवस्था का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जब कि दर्शन को चेतनागुण की स्वप्रकाशात्मिका अवस्था मानेंगे तब ही तो उसके सम्बन्ध में दर्शन की उत्पत्ति वाली घटना भी घट सकेगी। विषय और विषयी के सन्निपात से (योग्यस्थान पर रहने से) दर्शन होता है, इसके बाद अर्थग्रहण होता है तथा इस ही को ज्ञान कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ के इन्द्रिय से सम्बन्धित होने पर या नेत्रेन्द्रिय के विषय में किरणों द्वारा सन्बन्धित होने पर इंद्रिय संस्कार होता है इससे अनुकम्पन के द्वारा लब्धिरूप चेतना उपयोगरूप अवस्थायें आती हैं, इस ही का नाम दर्शन है। इस समय यह केवल अपना प्रकाश करती है इसके बाद जब यह चेतना पदार्थ को ग्रहण करती है तब इस ही को ज्ञान कहते हैं। इंद्रिय संस्कार या आत्म द्रव्यग्रहण को दर्शन माना जायगा तब तो यह अर्थ ग्रहण हो जायगा और इस प्रकार दर्शन की उत्पत्ति की घटना इसके सम्बन्ध में घटित न की जासकेगी।

आगे चल कर 'छ' वक्तव्य में आक्षेपक ने फिर दर्शन और ज्ञान सम्बन्धी "स्व" की व्याख्या पर चर्चा चलाई है। जहाँ तक ज्ञान

और दर्शन की अवस्थाभेद, आवरणभेद और विषय भेद की बात है हम भी इसको स्वीकार करते हैं। हमने तो स्वयं इसका समर्थन किया है किन्तु इससे यह कैसे समझा जाय कि दर्शन के "स्व" से आत्मद्रव्य से मतलब है तथा ज्ञान के 'स्व' का मतलब ज्ञान से ही है। इन बातों के आधार से तो इस बात को किसी भी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

दर्शन और ज्ञान में अवस्था भेद होकर भी ये दोनों एक ही गुण की पर्याय हैं। आक्षेपक स्वयं इस बात से सहमत है। इस गुण का नाम चेतना है। चेतना गुण ही दर्शन रूप अवस्था से ज्ञान-रूप अवस्था में परिणमन करता है। इसको हम अनेक दृष्टान्तों एवं अनेक शास्त्रों के आधार से अपनी लेखमाला में सिद्ध कर चुके हैं तथा आक्षेपक ने उनमें से किसी पर भी कोई आपत्ति उपस्थित नहीं की है।

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—

(१) जबकि दर्शन और ज्ञान में मूलभूतगुण एक है तो दोनों ही अवस्थाओं में उसका परिणमन ही 'स्व' शब्द का वाच्य होगा।

(२) जबकि दोनों ही का 'स्व' एक है तो एक को स्वप्रकाशात्मक मान लेने पर दूसरे को भी स्वप्रकाशात्मक मानना होगा। अतः यही परिणाम निकलता है कि चेतना गुण का केवल स्वप्रकाश दर्शन है तथा उसही का स्वप्रकाश के साथ पर को भी प्रकाशित करना ज्ञान है।

दर्शन और ज्ञान की यही परिभाषा सिद्धान्त एवं युक्तिसिद्ध है।

केवली और मन

आक्षेपक की सर्वज्ञत्व चर्चा की निम्नलिखित बातें अभी शेष हैं:—

(१) केवली और मन।

(२) केवली और अन्य ज्ञान।

(३) सर्वज्ञ शब्द का अर्थ।

आक्षेपक ने अपनी पहिली बात के समर्थन में तीन बातें लिखी हैं—एक जैन शास्त्रों से केवली के मनोयोग का अस्तित्व, दूसरी केवली के ध्यान का होना और तीसरी केवली से प्रश्नोत्तरों का होना। इन तीनों बातों के लिखने से पूर्व आक्षेपक ने निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं—"केवली सब वस्तुओंको एक साथ नहीं जानते, इस विषय में और भी बहुत-सी विचारणीय बातें हैं जिनका यहाँ उल्लेख किया जाता है। इस विषय में विशेष विचारणीय बात यह है कि केवली के मनोयोग होता है। जहाँ मनोयोग है वहाँ सब वस्तुओं का एक साथ प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, क्योंकि मन एक समय में एक ही तरफ लग सकता है।"

मन एक समय में एक तरफ ही लग सकता है, इसका अभिप्राय यदि यह है कि मनोयोग एक समय में एक तरफ लग सकता है तब तो यह बात असिद्ध है। मनोयोग से तात्पर्य तो मन के निमित्त से होने वाले केवल आत्म प्रदेशों के हलन-चलन से है। इसका एक विषय और सब विषयों से क्या सम्बन्ध? यदि इसका यह मतलब अभीष्ट है कि मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान, जिसको मनोपयोग कहते हैं एक समय में एक ही पदार्थ को जान

सकता है तब तो इसके आधार से यही माना जा सकता है कि मनोपयोगी को एक साथ सब वस्तुओं का ज्ञान हो सकता। इससे यह बात तो सिद्ध नहीं हो सकती कि मनोपयोगी को भी एक साथ सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मनोपयोग और मनोयोग, ये भिन्न-भिन्न दो बातें हैं। जहांकि मन के द्वारा पदार्थों का ग्रहण करना मनोपयोग है वहीं मन के निमित्त से आत्म प्रदेशों में हलन-चलन होना मनोयोग है। यदि आक्षेपक का अभिप्राय यह है कि वह केवली में इस बात को एक साथ संपूर्ण पदार्थों के जानने के अभाव को—मनोपयोग से ही सिद्ध करना चाहते हैं तब तो उनको केवली में इसके अस्तित्व को प्रमाणित करना था। यह कैसे हो सकता है कि केवली में मनोपयोग के अस्तित्व को प्रमाणित किये बिना ही उनमें इसही के आधार से किसी भी बात को स्वीकार किया जा सके।

आक्षेपक ने अपने इस वक्तव्य के समर्थन में राजवार्तिक की एक पंक्ति लिखी है और वह यह है कि "क्षयेऽपि सयोगकेवलिनः त्रिविधो योग इष्यते" अर्थात् क्षय हो जाने पर भी सयोग केवली के तीन प्रकार का योग माना गया है। राजवार्तिक के इस वाक्य के सम्बन्ध में पहिली बात तो यह है कि यह पूर्व पक्ष का वाक्य है। राजवार्तिककार भट्टाकलङ्क पूर्वपक्ष के भाव को प्रकट करते हुए लिखते हैं* कि यदि क्षयोपशम की प्राप्ति को अभ्यन्तर कारण

* यदि क्षयोपशम लब्धिरभ्यन्तर हेतुः क्षये कथं? क्षयेऽपि सयोग केवलि नः त्रिविधो योग इश्यते। अथ क्षयनिमित्तोऽपि योगः कल्प्यते अयोग केवलिनां सिद्धानां च योगः प्राप्नोति? नैष

मानोगे तो यह योग व्यवस्था क्षय में कैसे घटित होगी। क्षय की अवस्था में भी सयोग केवली के तीन प्रकार का योग माना ही गया है। यदि आपका—उत्तर पक्ष का—यह मन्तव्य है कि क्षय निमित्त भी योग होता है तो यह अयोग केवली और सिद्धों में भी मानना पड़ेगा। (अब यहाँ से उत्तर पक्ष शुरू होता है) यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि क्रियापरिणामी आत्मा का तीन प्रकार की वर्गणाओं के आधार से जो हलन-चलन है वह योग है। इस प्रकार की व्यवस्था सयोग केवली में घटित हो जाती है, क्योंकि वहाँ हलन-चलन की निमित्त भूत वर्गणाओं का सद्भाव है। इसही प्रकार की वर्गणाओं से अभाव के अयोग केवली और सिद्धों में यह बात घटित नहीं होती। राजवार्तिक के कथन के इस उद्धरण से पाठक समझ गये होंगे कि आक्षेपक वाला वाक्य पूर्वपक्ष का वाक्य है। अतः इस वाक्य को यहाँ मान्यता के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस अभिप्राय को कि सयोग केवली में तीनों योग होते हैं स्वीकार कर लेने पर भी इससे आक्षेपक का अभिमत सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मनोपयोग के साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान के अभाव का नियम है न कि मनोयोग के साथ। मनोपयोग और मनोयोग ये दोनों भिन्नि२ हैं, जैसा कि हम पूर्व भी लिख आये हैं। अतः केवली में मनोयोग के स्वीकार कर लेने से भी आक्षेपक का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता!

दोषः क्रियापरिणामिनः आत्मनस्त्रिविध वर्गणा लंबनापेक्षः प्रदेश परिस्पन्दः सयोग केवलिनो योगविधिर्विद्यते, तदालंबनाभावात् उत्तरेषां योग विधिर्नास्ति। राजवार्तिक ६। १

प्रश्न—मनोपयोग को भले ही पदार्थ ग्रहण के नाम से और मनोयोग को हलन-चलन के नाम से कहिये किन्तु ये दोनों हैं एक ही। जिस समय मन की सहायता से पदार्थों का ज्ञान होता है उसही समय मन के निमित्त से हलन-चलन भी होता है। क्या कोई ऐसा भी समय है जबकि मन के द्वारा पदार्थों का ज्ञान तो हो जाता हो, किन्तु मन के निमित्त से हलन-चलन न होता हो? यदि नहीं तो फिर इनको भिन्न २ कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

उत्तर—यदि आपही की बात को मान लिया जाय कि जिस समय मन की सहायता से पदार्थों का ज्ञान होता है उसही समय मन के निमित्त से हलन-चलन भी होता तब भी यह कैसे माना जा सकता है कि ये दोनों एक ही हैं। एक समय में होना भिन्न बात है और एक होना भिन्न। सैकड़ों पदार्थ हैं जो एक ही समय में पैदा होते हैं, फिर भी वे एक नहीं हैं। सूर्य प्रताप और सूर्य प्रकाश ही है। इन दोनों की उत्पत्ति सूर्य से एक ही समय होती है फिर भी ये एक नहीं हैं।

वे लोग जिनको बड़े-बड़े शहरों में जाने का अवसर मिला है और जिन्होंने चौराहों पर पुलिस के सिपाहियों को कार्य करते देखा है इस बात को भली-भांति जानते हैं कि सिपाहियों के एक ही इशारे से गाड़ियों का एक तरफ से आना बन्द हो जाता है और दूसरी तरफ की गाड़ियों का चलना शुरू हो जाता है। ये दोनों कार्य एक ही समय होते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का एक साथ होना तो एक अति प्रसिद्ध बात है। इन सब दृष्टांतों से प्रकट है कि एक समय में होने के आधार से एकत्व के प्रमा-

णित करने की चेष्टा बिलकुल निराधार है ! ऐसा होना तो प्रत्युत उनकी भिन्नता का ही नियामक हो सकता है। वह वस्तु जो एक या अभिन्न है, उसमें साथ या अभिन्न समय की बात ही क्या हो सकती है। इस प्रकार की बातें तो उन पदार्थों के सम्बन्ध में घटित हो सकती हैं जो भिन्न २ हैं। एक ही पदार्थ के आने जाने और होने आदि में कोई नहीं कहता कि साथ आये, साथ गये और साथ हुए। इस प्रकार की कथनी तो अनेक पदार्थों के संबंध में ही हुआ करती है। इससे प्रकट है कि एक समयमें होना मनोपयोगऔर मनोयोग की अभिन्नता का नियामक कदापि नहीं हो सकता, प्रस्तुत यह तो उनकी भिन्नता पर ही प्रकाश डालता है।

इसके सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार मनोपयोग के साथ मनोयोगअवश्य रहता हैं उस ही प्रकार मनोयोग के साथ मनोपयोग का नियम नहीं।

शास्त्रकारों ने जहाँ मन के द्वारा योग को मनोयोग स्वीकार किया है वहीं मन के निर्माण के योग को भी मनोयोग माना गया है। यही कारण है कि मनोयोग का लक्षण करते हुए भट्टाकलङ्क,* पूज्यपाद × और विद्यानन्दि ÷ सरीखे आचार्यों ने लिखा है कि मनोवर्गणा की अपेक्षा होने वाला प्रदेश परिस्पन्द मनोयोग है। यदि इनको मननिर्माण में होने वाला योग मनोयोग इष्ट न होता

---

* मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। राजवार्तिक ६। १

× वाह्यनिमित्त मनोवर्गणालम्बने च सति मनः परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेश परिस्पन्दो मनोयोगः। सर्वार्थसिद्धि ६। १

÷ कायादि वर्गणालब्धितो जीवप्रदेश परिस्पन्दो योगस्त्रिविधिः प्रत्येतव्यः। श्लोक वार्तिक। ६। १

तो ये मनोवर्गणा के निमित्त से होने वाले प्रदेश परिस्पन्द को मनोयोग कदापि न लिखते। मनोवर्गणा और मन, ये पुद्गल द्रव्य की पूर्वा पर पर्यायें हैं। जब तक पुद्गल स्कन्ध द्रव्य मन के आकार को धारण नहीं करते किन्तु इस योग्य हो जाते हैं तब तक उनको मनोवर्गणा कहते हैं। जिस समय ये द्रव्य मन रूप परिणमन कर लेते हैं उस समय इनकी अवस्था वर्गणारूप नहीं रहती। मनोवर्गणा और द्रव्यमन की बिलकुल ईंट और दीवाल जैसी बात है; अतः स्पष्ट है कि वर्गणानिमित्तक योग तभी तक है जब तक कि उनके द्वारा द्रव्यमन का निर्माण होने नहीं पाता। और यह मनोनिर्माण या उसके दृढ़ीकरण का ही समय हो सकता है। इसी प्रकारका मनोयोग सयोग केवलीकी पूर्व अवस्थामें मानागया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है* कि आङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से जिनेन्द्र भगवान के द्रव्यमन के निमित्त मनोवर्गणा रूप पुद्गल स्कन्ध आते हैं, अतः उनके मनोयोग होता है। सर्वार्थसिद्धि† और श्लोक वार्तिक¶ भी इसी प्रकार का वर्णन करती हैं।

केवली के इस प्रकार मनोयोग स्वीकार करके भी इन शास्त्रकारों ने उनके मनोपयोग का स्पष्ट निषेध किया है। सर्वार्थसिद्धि$

---

* अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंद चन्दम्हि। मणवग्गण खंधाणं आगमणादो दु मणजोगो। गा० २२९

† देखो गत पृष्ठ नं २९६ का फुटनोट ×

¶ देखो गत पृष्ठ नं २९६ का फुटनोट ÷

$ संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादश गुणस्थानानि क्षीणकषायान्तानि। असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टि स्थानम्। तदुभय व्यपदेशरहितः सयोगकेवली अयोग केवली च। सर्वार्थ० १। ८

में साफ तौर से स्वीकार किया है कि असंज्ञी के पहिला गुणस्थान होता है और संज्ञी के पहिले से बारहवें तक। सयोग केवली और अयोगकेवली न संज्ञी है और न असंज्ञी ही। संज्ञी और मनोपयोगी यह एक बात है।° इससे स्पष्ट है कि यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि जहाँ २ मनोयोग है वहाँ वहाँ मनोपयोग भी।

तीसरी बात यह है कि मनोपयोग चेतनागुण की एक अवस्था का नाम है जबकि मनोयोग ऐसा नहीं है; अतः यह भी मनोपयोग और मनोयोग की भिन्नता में एक युक्ति है। स्पष्टता के लिये यों समझियेगा कि एक हिलता हुआ दर्पण है जिसमें भिन्न २ प्रकार के पदार्थों के आकार झलक रहे हैं। यहाँ दो बातें हैं—एक दर्पण का हिलना और दूसरा पदार्थों के आकारों का उसमें झलकना। हिलने से पदार्थों के आकारोंका झलकना एक भिन्न बात है, इसी प्रकार पदार्थों के आकारों के झलकने से हिलना भी एक भिन्न बात है।

दर्पण में जो हिलने की बात है वैसे ही आत्मा में योग की और जैसी यहाँ पदार्थों के आकारों के झलकने की है वैसी ही आत्मा में उपयोग की। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनोयोग मनोपयोग से एक भिन्न बात है तथा राजवार्तिक आदि के उल्लेख सयोग केवली में मनोयोग के ही अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मनोपयोग की ही एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान के अभाव के साथ व्याप्ति है। अतः इन आधारों से केवली में एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान का अभाव प्रमा-

° संज्ञिनः समनस्काः। तत्त्वार्थ सूत्र २। २४

णित नहीं होता। आक्षेपक ने इस ही सम्बन्ध में एक बात और भी लिखी है और वह है मनोयोग के उपचार के सम्बन्ध में। आपने बतलाया है कि जब केवली में मनोयोग के कारण एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान का ही अभाव होने लगा तब पीछे के लेखकों ने इस बात की कल्पना की कि केवली में मनोयोग उपचार से है। आक्षेपक ने केवली में मनोयोग के इस उपचार के दो कारण मालूम कर सके हैं। जिनका यहां हम उनके ही शब्दों में उल्लेख किये देते हैं:—

(१) छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) जीवों के मनपूर्वक वचन व्यवहार देखा जाता है, इसलिये केवली के भी मनोयोग मानागया; क्योंकि वे भी वचन व्यवहार करते हैं।

(२) केवली के मनोवर्गणा के स्कन्ध आते हैं, इसलिये उपचार से उनके मनोयोग माना जाता है।

आक्षेपक ने मनोयोग के उपचार के दोनों ही कारण गोम्मटसार जीवकाण्ड की योगमार्गणा २२८ * और २२६ † वीं गाथाओं के आधार से लिखे हैं। उपचार के इन दोनों करणों पर आक्षेपक ने निम्नलिखित बाधायें उपस्थित की हैं:—(१) अज्ञानियों में मन के साथ वचन व्यवहार का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं, असंज्ञियों में बिना मन के वचन व्यवहार होता है, अतः इसके

---

* मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्व मिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारेणिंदिय णाणेण हीणम्हि ॥२२८॥

† अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंद चंदम्हि।
मण वग्गण खंधाणं आगमणादो दुमणजोगो ॥२२६॥

आधार से केवली में मनोयोग उपचरित नहीं माना जा सकता। (२) यदि वर्गणा के आने मात्र से ही योग की कल्पना की जायगी तब तो तैजसयोग भी मानना होगा, क्योंकि तैजसवर्गणायें भी तो आती हैं। मनोवर्गणायें भी उस समय आती हैं जब कि वचन और कायवर्गणायें भी आती हैं; अतः उस समय भी मनो-योग मानना पड़ेगा।

आक्षेपक ने इन गाथाओं पर यदि गवेषणात्मक दृष्टि से विचार किया होता तो वे इस परिणाम पर कदापि न पहुँचते। इन गाथाओं का वह भाव बिलकुल नहीं जो कि उन्होंने लिखा है। ये दोनों गाथायें योग मार्गणा की गाथायें हैं। योग मार्गणा गोम्मटसार जीवकाण्ड में २१६ वीं गाथा से प्रारम्भ होती है। योग मार्गणा के प्रारम्भ और इन गाथाओं में केवल १२ गाथाओं का ही अन्तर है; इन १२ गाथाओं में से पहिली गाथा में योग का लक्षण है। दूसरी में बतलाया गया है कि मन और वचन की प्रवृत्ति सत्य, असत्य, उभय और अनुभय पदार्थों में होती है। अतः इनके भी—मन और वचन ये ही नाम रख दिये गये हैं। इन सत्य, असत्य, उभय और अनुभय मन और वचन का योग सहायक है। अतः योग भी इसी प्रकार के कहलाते हैं। तीसरी और चौथी गाथा में मनोयोग के चारों भेदों का स्वरूप है। पांचवीं से ११ वीं गाथा तक वचनयोग के भेदों का वर्णन किया गया है। १२ वीं गाथा में वचनयोग और मनोयोग के कारणों का वर्णन है। १३ वीं और १४ वीं गाथायें विवादस्थ गाथायें हैं। इनके द्वारा शास्त्रकार ने केवली में मनोयोग का वर्णन किया है। किंतु यह

मनोयोग क्या है इसके लिये गाथा नम्बर दो पर दृष्टि डालनी होगी। गाथा नम्बर २ + में बतलाया गया है जैसा कि हम पूर्व भी लिख चुके हैं कि मन और वचन की प्रवृत्ति सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप अर्थों में होती है। इनके सम्बन्ध से मन और वचन के भी इतने ही भेद हैं। यहाँ मन से तात्पर्य्य मनोपयोग से है।

द्रव्यमन जड़ होने से सत्य. असत्य, उभय और अनुभय पदार्थों का ग्राहक नहीं हो सकता। तथा यहाँ वही मन उपादेय है जोकि इस प्रकार के पदार्थों को ग्रहण कर सकता हो। अतः यह भी इस बात को पुष्ट करती है कि यहां मन का अर्थ मनोपयोग ही है। इस प्रकार इन गाथाओं से निम्नलिखित बातें प्रमाणित होती हैं:—(१) मनोपयोग और मनोयोग ये दोनों भिन्न २ बातें हैं। (२) सत्य मन, असत्य मन, उभय मन और अनुभय मन से तात्पर्य इस प्रकार के मनोपयोगों से है। (३) योग आत्म प्रदेशों का परिस्पंद स्वरूप है तथा यह इन मनोपयोगों का सहायक है अतः वह भी सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग कहलाता है। सयोग केवली में इसी प्रकार के मनोयोग के समर्थन में आचार्य नेमिचन्द ने इन दोनों विवादस्थ गाथाओं की रचना की है। जिस प्रकार कि सत्य मनोयोगादि में सत्यमन से तात्पर्य सत्य मनोपयोग से है और उसका सहायक होने से योग को भी सत्य मनोयोग कहा गया है उसही प्रकार

+ मणवयणाण पउत्ती सच्चा सच्चुभय अणुभयत्थेसु।
तण्णामं होति तदा तेहि दु जोगा हु तज्जोगा ॥२१७॥

यहाँ भी मन से तात्पर्य मनोपयोग से है और उसका सहायक होने से योग को मनोयोग कहा गया है। इससे प्रगट है कि यहाँ मनोयोग शब्द केवल मनोयोग के ही अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है किंतु यहाँ इसका मतलब सहायक मनोपयोग मनोयोग है। अतः केवली में इसके सिद्ध करने के लिए भी दोनों बातों का समर्थन अनिवार्य हो जाता है।

एक मनोपयोग और दूसरा मनोयोग। आचार्य नेमिचंद ने इसीलिये इन दोनों विवादस्थ गाथाओं की रचना की है। आचार्य ने पहिली गाथा से केवली में मनोपयोग का समर्थन किया है और दूसरी से मनोयोग का। इन दोनों बातों के सिद्ध हो जाने पर मनोपयोग सहायक स्वरूप मनोयोग का सिद्ध हो जाना तो एक स्वाभाविक बात है। मनोपयोग सयोग केवली के नहीं किंतु मनोयोग है। मनोयोग एवं उसके भेदों की व्याख्या आचार्य नेमिचन्द्र ने इस ढङ्ग से की है जिससे इसके लिये केवली में मनोपयोग का मानना अनिवार्य है। अतः उन्होंने गाथा नं० २२८ से उपचरित मनोपयोग को केवली में स्वीकार किया है।* गाथा का भाव यह है कि मन सहित प्राणियों का वचन व्यवहार मन पूर्वक होता है अतः इन्द्रियज्ञान से रहित सयोग केवली में भी मन उपचार से माना गया है। विवादस्थ दूसरी गाथा † से शुद्ध मनोयोग + का

---

* पहिले लिख आये हैं।

† गाथा २२९ है। इसही लेख में पहिले लिख चुके हैं।

\+ शुद्ध मनोयोग से तात्पर्य केवल मनोयोग से—मनोवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेश परिस्पंद—है।

वर्णन किया गया है। इस वर्णन से उपचार का कोई सम्बन्ध नहीं है। गाथा का भाव यह है कि आङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से द्रव्य मन के निमित्त जिनेन्द्र भगवान में मनोवर्गणायें आती हैं अतः उनमें मनोयोग है। इससे प्रगट है कि आक्षेपक का इन दोनों गाथाओं को मनोयोग के उपचार के कारण में घटित करना मिथ्या है। साथ ही यह भी प्रगट है कि विवादस्थ पहिली गाथा को शुद्ध-मनोयोग के सम्बन्ध में घटित करना भी मिथ्या है। इस गाथा में ऐसा कोई शब्द नहीं जिसका अर्थ इस प्रकार का मनोयोग किया जा सके। यहाँ साफ लिखा है कि मन सहितों के वचन व्यवहार मन-पूर्वक देखे गये हैं, इसलिये सयोग केवली में भी वही मन उपचार से माना गया है। वह मन जिसके अनुसार मन सहित प्राणियों के वचन व्यवहार होता है मनोपयोग के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह बात न मनोयोग के सम्बन्ध में ही घटित होती है और न द्रव्यमन के ही सम्बन्ध में। दूसरी बात यह है कि मन से शास्त्रकार का तात्पर्य यदि मनोयोग या द्रव्यमन से होता तो वे उसको यहाँ उपचरित न मानते, क्योंकि इनका वास्तविक अस्तित्व तो उन्होंने स्वयं इससे अगली गाथा ही में स्वीकार किया है। तीसरी बात इनसे यह भी सिद्ध होती है कि सयोग केवली में मन की सहायतासे ज्ञान नहीं होता। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकार को इस प्रकार के ज्ञान का उपचरित अस्तित्व न बतलाना पड़ता।

प्रश्न—गाथा नं० २२८ को आप भले ही मनोयोग के सम्बन्ध में न मानें और मनोपयोग के ही सम्बन्ध में मानें, किन्तु फिर भी इसके सम्बन्ध में आक्षेपक का दोष तो तदवस्थ ही है।

उत्तर—आक्षेपक ने गाथा नं० २२८ में दोष के निकालने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु उसके बनाने की चेष्टा की है। आक्षेपक ने इस गाथा के (मणसहियाणं) शब्द का अर्थ छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) किया है। मन सहित भी छद्मस्थ या अल्पज्ञानी है किन्तु यह नियम नहीं कि जितने छद्मस्थ या अल्पज्ञानी हैं वे सब मन-सहित ही हों। छद्मस्थ या अल्पज्ञानी तो एक, दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव भी हैं किन्तु वे मन सहित नहीं है। अतः आक्षेपक का (मणसहियाणं) शब्द का छद्मस्थ अर्थ मिथ्या है। आक्षेपक से इस प्रकार की ग़लती असावधानी से नहीं हुई है, किन्तु उन्होंने ऐसा जानकर किया है। यदि उन्होंने ऐसा न किया होता और गाथा के शब्द का वही अर्थ रक्खा होता जो कि अति स्पष्ट है और उसके टीकाकारों ने किया* है तो फिर दूषण को जो कि इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने दिया है स्थान ही नहीं था। दूषण देते हुए आक्षेपक लिखते हैं कि असंज्ञी जीवों के बचनयोग और वचन व्यवहार होता है, किन्तु उनके मनोयोग नहीं माना जाता। आक्षेपक के इसी दूषण को यदि गाथा के ठीक अर्थ के अनुसार दिया जाय तो यह घटित ही नहीं होता। वहाँ तो यह बतलाया गया है कि मन सहितों का वचन व्यवहार मनपूर्वक है। इसमें असंज्ञियों—मन रहितों—से दूषण की रंचमात्र भी गुञ्जा-

---

* (क) यथा अस्मदादेः छद्मस्थस्य मनोयुक्तस्य तत्पूर्वकं मनपूर्वकं मेव वचनं······बड़ी टीका २२८।

(ख) अस्मादृद्रशां छद्मस्थानां मनः सहितानां, तत्पूर्वं मनः पूर्वमेव वचनम्······दूसरी बड़ी टीका २२८।

यश नहीं। इससे प्रगट है कि गाथा के अर्थ के अनुसार तो आक्षेपक के दूषण की दोनों ही हालतों में बिलकुल गुञ्जायश नहीं है। यह दूषण तो आक्षेपक के बदले हुए अर्थ पर ही लागू हो सकता है। अतः दूषण की बात बिलकुल निःसार है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आक्षेपक का उपचार सम्बन्धी कथन भी मिथ्या है।

विरोध—मनोयोग से मन उपयोग की ही सिद्धि की गई है, क्योंकि सर्वज्ञता का अभाव और मन उपयोग के सद्भाव में शाब्दिक अन्तर ही है। आक्षेपक का दोष तभी ठीक हो सकता है जब मन उपयोग के बिना मनोयोग सिद्ध हो जाय अर्थात् इनकी व्याप्ति खण्डित हो जाय। परन्तु उस व्याप्ति को मैंने सिद्ध किया है कि मनोयोग हो और मानस ज्ञान न हो, यह हो नहीं सकता। इसीलिये जिनने मनके निर्माण के योग को भी मनोयोग माना है उसका मैंने खण्डन किया है। क्योंकि मन के निर्माण के योग को अगर मनोयोग कहा जाय तो वचन निर्माण के योग को वचन योग कहा जायगा और काय निर्माण के योग को काययोग कहा जायगा। इस प्रकार तीनों योग प्रति समय मानने पड़ेंगे। परन्तु न तो एक समय में अनेक योग होते हैं, न मनोयोग सदा होता है किन्तु मनोनिर्माण तो मनःपर्याप्ति पूर्त्ति से लगा कर जीवन के अन्त तक या सहयोगावस्था के अन्त तक सदा होता रहता है। इससे सिद्ध है कि निर्माण को मनोयोग नहीं कह सकते। इसलिये मनयोग का सम्बन्ध मन उपयोग से ही रह जायगा और इसीसे सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध हो जायगा।

मनोनिर्माण को मनोयोग कहने की बात का जो मैंने खण्डन किया है, उसका खण्डन अगर आक्षेपक ने किया होता तो अवश्य ही उन्हें अपनी पक्ष-सिद्धि में सहायता मिलती। परन्तु इस बात को उनने छुआ भी नहीं तब योगमार्गणाका चर्वित चर्वण करके लेख को लम्बा कर पाठकों को भुलाने का क्या अर्थ है ?

मेरे खण्डन का खण्डन न करके आक्षेपक ने यह कहना शुरू किया कि 'गोम्मटसार की दोनों गाथाओं में मनोयोग को उपचरितता नहीं है, किन्तु पहिली में मन उपयोग की उपचरितता है, दूसरी में मनोयोग की उपचरितता है, क्योंकि पहिली गाथा में मन शब्द का मन उपयोग है।' आक्षेपक की यह बात निःसार तो है ही, पर निराधार भी है। मन शब्द का मनमाना अर्थ करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। मन शब्द का यहाँ वास्तविक अर्थ क्या है और योग मार्गणा के प्रकरण में उपयोग अर्थ क्यों खींचना चाहिये, इसका उत्तर गोम्मटसार की टीका ही दे सकती है। सो तीनों टीकाकार मन शब्द का अर्थ वहाँ मनोयोग ही करते हैं, और दोनों गाथाओं की एक ही उत्थानिका बनाते हैं और उसमें मनोयोग पाठ ही रखते हैं। देखिये—

"अथ सयोग केवलिनि मनोयोग सम्भव प्रकारं गाथाद्वयेनाह" ।

जिस पहिली गाथा में आप मन उपयोग अर्थ निकालना चाहते हैं, उसी में टीकाकार कहते हैं—

"मुख्य मनोयोगस्य केवलिन्य भावादेव तत्कल्पना रूपोपचारः कथितः तस्य प्रयोजनमधुना निरूपयति।"

इसलिये मनका अर्थ मन उपयोग नहीं किया जा सकता।

इस ही प्रकार एक और निरर्थक और निमूल चर्चा आक्षेपक ने कर डाली है। मैंने २२८ की गाथा में मनसहित का भावार्थ छद्मस्थ या अल्पज्ञानी लिख दिया था। आक्षेपक का कहना है कि मैंने यह जान बूझ कर मिथ्या अर्थ किया है जिससे दोष देने का सुभीता होजाय। परन्तु ये दोनों बातें ठीक नहीं। मेरा भावार्थ टीकाकार के अनुसार है। टीकाकार साफ लिखते हैं—'अस्मा दृशां छद्मस्थानां मनः सहितानां।' तीनों टीकाकार यही बात कहते हैं। रही दोष देने की बात, सो दोष देनेका सुभीता तो आक्षेपकके अनुसार किये गये अर्थ में अधिक है। क्योंकि उस समय यह कहा जा सकता है कि मन सहित जीवों के वचन मनपूर्वक होंगे, परन्तु केवली तो मन सहित नहीं हैं, वे न तो संज्ञी हैं न असंज्ञी। इस बात को आक्षेपक ने भी स्वीकार किया है—फिर उनको मनोयोग की क्या आवश्यकता है? जब दोइन्द्रियादि जीवों के मन के बिना भी वचनयोग हो सकता है तब केवली सरीखे सातिशय जीव में बिना मन के वचनयोग हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिये वहाँ मनोयोग की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? इससे वचन के लिये मनोयोग की उपचरितता का और भी अच्छी तरह खण्डन होता। पर मैं शब्दों को पकड़ कर बाल की खाल नहीं निकालना चाहता। मैं तो शास्त्रों के अभिप्राय को पकड़ता हूं, और उसको ऐसे शब्दों में रखता हूँ जिससे शास्त्र के ऊपर अनुचित दोषारोपण न हो जाय। इसीलिए जैनाचार्यों के मत को मैंने पूर्वपक्षके रूप में इस तरह उपस्थित किया है जिससे

उसके ऊपर कम से कम दोष लगाये जासकें।

ख़ैर, इस प्रकार की निरर्थक चर्चाएं करने पर भी आक्षेपक उस बात को छू भी न सके जिससे मैंने मनोयोग के सद्भाव से सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध किया है, और केवली में मनोयोग के उपचार का खण्डन किया है।

परिहार—आक्षेपक की मनोयोग सम्बन्धी बाधा के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने अनेक बातें लिखी हैं। इन्हीं में से मनोयोग और मनोपयोग की एकता तथा उनकी व्याप्ति भी हैं। आक्षेपक ने एकता स्वीकार करने से तो इन्कार किया है। अब रह जाती है इनकी व्याप्ति की चर्चा, इसके सम्बन्ध में भी हमने अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया है। आक्षेपक को यदि मनोयोग और मनोपयोग की व्याप्ति इष्ट थी या वह मनोनिर्माण के योग को मनोयोग स्वीकार करने को तय्यार नहीं थे तो उनका कर्त्तव्य था कि वह इस सम्बन्धी हमारी युक्तियों पर विचार करते। आक्षेपक ने न तो हमारी युक्तियों पर ही विचार किया है और न इस सम्बन्ध में हमारे दिये हुए पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्दि के उल्लेखों पर ही विचार किया है। हमारी मूल लेखमाला तथा उस पर आक्षेपक का विरोध यहां पर मौजूद ही है। अतः इस सम्बन्ध में हम यहाँ अधिक न लिखकर पाठकों से इनको ही देखने की प्रेरणा करेंगे।

यदि हम एक साथ एक से अधिक योगों को स्वीकार न करते तब तो आक्षेपक की अनेक योगों के एक साथ होने की आपत्ति सम्भव भी कही जा सकती थी जब कि हम मनोवचनादि के योग

को भी मनो और वचनादि योग स्वीकार करते हों तब यह कैसे हो सकता है कि हम एक साथ इनका सद्भाव स्वीकार न करें। गोम्मटसार में एक साथ अनेक योगों के होने का निषेध किया है, किन्तु यह भी मनोयोग मनोयोगादिक के ही सम्बन्ध में है। इसके सम्बन्ध में भी हम अपनी लेखमाला में काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अतः यह भी हमारी मान्यता में बाधक नहीं हो सकता। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि मनोयोग और मनोपयोग की व्याप्ति व्यभिचरित है। अतः इस ही के आधार से केवली में मनोपयोग या असर्वज्ञता प्रमाणित नहीं की जा सकती।

आक्षेपक केवली में वास्तविक मनोयोग मानते और हम उस को उनमें उपचरित मानते होते तब तो हमको उपचार के सिद्ध करने की जरूरत भी हो सकती थी, किन्तु हम तो स्वयं भी केवली में वास्तविक मनोयोग स्वीकार करते हैं। अतः हमको इस संबंध में कुछ भी लिखने की जरूरत ही नहीं थी। ऐसी दशा में भी हम ने आक्षेपक की लिखी हुई गोम्मटसार की गाथा नं० २२८-६ पर विचार किया है। यह इसलिये नहीं कि हमको केवली में उपचरित्र मनोयोग सिद्ध करना था। इसका प्रयोजन तो केवल इतना ही रहा है कि आक्षेपक ने इनको जिस दृष्टिकोण से उपस्थित किया था वह ठीक नहीं था।

हमने अपनी लेखमाला में इन गाथाओं के आधार से विस्तार के साथ चर्चा चलाई है कि गोम्मटसारकार केवली में मनोपयोग सहित मनोयोग को कल्पित मानते थे न कि मनोयोग को। योग-मार्गणाओं की गाथाओं में मनोयोग शब्द का प्रयोग प्रायः इस ही

अर्थ में हुआ है। इसकी चर्चा भी हम लेख माला में विस्तार के साथ चला चुके हैं। यही बात टीका में प्रयुक्त हुए मनोयोग शब्द के सम्बन्ध में है। यदि आक्षेपक मनोयोग की हमारी व्याख्या से सहमत नहीं थे तो उनको हमारी व्याख्या पर ऐतराज करना था या मूल गाथाओं के आधार से उस पर विचार करना था। जब कि मूल ही मनोयोग का प्रयोग हमारी व्याख्या वाले अर्थ में करता है तब टीकाकार उससे प्रतिकूल किस प्रकार वर्णन कर सकते हैं। यहाँ मनोयोग शब्द के प्रयोग की चर्चा नहीं है, यहाँ तो यह देखना है कि यह किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखा है। अतः यह बात भी उनकी बात के समर्थन में असमर्थ है।

यही बात २२८ वीं गाथा के अर्थ बदलने के सम्बन्ध में है। इसके सम्बन्ध में आपके निम्नलिखित शब्द विशेष विचार योग्य हैं—"मैंने २२८ वीं गाथा में मन सहित का भावार्थ छद्मस्थ अल्पज्ञानी लिख दिया था। आक्षेपक का कहना है कि मैंने जान-बूझ कर मिथ्या अर्थ किया है, जिससे दोष देने का सुभीता हो जाय। परन्तु ये दोनों बातें ठीक नहीं। मेरा भावार्थ टीकाकार के अनुसार है। टीकाकार साफ लिखते हैं—अस्मादृशां छद्मस्थानां मनः सहितानां। तीनों टीकाकार यही बात कहते हैं।"

पहिले हमने कल्पना ही की थी कि आक्षेपक ने हमारे कथन में दोष देने के लिये ही अर्थ बदला है, किन्तु आपके इन वाक्यों को देख कर तो अब बात बिलकुल स्पष्ट है। टीकाकार ने केवल छद्मस्थ नहीं लिखा है, किन्तु मन सहित छद्मस्थ लिखा है। आक्षे-

पक ने इस मनसहित पद को यहाँ भी उड़ा दिया है। यदि वह ऐसा नहीं करते तो उसके सम्बन्ध में उनका दोष ही नहीं बनता था। इसका स्पष्टीकरण हम अपनी लेखमाला में कर चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि जहाँ तक दोष देने के लिये आक्षेपक के अर्थ बदलने की बात है वह बिलकुल ठीक है।

आक्षेपक ने अपने इस आक्षेप में यह भी लिखा है कि उनको हमारे अर्थ के अनुसार भी दोष देने का सुभीता है, यह मिथ्या है। हम लोगों में मन सहितों के वचन व्यवहार की व्याप्ति मनोपयोग पूर्वक है। असंज्ञी जीवों में तो इस प्रकार का बचन व्यवहार ही नहीं है, अतः उनमें तो इसकी चर्चा की ही जरूरत नहीं है। यदि ग्रन्थकार ने यहाँ साधारण वचन व्यवहार का उल्लेख किया होता तब तो आक्षेपक की बात ठोक बैठ सकती थी। केवली में संज्ञियों जैसा वचन व्यवहार तो है, किन्तु मनोपयोग नहीं है अतः उनमें इसको औपचारिक माना गया है। अतः आक्षेपक का यह समाधान भी निरर्थक ही है।

यह सब चर्चा तो आनुषङ्गिकरूप से चल पड़ी थी। यहाँ विचारणीय तो केवल इतना ही था कि क्या मनोपयोग के बिना भी मनोयोग सम्भव है। इसका समर्थन हम विषदता के साथ कर ही चुके हैं। यदि पाठक इनको सोपयोग होकर पढ़ेंगे तथा फिर इसमें उठाई गई बातों के सम्बन्ध में आक्षेपक के वक्तव्य को देखने का कष्ट करेंगे तो उनको आक्षेपक के बार-बार लिखने की वास्तविकता का कि हमने मनोनिर्माण के योग को मनोपयोग सिद्ध करने के लिये कुछ भी नहीं लिखा है, पूरा-पूरा पता चल जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से साफ है कि मनोयोग के सद्भाव से ही केवली में असर्वज्ञता सिद्ध नहीं की जा सकती।

केवली सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ नहीं जानते या यों कहिये कि केवली के मानसिक ज्ञान है, इस बात के समर्थन में आक्षेपक ने दूसरी बात ध्यान की लिखी है। आपका कहना है कि ध्यान बिना मन के नहीं हो सकता तथा केवली के ध्यान स्वीकार किया गया है। अत: यह भी स्पष्ट है कि केवली के कार्यकारी मन भी है। पाठक आक्षेपक के अभिप्राय को विशदता के साथ समझ सकें अत: यहाँ हम इस सम्बन्ध के उनके वाक्यों को भी उद्धृत किये देते हैं—

"तेरहवें गुणस्थान में केवली के ध्यान बतलाया जाता है। ध्यान बिना मन के हो नहीं सकता, इसलिये भी केवली के मन मानना पड़ता है। तेरहवें गुणस्थान के सूक्ष्म क्रियाप्रतिपातिध्यान में वचनयोग के समान मनोयोग का भी निरोध किया जाता है। यदि मनोयोग उपचरित माना जाता तो ध्यान के लिये उसके निरोध की आवश्यकता ही क्या है? जब वास्तव में मनोयोग है ही नहीं तो उसका निरोध क्या?

आक्षेपक के इस वक्तव्य का यदि विश्लेषण कर दिया जाय तो निम्नलिखित रूप रह जाता है:—

ध्यान से कार्यकारी मन का समर्थन और तेरहवें गुणस्थान में वास्तविक मनोयोग का अस्तित्व।

अब विचारणीय यह है कि क्या आक्षेपकका उपर्युक्त वक्तव्य युक्तियुक्त है? इस बात के निर्णय के लिये निम्नलिखित बातों का

निर्णय आवश्यक है:—

१—ध्यान और कार्यकारी मन की व्याप्ति।

२—तेरहवें गुणस्थान में वास्तविक मनोयोग का अस्तित्व और उसका प्रकृत विषय से सम्बन्ध।

सूत्रकार उमास्वामी ने ध्यान का लक्षण "एकाग्रचिन्तानिरोध" किया है।* इसका तात्पर्य अपरिस्पन्दात्मक ज्ञान है।† जिस प्रकार किसी भी पदार्थ के एक जगह से दूसरी जगह जाने को क्रिया या परिस्पन्द कहते हैं उसी ही प्रकार ज्ञान के एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय पर जाने को भी। अतः जिस समय हम अपने उपयोग को एक विषय से हटाकर दूसरी तरफ ले जाते हैं उस समय इसमें परिस्पन्द होता है या इसकी उस अवस्था को परिस्पन्दात्मक अवस्था कहते हैं। इसके विपरीत जब हम अपने उपयोग को एक विषय से दूसरे विषय पर नहीं जाने देते और उसको उसही पर रोके रखते हैं उस समय हमारे ज्ञान में ज्ञेय से ज्ञेयान्तर जाना रूप परिस्पन्द नहीं होता। अतः ऐसी अवस्था में हमारा ज्ञान अपरिस्पन्दात्मक कहलाता है। इसीको ध्यान कहते हैं और यही एकाग्रचिन्ता निरोध है। इस प्रकार की अवस्था उस समय होती है जब कि हम चिन्ताओं—मनोवृत्तियों—को चारों तरफ से हटाकर एकही तरफ लगा लेते हैं या उस समय भी होती है जब हम

---

* तत्वार्थसूत्र ६। २७

† एतदुक्तं भवति ज्ञान मेवापरिस्पन्दमानमपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। —सर्वार्थसिद्धि ६। २७

सम्पूर्ण चिन्ताओं का बिल्कुल अभाव ही कर देते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर शास्त्रकारों ने इस चिन्तानिरोध को एक देश और सर्वदेश इस प्रकार दो भेदों में विभाजित किया है।* एक देश चिन्तानिरोध वहाँ है जहाँ कि एक चिन्ता के अतिरिक्त अन्य शेष चिन्ताओं का अभाव है। सर्वदेश चिन्तानिरोध से तात्पर्य उस अवस्था से है जहाँ कि मनोवृत्तियों का बिल्कुल अभाव है। इसही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि यह वह अवस्था है जहाँ कि क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव होकर क्षायिक ज्ञान का उदय हो जाता है। चिन्तानिरोध से तात्पर्य यदि केवल एक देशीय चिन्तानिरोध से ही होता तब तो इसके लिये कार्यकारी मन का अस्तित्व अनिवार्य ही था, क्योंकि ऐसी अवस्था में भले ही अन्य विषयों से चिन्ता का—मनोवृत्ति का—अभाव हो गया हो किन्तु जिस पर वह मौजूद है, उसके सम्बन्ध में तो मानसिक ज्ञान मौजूद ही है। अन्य विषयों से चिन्ता को हटा कर एक विषय पर लगा देने से उसमें परिस्पन्दात्मक पने का अभाव तो हो जाता है, किन्तु यह कैसे हो सकता है कि उसके लिये कार्यकारी मन की ही जरूरत न रहे। ऐसा होने पर तो वह चिन्ता ही नहीं कहला सकती, क्योंकि मन की प्रवृत्ति का नाम ही तो चिन्ता है।† यहाँ तो चिन्तानिरोध से तात्पर्य दोनों ही प्रकार

---

* चिन्तानिरोधस्यैक देशतः कात्स्र्न्यतो वा ध्यानस्यैकाग्रविषयत्वेन विशेषणात्। —श्लोक वा० ९—२७

† चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः। अन्तः करणवृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते। —राजवार्तिक ९—२७

के चिन्तानिरोधों से है। जिस प्रकार पहिली अवस्था में कार्यकारी मन का अस्तित्व अनिवार्य है उसी ही प्रकार दूसरी अवस्था में उसका अभाव। यदि दूसरी अवस्था में भी चिन्ताओं के सर्वदेश अभाव में कार्यकारी मन का अस्तित्व माना जायगा या यों कहिये कि मन की सहायता से ज्ञान का होना माना जायगा तो इस अवस्था में सर्वदेश से चिन्ता का अभाव ही नहीं हो सकेगा। जहाँ मन की सहायता से ज्ञान हो रहा हो वहाँ यह कहना कि यहाँ मनोवृत्तियों का बिल्कुल अभाव है परस्पर विरोधी कथन है। दूसरी बात यह है कि वह ज्ञान क्षायिक ज्ञान भी नहीं कहला सकता, क्योंकि क्षायोपशमिक हो ही जायगा। प्रतिपक्षी कर्म के बिल्कुल क्षय से जो अवस्था होती है उसको क्षायिक और जिसमें क्षय, उपशम और उदय तीनों कार्य करते हैं इसको क्षायोपशमिक कहते हैं। जिस समय पतिपक्षी कर्म का बिल्कुल अभाव हो जाता है, उस समय वह गुण पूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किन्तु जब तक प्रतिपक्षी कर्म का बिलकुल अभाव नहीं होता तब तक गुण भी पूर्ण विकाश को प्राप्त नहीं हो सकता। कार्यकारी मन के अस्तित्व में जो भी ज्ञान होता है वह चरमसीमा को पहुँचा हुआ ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में भी अधिक ज्ञान की लालसा बनी ही रहती है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान क्षायोपशमिक ही हो सकता है। इससे प्रकट है कि चिन्तानिरोध के साथ कार्यकारी मन के अस्तित्व की व्याप्ति नहीं। अतः इसही के—ध्यान के—आधार से केवली के कार्यकारी मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य विद्यानन्दि ने भी इसी प्रकार का एक प्रश्न

श्लोकवार्तिक में उठाया है। प्रश्न का सारांश यह है कि मन रहित केवली के एकाग्र चिन्ता निरोध रूप ध्यान कैसे हो सकता है।* इसके उत्तर में उक्त आचार्यवर्य ने बतलाया है कि निश्चयनय से सम्पूर्ण चिन्ताओं का निरोधरूप जो ध्यान है वह केवली के है। साथ ही उनके उत्कृष्ट स्थिरता और एकाग्रता भी है। अतः साक्षात् मोक्ष का कारण ऐसा जो मुख्य ध्यान है वह केवली के है। जिस प्रकार एक वस्तु में ज्ञान की स्थिरता ही एकाग्रता है उसही प्रकार इस एकाग्रता को एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों में से कौन रोक सकता है। जिस प्रकार मोही ज्ञाता के मोह के उपशम से व्याक्षेप नहीं होता उसही प्रकार क्या मोहरहित ज्ञाता के उसका अभाव न होगा। जिस प्रकार मोही ज्ञाता का एक पदार्थ में व्यापार रहता है उसही प्रकार केवली के अनन्तपर्यायात्मकद्रव्य में क्यों न रहेगा? इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ जानने वाले केवलियों को बुद्धिमानों को निश्चयनय से ध्यान का निषेध नहीं करना चाहिये।†

---

* अथा मनस्कस्य केवलिनः कथमेकाग्रचिन्ता निरोध लक्षणं ध्यानं संभाव्यते इत्यारेकायामिदमाह। —श्लोकवा० ६-४४

† सर्व चिन्तानिरोधस्तु यो मुख्यो निश्चितान्नयात्। सोस्ति केवलिनः स्थैर्यमेकाग्रं च परंसदा॥ मुख्यं ध्यानमतस्तस्य साक्षान्निर्वाणकारणं। छद्मस्थस्योपचारात्स्यात्तदन्यास्तित्वकारणात्॥ यथैकवस्तुनि स्थैर्यं ज्ञानस्यैकाग्र्यमिष्यते। तथा विश्व पदार्थेषु सकृत्तत्केनवार्यते॥ मोहानुद्रेकतो ज्ञातुर्यथा व्याक्षेपसंक्षयः। मोहिनोस्ति तथा वीतमोहस्यासौ सदा न किम्॥ यथैकत्र प्रधानेर्थेवृत्तिर्वातस्य मोहिनः। तथा केवलिनः किं न द्रव्येऽनंत विवर्तके॥ इति निश्चयतो प्रतिषेध्यं न धीमता। प्रधानं विश्वतत्त्वार्थवेदिनां प्रस्फुटात्मनां॥ —श्लोकवा० ६-४४

प्रश्न—जहाँ कि आचार्य विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक में केवलियों के ध्यान के अस्तित्व का समर्थन किया है वहीं वह उसही को उन्हीं में औपचारिक स्वीकार करते हैं। फिर इन दोनों प्रकार के कथनों का समन्वय कैसे किया जाय ?

उत्तर—आचार्य विद्यानन्दि ने केवलियों में जिस दृष्टि से मुख्य ध्यान का सद्भाव बतलाया है वह दृष्टि उस दृष्टि से भिन्न है जिससे वे उनमें उस ध्यान का औपचारिक वर्णन करते हैं। आचार्य का कहना है कि दूसरी चिन्ताओं से रहित चिन्ता—मनोवृत्ति—मनसहित के हो सकती है न कि सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ जानने वाले और मन रहित केवली के। अतः उनके इस प्रकार की एकाग्रता का अभाव है। साथ ही साथ केवली के चिंता निरोधरूप ध्यान मौजूद है। अतः उनके इस प्रकार के ध्यान को उपचार से माना जा सकता है।* इससे पाठक समझ गये होंगे कि केवली में उपचरित ध्यान और मुख्य ध्यान का वर्णन भिन्न दृष्टियों से है। इनहीं सब बातों को और भी स्पष्ट करते

---

* संक्लेशांगतयैकत्र चिन्ता चिन्तातरच्युता।
पापंध्यानं यथा प्रोक्तं व्यवहारनयाश्रयात् ॥
विशुद्धयंगतया चैवं धर्म्यं शुक्लं च किंचन।
समनस्कस्य तादृक्षं नामनस्कस्य मुख्यतः ॥
उद्भूतकेवलस्यास्य सकृत्सर्वार्थवेदिनः।
ऐकाग्र्यभावतः केचिदुपचाराद्वदन्तितत् ॥
चिन्ता निरोधसद्भावोध्यानात्सोपि निबंधनं।
तत्रध्यानोपचारस्ययोगे लेश्योपचारवत् ॥

—श्लोक वार्तिक ९-४४

हुए आचार्य विद्यानन्दि ने भी लिखा है कि पुरुष में कहीं नियत विषय चिन्ता ही—मनोपयोग—ध्यान है और कहीं इन चिन्ताओं के सम्पूर्ण रीति से अभावस्वरूप और सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ही ध्यान है। भिन्न-भिन्न नयों की दृष्टि से कोई कहीं मुख्य है और कहीं गौण आदि।†

प्रश्न—चिन्तानिरोध के आप भले ही एक देश और सर्वदेश कर दें और केवली में सर्वदेश चिन्ताओं का अभाव भी मान लें, किन्तु फिर भी उनमें ध्यान का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ध्यान के लिये इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण भी आवश्यकीय है और वह है एकाग्रता। केवली एक ही समय में सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हैं यह एक मानी हुई बात है, अतः उनमें एकाग्रता घटित नहीं हो सकती। और जब एकाग्रता हो नहीं है तब उनमें सर्वदेश चिन्ताओं का अभाव भी मान कर ध्यान नहीं माना जा सकता।

उत्तर—एकाग्रता का सम्बन्ध एक विषय के जानने और न जानने से नहीं किन्तु स्थिरता से है। वह व्यक्ति जो अनेक पदार्थों को जान रहा है किन्तु अपने उपयोग को दूसरी तरफ नहीं जाने देता, एकाग्री है। परन्तु वह जो एक ही पदार्थ को जान रहा है

---

† कचिच्चिन्ता ध्यानं नियतविषयं पुन्सिकथितं।
कचित्तस्याः कात्स्न्याद्विलयनमिदं सर्व विषयं॥
कचित्किंचिन्मुख्यं गुणमपि वदन्ति प्रतिनयं।
ततश्चित्यं सद्भिः परमगहनं जिनपतिमतं॥
—श्लोक वार्तिक ९–४४

लेकिन अपने उपयोग को बदलता रहता है—एक समय यदि किसी पदार्थ को जानता है तो दूसरे समय किसी अन्य को—, एकाग्री नहीं हो सकता।

यदि एकाग्रता का सम्बन्ध एक ही ज्ञेय के साथ रक्खा जायगा तब तो कोई भी ज्ञान एकाग्र न हो सकेगा, क्योंकि कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जिसको कि एक ही ज्ञेय—एक ही दृष्टि से ज्ञेय—कहा जा सके। जिसको अभी हम किसी दृष्टि से जानते हैं उसही को दूसरे समय दूसरी दृष्टि से। दृष्टान्त के लिये एक घड़े को ही ले लीजियेगा। भिन्न भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इसका भिन्न २ प्रकार का ज्ञान होता है। एक समय यदि इसके पेट की सुन्दरता को जानते हैं तो दूसरे समय इसके मुख की रचना विशेष को। यही बात प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में घटित की जा सकती है। ऐसा होने पर भी जब हम एक पदार्थ को एक ही ज्ञान द्वारा जानते हैं तब भी वे सब बातें उसमें प्रतिभासित होती हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि एक ही ज्ञेय के ज्ञान को एकाग्र कहा जायगा तो यह एकाग्रता ही न बन सकेगी! यदि एक ज्ञेय से तात्पर्य एक समय में जाने जाने वाले पदार्थ या पदार्थों से है और उसही के सम्बन्ध में ज्ञान की दृढ़ता का नाम एकाग्रता है तब तो यह केवली के सम्बन्ध में भी युक्तियुक्त ही ठहरती है। केवली जिसको पहिले समय में जानते हैं वह तो उनका एक ज्ञेय हुआ और उनका ज्ञान अगले समयों में भी उसही ज्ञेय पर रहता है, यह उनके ज्ञान की एकाग्रता है। इससे पाठक समझ गये होंगे कि पदार्थों के थोड़े या बहुत के जानने से एकाग्रता या उसका

अभाव नहीं होता किन्तु विषय से विषयान्तर जाने से एकाग्रता का अभाव होता है तथा यह बात केवली के सम्बन्ध में लागू नहीं होती अतः उनके ज्ञान में एकाग्रता का अभाव और फिर उससे केवली में ध्यान का अभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता! इससे प्रगट है कि ध्यान के साथ मनोपयोग की व्याप्ति नहीं। अतः इसही के आधार से केवली में मनोपयोग का प्रतिपादन युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता!

तेरहवें गुणस्थान में मनोपयोग वास्तविक है, यह हम अपने १४ वें लेख में बतला चुके हैं। अतः यहाँ अब उसके सम्बन्ध में लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। साथ ही साथ इसही लेख में हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि मनोयोग और मनोपयोग ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अतः सयोग केवली में मनोयोग का अस्तित्व और फिर आखीर में उसका अभाव होने पर भी इससे केवली में मनोपयोग सिद्ध नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आक्षेपक की दूसरी बात भी—केवली में ध्यान की मौजूदगी भी—केवली में मनोपयोग को प्रमाणित नहीं करती!

विरोध—विद्यानन्दिजी की इस कल्पना ने तो और भी दो आपत्तियाँ उपस्थित कर दी हैं। पहिली तो यह कि ध्यान का समय अन्तर्मुहूर्त न रह जायगा। अरहंत के अन्तसमय में ही ध्यान माना जाता है; परन्तु विद्यानन्दिजी की परिभाषा के अनुसार केवलज्ञान होने के बाद मरते समय तक ध्यान मानना पड़ेगा क्योंकि पूर्णचिन्ता—निरोध तो जीवन भर कहलाया। इतना ही नहीं, किन्तु इस दोष का दूसरा रूप यह भी होगा कि मुक्तात्माओं

के भी ध्यान मानना पड़ेगा क्योंकि सर्वदेश चिन्तानिरोध वहाँ भी कहलायगा। इस प्रकार एक बात का समन्वय करने की कोशिश में जैनागम की इस विषय की अनेक मान्यताओं को बदल देना पड़ेगा। यह अल्पफल बहुविघात होगा। जब नया ही मत उपस्थित करना हो तब इतने बखेड़े की क्या जरूरत है? सीधे कह देना चाहिये कि हम केवली के ध्यान ही नहीं मानते। मेरा कहना तो सिर्फ इतना ही है कि जैनशास्त्रों में केवली के ध्यान माना गया है और ध्यान की परिभाषा ऐसी है कि वह सर्वज्ञता को टिकने नहीं देती। जो जैनशास्त्रों की इन बातों को प्रमाण मानता हो, वह सर्वज्ञ नहीं मान सकता।

धूम और आग का अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः धूम के सद्भाव से ही आग का सद्भाव समझ लिया जाता है। ठीक यही बात मनोपयोग और योग के सम्बन्ध में है। जहाँ २ मनोपयोग है वहाँ २ योग भी अवश्य है। अतः मनोपयोग से योग का भी ज्ञान कर लिया जाता है। उपयोग और योग के इस सम्बन्ध को ही सामने रखकर ध्यान के लक्षण का निर्माण हुआ प्रतीत होता है। अतः चिन्ता निरोध का मानसिक उपयोग निरोध वाच्यार्थ होने पर भी इससे उपयोग निरोध के के साथ ही साथ योग निरोध को भी ले लेना चाहिये।

शुक्ल ध्यान के चारों भेदों के लक्षण भी हमारी इस व्याख्या का समर्थन करते हैं। इनमें से पहिले दो में उपयोग को चारों तरफ से हटाकर एक तरफ लगाया जाता है, तीसरे में योग के

क्षेत्र को कम किया जाता है और चौथे में उसको बिलकुल रोक दिया जाता है। इन चारों ध्यानों की व्याख्याओं से साफ है कि उपयोग चञ्चलता और योग इन दोनों के निरोध का नाम ध्यान है। चिन्तानिरोध में इसका किस प्रकार समावेश हो सकता है इसको हम ऊपर स्पष्ट कर ही चुके हैं।

ध्यान के लक्षण की यह व्याख्या एक ऐसी व्याख्या है जिस में आक्षेप को कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इसके अनुसार हम लोगों की तरह केवली में भी ध्यान घटित हो जाता है। हम में यदि उपयोग को लेकर ध्यान घटित किया जाता है तो केवली में योग को लेकर जिस प्रकार हममें उपयोग निरोध अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता उस ही प्रकार केवली में भी योग निरोध इतनी देर तक रह सकता है। अतः इसके अनुसार केवली में ध्यान की स्थिति की बाधा का प्रश्न भी नहीं उठाया जा सकता।

उपयोग चञ्चलता निरोध और योग निरोध ये दोनों ही एक देश और सर्वदेश किये जाते हैं। शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद में योग निरोध एक देश होता है, किन्तु शुक्ल ध्यान के चौथे भेद में यही सर्व देश हो जाया करता है। तीसरे भेद में योग निरोध करने पर भी सूक्ष्मकाययोग रह जाता है। अतः इसको एकदेश निरोध ही कहा जा सकता है किन्तु चौथे भेद में यह योग भी दूर हो जाता है। अतः यहां योग निरोध भी सर्व देश हो जाया करता है।

यही बात उपयोग चञ्चलता निरोध के सम्बन्ध में है। जब तक आत्मा सर्वज्ञ नहीं बनती तब तक यह एक देश रहता है किंतु

आत्मा के सर्वज्ञ हो जाने पर यही सर्व देश हो जाता है। इसकी विशद व्याख्या तथा इसके सम्बन्ध में आचार्य विद्यानन्दि का मत हम पूर्व ही उपस्थित कर चुके हैं।

आक्षेपक ने हमारे ध्यान सम्बन्धी कथन के सम्बन्ध में जो भी लिखा है उसमें केवल सारभूत ध्यान की स्थिति की बाधा दी है, शेष तो निरर्थक बातें हैं। इसका समाधान ऊपर किया ही जा चुका है। अतः स्पष्ट है कि केवली में ध्यान को किसी भी तरह से क्यों न स्वीकार किया जाय वह उनकी सर्वज्ञता में किसी भी प्रकार बाधक नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट है कि केवली में इसके आधार से भी सर्वज्ञता के अभाव की चर्चा व्यर्थ है।

केवली सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ नहीं जानते या यों कहिये कि केवली के मानसिक ज्ञान है, इस बात के समर्थन में आक्षेपक ने तीसरी बात केवली से प्रश्नोत्तर आदि की लिखी है। आपका कहना है कि जिस समय केवली किसी के प्रश्न का उत्तर देते हैं, किसी को धर्मोपदेश देते हैं, स्थान से स्थानान्तर जाते हैं और अपने मत का प्रचार करते हैं, उस समय उनका उपयोग इन्हीं बातों पर रहता है। पाठक आक्षेपक के इस अभिमत को विशदता के साथ जान सकें, अतः यहाँ हम उनके इस सम्बन्ध के वाक्यों को उद्धृत किये देते हैं—"जब कोई प्रश्न पूछता है तब वे (केवली) मन लगाकर उसकी बात सुनते हैं और मन लगा कर उसका उत्तर भी देते हैं। एक आदमी वर्षों तक देश-देश में विहार करता है, उपदेश देता है, अपने मत का प्रचार करता है, सब की शङ्काओं का समाधान करता है, किन्तु यह सब काम वह बिना

मन के करता है, ऐसा कहने वाला अन्धश्रद्धालुता की सीमा पर बैठा है, यही कहना पड़ेगा। इसलिये ऐसे मत का कुछ मूल्य न होगा।" आक्षेपक यह भी स्वीकार नहीं करते कि केवली अपने उपयोग को इन कार्यों के साथ ही साथ इनके अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञेयों पर ही रख सकते हैं, जिससे यह सब बातें उसकी सर्वज्ञता में बाधक न हो सकें। आक्षेपक का तो यही कहना है कि केवली का उपयोग इन-इन कार्यों के समय इन्हीं कार्यों पर रहता है जैसा कि आक्षेपक के निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट है—"यदि केवली के त्रिकाल त्रिलोक का युगपत् साक्षात्कार होता तो केवली का मन किसी अमुक व्यक्ति के उत्तर देने में कैसे लगता।" अब विचारणीय यह है कि क्या आक्षेपक का उपर्युक्त वक्तव्य युक्ति-युक्त है? इस बात के निर्णय के लिये निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है:—

१—क्या केवली प्रश्नोत्तर करते थे?

२—क्या जिस समय जिस बात का उत्तर दिया जाय या प्रतिपादन किया जाय अथवा ज्ञान किया जाय तो उस समय उस ही पर और इतने पर ही उपयोग का रहना अनिवार्य है?

केवली प्रश्नोत्तर करते थे, यह एक ऐसी बात है कि जिसके सम्बन्ध में श्वेताम्बरों के समान दिगम्बरों को भी कोई ऐतराज नहीं। दिगम्बरीय साहित्य में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं जिनसे केवली के साथ प्रश्नोत्तरों का होना प्रमाणित है। यदि इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बरों में कोई मतभेद है तो वह यही है कि दिगम्बर श्वेताम्बरियों की तरह केवली के उपदेश को केवल

प्रश्नोत्तर स्वरूप ही स्वीकार नहीं करते हैं। दिगम्बरियों का कहना है कि केवली प्रश्नों का उत्तर भी देते थे और प्रश्नों के बिना भी उपदेश देते थे। किसी भी धर्मप्रवर्तक के लिये यदि यह सम्भव नहीं कि वह बिना ही प्रश्नोत्तर किये अपने धर्म का प्रचार कर सकें तो उसके लिये यह भी एक असम्भव बात है कि वह प्रश्नोत्तर स्वरूप ही उपदेश देता रहे। ऐसे बहुत से अवसर आया करते हैं जहाँ कि किसी धर्मविशेष के सम्बन्ध में किसी को भी कोई जानकारी नहीं होती। ऐसी जगह यदि वह धर्मप्रवर्तक चला जाता है तो उसके लिये प्रश्नोत्तरों के बिना ही धर्मोपदेश देना अनिवार्य हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि किसी समय प्रश्न तो कुछ होता है और आत्मकल्याण का मार्ग कुछ और ही; ऐसी अवस्था में केवली यदि प्रश्नों का उत्तर देकर ही बन्द हो जायेंगे तो वह मोक्षमार्ग के उपदेशक भी न ठहर सकेंगे। तीसरी बात यह है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में बहुत से इस प्रकार के भी प्रश्न हैं जो कि प्रश्न रूप में ही उपस्थित नहीं किये जा सकते थे। इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक तीर्थङ्करों के प्रश्नोत्तरों का सम्बन्ध है वहाँ तक तो हमको इसमें कोई विरोध नहीं, किन्तु जब यह कहा जाता है कि वह केवल प्रश्नोत्तर ही करते थे तब ही मतभेद हो जाता है; और यह एक असम्भव बात भी है। अब विचारणीय यह है कि जिस समय केवली प्रश्नों को जानते या उत्तर देते अथवा प्रश्नोत्तर के बिना ही उपदेश देते थे उस समय उनका उपयोग केवल इन्हीं बातों पर रहता था या इनके अतिरिक्त जगत के अन्य समस्त पदार्थों पर भी। जहाँ कि शास्त्रकार केवली को प्रश्नो का उत्तर-

दाता या मोक्षमार्ग का उपदेशक बतलाते हैं वहीं सर्वज्ञ भी। तत्त्वार्थ सूत्र के मङ्गलाचरण को ही इसके प्रमाण में उपस्थित किया जा सकता है। इसमें केवली को सर्वज्ञ के साथ मोक्ष मार्ग का उपदेशक भी स्वीकार किया है*। यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही के लिये एक सा माननीय है। अतः स्पष्ट है कि शास्त्र दृष्टि से तो यह बात यों ही प्रमाणित होती है कि केवली उपदेश देते समय भी अपने उपयोग को जगत के सम्पूर्ण पदार्थों पर रखते थे। युक्ति भी इसी बात का समर्थन करती है। युक्ति के आधार से इस विषय पर विचार करने के लिये निम्नलिखित बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) स्थान से स्थानान्तर जाने में, प्रश्न मालूम करने या उत्तर देने में और व्याख्यान देने में मन को लगाने की क्या आवश्यकता है ?

(२) किसी भी कार्य को करते समय मन उस पर ही क्यों लगाना चाहिये ?

पहिली बात का उत्तर स्पष्ट है और ऐसा है जिसमें किसी को भी विरोध नहीं हो सकता। यदि चलते समय, प्रश्नोत्तर करते समय और व्याख्यान देते समय हम अपने ज्ञानोपयोग को इन बातों की तरफ नहीं रक्खेंगे तो यह भी सम्भव नहीं है कि हम इन कार्यों को कर सकें। कभी-कभी व्याख्यान सुनते समय थोड़ी देर के लिये ही उपयोग दूसरी तरफ चला जाता है किन्तु

---

* मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृत्ताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये ॥

उतनी ही देर में व्याख्यान के विषय का सम्बन्ध टूट जाता है। यही बात बोलने और चलने आदि के सम्बन्ध में है। अतः यह तो निश्चित है कि इन कार्यों को करते समय इन बातों पर ध्यान रखना अनिवार्य है।

ऐसा ही समाधान दूसरे प्रश्न का है। इसके सम्बन्ध में भी मतभेद नहीं है। यदि हम इन कार्यों को करते समय अपने ज्ञानोपयोग को इन पर ही नहीं रक्खेंगे और दूसरी तरफ ले जायंगे तो इन कार्यों को हम सफलता के साथ न कर सकेंगे। अतः इनको करते समय अपना ज्ञानोपयोग इन पर ही रखना होता है।

इन दोनों बातो से तो इतना ही मतलब निकलता है कि किसी भी कार्य के करते समय उस पर ज्ञानोपयोग का रहना अनिवार्य है। इस बात को तो हम केवली में भी स्वीकार करते हैं। हमने यह कब स्वीकार किया है कि केवली किसी भी कार्य को बिना ही ज्ञान के कर सकते हैं या कर लेते हैं। हममें और केवली में विहार और प्रश्नोत्तरादि के सम्बन्ध में ज्ञान और अज्ञानता भेद नहीं है। यह तो दोनों स्थानों पर ही समान है। हममें और केवली में तो उपयोग की विशालता और अल्पता का अन्तर है। केवली का उपयोग सर्व व्यापक है। अतः वह इन कार्यों के साथ अन्य विषयों में भी रहता है। हमारे उपयोग में इस बात का अभाव है, अतः वह सब पर नहीं रहता। आज जिन इन्द्रियों और मन की सहायता से हम पदार्थों को जानते हैं यदि इनका या इनसे होने वाले ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता तो एक विषय पर उपयोग रखने की बात हमारे सम्बन्ध में भी लागू न होती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हममें और केवली में विषय पर उपयोग रहने और न रहने के सम्बन्ध में अन्तर नहीं है किन्तु उपयोग की सर्व व्यापकता और अव्यापकता का भेद है। इसका कारण हमारे ज्ञान का इन्द्रियाधीन होना और उनके ज्ञान का इन्द्रिय निरपेक्ष होना है। यदि इससे आक्षेपक का यह तात्पर्य है कि हमारे ज्ञानोपयोग की बातें केवली के ज्ञान में भी होनी ही चाहिये तब तो सर्व प्रथम उनको यह सिद्ध करना था कि केवली का ज्ञान भी इन्द्रिय ज्ञान ही है। यह कैसे हो सकता है कि केवली के ज्ञान को इन्द्रियजन्य ज्ञान तो सिद्ध न किया जाय और उसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान की बातों की सम्भावना बतलाई जा सके। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवली के साथ प्रश्नोत्तरों का होना और उनका उपदेश करना आदि बातें भी उनमें सर्वज्ञता की—एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों के जानने की—बाधक नहीं हो सकतीं। केवली के एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान के अभाव को प्रमाणित करने के लिये आक्षेपक ने तीन बातें लिखी थीं, जिनमें से दो पर तो हम पहिले ही विचार कर चुके हैं तथा तीसरी पर इस लेख में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक की ये तीनों ही बातें केवली में एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान का अभाव प्रमाणित करनेमें कार्यकारी नहीं।

केवली और अन्य ज्ञान

आक्षेपक का कहना है कि केवली के केवलज्ञान ही नहीं होता, किन्तु अन्य ज्ञान भी होते हैं। केवली किसी समय मतिज्ञानी रहते हैं तो किसी समय केवलज्ञानी! आपका यह भी कहना है

कि यही मान्यता प्राचीन और युक्तियुक्त है ! आक्षेपक ने अपने इस वक्तव्य के समर्थन में निम्नलिखित बातें उपस्थित की हैं:—

(१) तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में इस बात का उल्लेख।

(२) केवली के द्रव्येन्द्रिय का सद्भाव।

(३) इसके अभाव में केवली के परीषहों के घटित न होने से।

(४) इसके अभाव में केवली के भोग और उपयोग के न होने से।

साथ ही आपने यह भी बतलाया है कि केवली में इस नवीन और युक्तिविरुद्ध बात की रक्षा के लिये उनमें निद्रा का अभाव स्वीकार किया गया है। अब विचारणीय यह है कि क्या आक्षेपक का उपर्युक्त वक्तव्य युक्तियुक्त है ?

आक्षेपक ने पहिली बात से इस मत की प्राचीनता एवं शेष बातों से इसकी युक्तियुक्तता के सिद्ध करने की चेष्टा की है ! आपका कहना है कि जब इस मत का उल्लेख सूत्रकार -मास्वामी ने ही अपने भाष्य में किया है, तब इसकी प्राचीनता में सन्देह ही क्या रह जाता है। केवली के द्रव्येन्द्रिय का सद्भाव तो सब को ही स्वीकार है, फिर उसके कार्य में ही क्यों आपत्ति होनी चाहिये ! केवली में ग्यारह परीषह और भोग और उपभोग भी माने गये हैं, तथा ये मतिज्ञान के बिना हो नहीं सकते, अतः केवली में इसका मानना भी अनिवार्य है ! आक्षेपक के इस कथन की प्राचीनता और युक्तियुक्तता के निर्णय के लिये निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है:—

(१) तत्त्वार्थसूत्र का प्रस्तुत भाष्य कितना प्राचीन है, तथा उससे क्या प्रमाणित होता है।

(२) क्या केवली के द्रव्येन्द्रियाँ कार्यकारी हैं ?

(३) केवली के परीषह और भोग और उपभोग का अस्तित्व का युक्तियुक्त है, यदि हां तो इनका प्रकृत विषय से क्या सम्बन्ध है ?

तत्वार्थसूत्र का प्रकृत भाष्य स्वोपज्ञ है, इसके समर्थन में अभी तक ऐसे प्रमाण नहीं मिले जिनसे कि इसको यथार्थ माना जा सके ! यदि इस बात के समर्थन में आक्षेपक के पास कुछ सामिग्री है तो वह उपस्थित करें ताकि उसकी यथार्थता और अयथार्थता पर विचार किया जाय ! जब तक यह प्रमाणित न हो जाय कि तत्त्वार्थसूत्र के प्रस्तुत भाष्यके रचयिता स्वयं सूत्रकार उमास्वामी हैं, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मतिज्ञानादिक के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों का मतोल्लेख सूत्रकार के समय से प्रचीन है !

सूत्रकार उमास्वामी केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्त्व स्वीकार नहीं करते, यह एक सर्वमान्य बात है। आचार्य कुन्दकुन्द आदिक प्राचीन आचार्यों की भी ऐसी ही मान्यता है। अतः आक्षेप का केवल ज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों के अस्तित्व को प्राचीन मान्यता बतलाना निराधार है।

अतः आक्षेपक का अपने वक्तव्य में प्राचीनता की बात लिखना बिलकुल निराधार है। इसके सम्बन्ध में आक्षेपक ने दूसरी बात युक्तियुक्तिता की लिखी है, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने

निम्नलिखित वाक्य प्रश्नोत्तर के रूप में लिखे हैं:—

प्रश्न—"किरणें तो केवलीकी आँखों पर भी पड़ती हैं, परन्तु भावेन्द्रिय न होने से उसका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता। भावेन्द्रिय तो क्षयोपशम से प्राप्त होती है, किन्तु केवली के सम्पूर्ण ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से क्षयोपशम नहीं हो सकता!"

उत्तर—भावेन्द्रिय और कुछ नहीं है वह द्रव्येन्द्रिय के साथ सम्बन्ध पदार्थ को जानने की शक्ति है। वह ज्ञान गुण का अंश है। क्षयोपशम अवस्था में वह अंश ही प्रगट हुआ था किन्तु क्षय होने पर उस अंश के साथ अन्य अनन्त अंश भी प्रगट हो गये। इसका यह अर्थ कैसे हुआ कि क्षयोपशम अवस्था में जो अंश प्रकट था वह अब लुप्त होगया है। क्षयोपशम अवस्था में जो अंश प्रकट था, क्षय अवस्था में भी प्रकट रहेगा। यदि यह अप्रकट हो जायगा तो उसको अप्रकट करने वाले घातक कर्म का सद्भाव मानना पड़ेगा परन्तु जिसके ज्ञानावरण का क्षय हुआ है, उसके ज्ञानघातक कर्म कैसे होगा? इसलिये केवली को आँखों से जानने की शक्ति का घात नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार केवली के आँखें भी हैं और जानने की पूर्ण शक्ति भी है तब आँखों से दिखना कैसे बन्द हो सकता है? एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

एक मनुष्य मकान में बैठा हुआ गवाक्ष (खिड़की) में से एक तरफ का दृश्य देख रहा है; अन्य दिशाओं में दीवालें होने से वह अन्य दिशाओं के दृश्य नहीं देख पाता। इतने में कल्पना करो कि किसी ने दीवालें हटा दीं। अब वह चारों तरफ

से देखने लगा। इस अवस्था में खिड़की तो न रहीं, परन्तु जिस तरफ खिड़की थीं उस तरफ से अब भी देख सकता है। इसी प्रकार ज्ञानावरण के क्षय होजाने से क्षयोपशम के द्वारा जो देखने की शक्ति प्रकट हुई थी वह नष्ट नहीं होसकती। बल्कि उसकी शक्ति बढ़ जाती है। अब वह अपनी आंखों से और भी अच्छी तरह देख सकता है।"

जिस प्रकार मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षी गुण को बिकारी बनाता है, उस प्रकार ज्ञानावरणी नहीं; किन्तु यह तो उसके प्रकाश को रोकता है। इससे यह बात प्रकट होजाती है कि जितने अंश में ज्ञानावरणी कर्म का उदय है उतने अंश में तो ज्ञान का अभाव है, किन्तु जितने अंश में ज्ञान है वह आत्मा का निज-रूप है।

ज्यों-ज्यों ज्ञानवरणी कर्म का अभाव होता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान का भी विकाश होता जाता है। ज्ञान के विकाश की भिन्न २ अवस्थाओं के ही मतिज्ञानादिक नाम हैं! जिस समय ज्ञान पूर्ण विकाश को प्राप्त हो जाता है उस समय इसको केवलज्ञान कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की पूर्ण विकसित अवस्था में उसकी पहिली २ दशायें भी रहती हैं, अतः जहाँ तक क्षायिक अवस्था के ज्ञान के समय क्षायोपशमिक अवस्था के ज्ञान के अस्तित्व की गत है वहाँ तक तो हम आक्षेपक से सहमत हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस समय भी वह क्षायोपशमिक ही है या उनको क्षायो-पशमिक ही कहना चाहिये। इस समय तो वह क्षायिक है। इस समय तो ज्ञान के अन्य आवरणों के समान उनका भी क्षय हो जाता है।

ज्ञान की पूर्ण विकसित अवस्था में उसकी अल्पविकसित अवस्था का सद्भाव मान कर भी यह आवश्यक नहीं है कि उसको ऐंद्रिय ज्ञान ही स्वीकार किया जाय। एसातो तब ही होसकता था जबकि उसको इन्द्रिय की सहायता आवश्यक होती। द्रव्येन्द्रियाँ ज्ञान को लब्धि से उपयोग में लाती हैं अतः ये उसकी सहायक कहलाती हैं। क्षायिक अवस्था में ज्ञान प्रारम्भ से ही उपयोगात्मक रहता है, अतः उसके सम्बन्ध में उपयोगात्मक होने की चर्चा ही निरर्थक है। जबकि ज्ञान ही उपयोगात्मक रहता है तब उसको उपयोगात्मक करने के लिये इन्द्रियों की भी आवश्यकता नहीं है। अतः द्रव्येन्द्रिय के सद्भाव से ही या इन्द्रियों पर किरणों के प्रभाव से ही इन्द्रिय ज्ञान का अस्तित्व नहीं माना जासकता।

प्रश्न—आपकी बात स्वीकार कर लेने पर भी तो यह बात सिद्ध होती है कि क्षायोपशमिक ज्ञान से क्षायिकज्ञान अधिक सूक्ष्म एवं बलशाली है! फिर वह उसके भी कार्य को क्यों नहीं करता?

उत्तर—हमने यह कहाँ कहा है कि क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा हम जिस बात को जानते थे, उसको क्षायिक के द्वारा नहीं जान सकते! हम इस बात को तो खुले दिल से स्वीकार करते हैं कि जिसको हम क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा जानते थे उसही को क्षायिक के द्वारा अवश्य जानते हैं। अन्तर केवल साधनमार्ग में है। जिसको हम ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था में इन्द्रियों की सहायता से जानते हैं! उसही को ज्ञान की क्षायिक अवस्था में बिना ही इन्द्रियों की सहायता से जान लेते हैं। एक मनुष्य की आंखों की नजर कम पड़ गई है और वह चश्मे की सहायता से

जानता है। यदि उपचार विशेष से उसकी आंखों की नजर बिलकुल ठीक हो जाती है और यह चश्मे की सहायता को नहीं लेता तो इसका यह मतलब नहीं कि वह अब वह चीज नहीं देखता जो कि चश्मे की सहायता से देखता था, किन्तु यह है कि चीज तो वही देखता है, किन्तु निर्बलता से जिस चश्मे की सहायता आवश्यक हो गई है, अब उसके दूर होजाने से वह आवश्यक नहीं रही।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि आक्षेपकका केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों के अस्तित्व को द्रव्येन्द्रिय के अस्तित्व के आधार से युक्तियुक्त बतलाना मिथ्या है।

विरोध—यदि ज्ञानगुण के सौ अंश कल्पित किये जाँय और उसमें मतिज्ञानका १, श्रुतज्ञानके २, अवधि के ३, और मनःपर्यय के ४ अंश मान लिये जाँय तो केवलज्ञान के ९० अंश रहेंगे इसलिये केवलज्ञानावरण कर्म ९० अंश का घात करेगा। जिस समय ज्ञानावरण का पूर्ण घात हो जायगा उस समय १०० अंश प्रकट होंगे। परन्तु केवलज्ञान तो ९० अंशों का ही बना है, इसलिये बाक़ी दस अंशों का चार ज्ञानों के रूप में पृथक् अस्तित्व होना चाहिये, क्योंकि वे दस अंश ९० अंशों से जुदे हैं। इसलिये आक्षेपक की इस बात का खण्डन होजाता है कि चार ज्ञानों का केवलज्ञान से पृथक् अस्तित्व नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान के १०० अंश है और केवलज्ञान के भी १०० अंश हैं, उसी में से १० अंश मतिज्ञानादिक कहलाते हैं, तब इसका मतलब यह होगा कि ज्ञानावरण के मतिज्ञानावर-

णादि चार भेदों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि केवलज्ञानावरण ज्ञान के पूरे के पूरे १०० अंशों का घात करता है। तब मतिज्ञानावरणादि बैठे-बैठे क्या करेंगे ? मतलब यह है कि जब मतिज्ञानवरणादि ज्ञानावरण कर्म के स्वतंत्र भेद हैं तब उनका स्वतंत्र कार्य भी होना चाहिये, जो केवलज्ञानावरण कर्म नहीं कर सकता। यदि मतिज्ञानावरण का स्वतंत्र कार्य है तो उसके नाश से भी स्वतंत्र उद्‌भूति है जो केवलज्ञान से भिन्न है। इसलिये केवलज्ञान के प्रकट होने पर चार ज्ञानों के स्वतंत्र अस्तित्व का अभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिये एक साथ पाँच ज्ञानवाली मान्यता ही ठीक है।

परिहार—हम ज्ञान के तथा केवलज्ञान के समान ही अंश मानते हैं अतः हमारी मान्यता के सम्बन्ध से पहिली बाधा उपस्थित ही नहीं होती। अब रह जाती है मतिज्ञानावरणादिक चार ज्ञानावरणों की व्यर्थताकी बात। हम केवल ज्ञानावरण तथा शेष चार ज्ञानावरणों में ऐसा ही सम्बन्ध मानते हैं जैसाकि मतिज्ञानादिक चार ज्ञानोंमें से किसी भी ज्ञानके देशघाति और सर्वघाति आवरणों में है। इनमें से किसी भी ज्ञान का देशघाति-आवरण उसके उसही भाग को आवरण करता है, जिसको उसका सर्वघाति आवरण भी करता है। उदाहरण के लिये अवधिज्ञान के देशघाति और सर्वघाति आवरणों को लिया जा सकता है। ये दोनों ही अवधिज्ञान को रोकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इनमें से एक पूर्ण अवधि को रोकता है तथा दूसरा उसके किसी भाग विशेष को रोकता है। अवधिज्ञान के भागविशेष को रोकने वाला

अवधिज्ञानावरण भी उसके उसी भागको रोकता है, जिसको उसका सर्वघाति आवरण रोकता है। यदि इसको और भी स्पष्ट करना चाहें तो यों कह सकते हैं कि किसी दीवाल में एक सूराक है तथा उसके दो ढकन हैं। इनमें से एक सूराक के पूरे हिस्से को ढकता है तो दूसरा उसके भागविशेष को ढकता है, किन्तु यह बिलकुल साफ़ है कि सूराक के भागविशेष को ढकने वाला भी ढकन उसके उसही भाग को ढकता है, जिसको उसका दूसरा ढकन ढकता है। इन दोनों दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि छोटा ढकन तथा चार ज्ञानों में से किसी भी ज्ञान का देशघाति आवरण उसही बात को रोकता है जिसको बड़ा ढकन या उसका सर्वघाति अंश ढकता है। ऐसी दशा में इनको जाति से बाहर नही किया जा सकता। ठीक यही दशा ज्ञानावरणों की है।

इससे स्पष्ट है कि सर्वघाति अवधिज्ञानावरणों के घाते हुए अंश को घातने पर भी उसके देशघाति आवरण को व्यर्थ नहीं माना जाता। इसही प्रकार केवलज्ञानावरण से घाते हुए अंश को घातने पर भी मतिज्ञानादि के आवरणों को व्यर्थ नहीं माना जा सकता। यदि केवलज्ञानावरण और मतिज्ञानावरण एक ही ज्ञान के घातक न होते तब केवलज्ञान की उत्पत्ति में केवलज्ञानावरण के समान अन्य ज्ञानावरणों के क्षय की आवश्यक न होती, किन्तु ऐसा होता है। जहाँ भी केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है वहां केवल केवलज्ञानावरण के नाश का ही उल्लेख नहीं किया गया है,* किन्तु सम्पूर्ण ज्ञानावरण के नाश का उल्लेख

---

* मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १०-१

किया गया है। अतः हमारी प्रस्तुत मान्यता के सम्बन्ध में चार ज्ञानावरणों की व्यर्थता की चर्चा भी व्यर्थ है।

केवली के केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञान न मानने में आक्षेपक ने एक आपत्ति परीषहों के अभाव की उपस्थित की है। आपका कहना है कि केवली में यदि मतिज्ञानादिक न माने जायंगे तो उनके परीषह भी घटित न हो सकेंगी। केवली के परीषह स्वीकार की गई हैं। अतः उनके मतिज्ञानादिक भी मानने ही चाहियें। पाठक आक्षेपकके इस सम्बन्धी अभिप्राय को दृढ़ताके साथ जान सकें अतः यहाँ हम उनके ही वाक्यों को उद्धृत किये देते हैं—"अगर हम केवली के इन्द्रिय ज्ञान न मानेंगे तो केवली के जो ग्यारह परीषह मानी जाती हैं वे भी सिद्ध न होंगी। केवली के ग्यारह परीषहों में शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषह हैं। यदि केवली की इन्द्रियाँ बेकार हैं तो उनकी स्पर्शन इन्द्रिय भी बेकार हुई। तब शीत उष्ण की वेदना या डांस मच्छर को वेदना किस इन्द्रिय के द्वारा होगी।"

अब विचारणीय यह है कि क्या केवली के परीषह स्वीकार की गई है? यदि हाँ; तो वह किस दृष्टि से और इसका प्रकृत विषय पर क्या प्रभाव है?

केवली में परीषहों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये तत्त्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय का ग्यारहवां सूत्र उपस्थित किया जाता है* और आक्षेपक ने भी ऐसा ही किया है। इस सूत्र के सम्बन्ध में

---

* एकादश जिने। —तत्त्वार्थसूत्र ९–११

दिगम्बर सम्प्रदाय की तरफ से निम्नलिखित दो बातें उपस्थित की जाती हैं:—

(१) विवादस्थ ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती हैं तथा केवली के वेदनीय कर्म मौजूद है। कारण की दृष्टि से यह भी कह दिया जाता है कि केवली के ग्यारह परीषह हैं अतः केवली के परीषहों का वर्णन औपचरिक है।

(२) विवादस्थ सूत्र में न परीषहों का विधायक ही कोई शब्द है और न निषेधक ही। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव में भी यदि इस सूत्र को केवली के परीषहों के अस्तित्व में घटित किया जा सकता है तो अभाव समर्थन में क्यों नहीं ? इस प्रकार का कार्य इसही सूत्र की विग्रह के द्वारा किया जा सकता है। विवादस्थ सूत्र के एकादश शब्द के अंशों को यदि भिन्न २ कर दिया जाय तो वह "एक + अ + दश" इस रूप में आ जाता है। इनमें से एक का अर्थ एक और अ का अर्थ अभाव है। इसही प्रकार दश का अर्थ दश है। समुदाय दृष्टि से इसही का अर्थ निकलता है कि एक से अधिक अधिक दश—ग्यारह—नहीं हैं। इस अर्थ के साथ यदि विवादस्थ सूत्र के शेष अंश "जिने" को भी जोड़ दिया जाय तो भाव बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है और इस रूप में आजाता है कि केवली में ग्यारह परीषह नहीं हैं।

हमारे इन दोनों वक्तव्यों में से पहिले वक्तव्य के निराकरण में आक्षेपक ने निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं:—"वेदनीय कर्म का उदय बतलाने के लिए परीषहों के कहने की क्या जरूरत है ? जब परीषह वहाँ नहीं होती तब क्या परीषहों का अभाव बतला

कर कर्म का उदय नहीं बतलाया जा सकता। दशवें गुणस्थान में चारित्र मोह का उदय तो है, परन्तु वहाँ चारित्र मोह के उदय से होने वाली सात परीषहों का अभाव बतलाया गया है। इससे मालूम होता है कि कर्म का उदय होने से ही परीषहों का सद्भाव नहीं बताया जाता, किन्तु जब वे वास्तव में होती हैं तभी उनका सद्भाव बताया जाता है। तेरहवें गुणस्थान में वे परीषह वास्तव में हैं, इसलिये वहाँ बताई गई हैं।"

दशवें गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसाम्पराय है। साम्पराय से तात्पर्य कषाय से है और वह यहाँ सूक्ष्म रूप से रहती है, अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। सूक्ष्म कषाय भी यहाँ सब प्रकार की नहीं रहती, किन्तु केवल संज्वलन लोभ ही रहता है। चारित्र मोहिनीय कर्म के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री आदि सात परीषह बतलाई हैं। ये सातों परीषहें संज्वलन के सूक्ष्मलोभ के उदय से नहीं होतीं, किन्तु कषाय के अन्य भेद और प्रभेदों के उदय से होती हैं। कषाय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यदि कोई बात कषाय के उदय से होती है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि वह कषाय के हर एक भेद और प्रभेद के उदय से होती है। ज्ञानावरणी कर्म का बंध भी कषाय से होता है। इस ही प्रकार वेदनीय और नाम आदि कर्मों का भी। किन्तु वह कषाय जो ज्ञानावरणी कर्म के बंध का कारण है एक भिन्न जाति की है और वह जो दूसरे कर्मों के बन्ध का कारण है एक भिन्न जाति की। इससे प्रगट है कि दशवें गुणस्थान में चारित्र मोह का उदय होने पर भी उस जाति के चारित्र मोह का उदय नहीं है

जिससे परीषह होती हैं। अतः आक्षेपक का लिखना कि "दशवें गुणस्थान में चारित्र मोह का उदय तो है, परन्तु वहाँ चारित्र मोह के उदय से होने वाली सात परीषहों का अभाव बतलाया गया है; इससे मालूम होता है कि कर्म का उदय होने से ही परीषहों का सद्भाव नहीं बताया जाता" मिथ्या है। अब रह जाता है केवली में परीषहों के वास्तविक अस्तित्व का प्रश्न। परीषह से तात्पर्य यहाँ केवल वेदनीय कर्म के फल से ही नहीं है, किन्तु वेदनीय कर्म के फल के निमित्त से होने वाली वेदना से है। स्पष्टता के लिए यों समझियेगा कि एक व्यक्ति है जिसको बुखार का ठहरना—तपेदिक की प्राथमिक अवस्था—शुरू हो गया है, किन्तु उसको इसका पता नहीं है। इस मनुष्य की यह अवस्था असातावेदनीय का फल तो अवश्य है, किन्तु इसको उसकी दृष्टि से रोग-परीषह नहीं कह सकते। रोग परीषह तो यह तब कहला सकती थी जब वह इससे वेदना का अनुभव करता तथा जब वह ऐसा करने लगता है तभी यह उसके लिए रोगपरीषह हो जाती है। तपेदिक़ की पहिली अवस्था में इस प्रकार की घटना का होना एक साधारण बात है। यही बात वेदनीय कर्म के उदय से होने वाली अन्य परीषहों के सम्बन्ध में भी घटित कर लेनी चाहिये।

तत्त्वार्थ सूत्र में परीषह जय को संवर के कारणों में गिनाया है*। संवर आश्रव के विपरीत है†। इस ही प्रकार संवर के कारण भी आश्रव के कारणों से उल्टे हैं। परीषह जय यदि संवर

---

* तत्त्वार्थसूत्र ९–२।

† आश्रव निरोधः संवरः। —तत्त्वार्थ सूत्र ९–१

का कारण है या यों कहिये कि यदि इससे संवर होता है तो परीषह से आश्रव का होना अनिवार्य है। आश्रय के कारणों में ऐसी कोई भी बात नहीं जो केवल वेदनीय कर्म ही का फल हो, प्रत्युत वहाँ तो ऐसी बातें हैं जिनका स्पष्ट सम्बन्ध आत्मगुणों की वैभाविक अवस्था से है या यों कहिये कि वे आत्मगुणों की वैभाविक अवस्थायें ही हैं। आश्रव और बन्ध, चाहे इनको द्रव्याश्रव और द्रव्यबन्ध में घटित कीजिये या भावाश्रव और भाव बन्ध में, पूर्वोत्तर अवस्था स्वरूप या उनके कारण हैं। जो पहिले समय में द्रव्याश्रव स्वरूप हैं वे ही दूसरे समय में द्रव्यबन्ध स्वरूप हो जाते हैं। प्रति समय में ये बातें होती रहती हैं। जो कर्म वर्गणायें पहिले समय में द्रव्याश्रव के रूप में थीं, वे ही अभी द्रव्यबन्ध की अवस्था में हैं। इस ही प्रकार जो अभी द्रव्याश्रव की अवस्था में हैं वे ही अगले समय में द्रव्यबन्ध की अवस्था में हो जायँगी। ये दोनों बातें आत्म परिणामों के निमित्त से होती हैं, अतः उनको भी भावाश्रव और भावबन्ध दोनों ही प्रकार से स्वीकार किया गया है। अतः आश्रव और बन्ध के कारण आत्मपरिणामों में कोई अन्तर नहीं है। यही बात है जिससे जिनको एक आचार्य ने बन्ध का कारण स्वीकार किया है,$ उन ही को दूसरे ने आश्रव का कारण बतलाया है¶। बात एक ही है केवल दृष्टिकोण में

$ मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाययोगाः बन्धहेतवः।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८-१

¶ मिच्छत्ताविरदि पमादजोगकोहादओ थ विण्णेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदादु पुव्वस्स॥

—द्रव्यसंग्रह गाथा ३०

अन्तर है। मिथ्यादर्शनादि में से आप किसी में भी परीषह को रखिये, उसको वेदना स्वरूप ही स्वीकार करना होगा।

वेदनीय कर्म अघातिया कर्म है, अतः उसका फल भी शरीरादिक पर ही पड़ सकता है न कि जीव के अनुजीवी गुणों पर। अतः इस दृष्टि से भी केवल वेदनीय के फल को ही परीषह स्वीकार नहीं किया जा सकता! इन सब बातों को स्पष्ट करने के लिए ही आचार्य अकलङ्क ने परीषह के दो भेद किये हैं। एक द्रव्य-परीषह और दूसरी भावपरीषह। उक्त आचार्य ने द्रव्यपरीषह से वेदनीय कर्म के उदय को लिया है और भावपरीषह से तज्जन्य वेदना को°। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं, स्वयं आक्षेपक ने भी परीषह शब्द का प्रयोग वेदना के अर्थ में ही किया है, जैसा कि उनके निम्नलिखित शब्दों से प्रगट है— "तब शीत, उष्णकी वेदना या डांस, मच्छरकी वेदना किस इन्द्रिय के द्वारा होगी।"

इस प्रकार की वेदना मोहनीय कर्म का कार्य है। यदि ऐसा न होता तो परीषह को आश्रव के कारणों में और परीषह जय को संवर के कारणों में स्वीकार करना नितान्त असम्भव था। मोहनीय कर्म का केवली के अभाव है या यों कहिये कि केवली ही मोहनीय कर्म के अभाव से होते हैं *। केवली के जब मोह-

---

° क्षुदादि वेदनाभाव परीषहाभावेऽपिवेदनीय कर्मोदय द्रव्य परीषह सद्भावात्। —राजवार्तिक ६–११

* मोह क्षयाज्ज्ञान दर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलं।
—तत्त्वार्थ सूत्र १०—१।

नीय कर्म ही शेष नहीं हैं तब उनके उसके निमित्त से होने वाली परीषहों को भी किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ केवली के मोहनीय कर्म का अभाव है, वहीं उनके वेदनीय कर्म का सद्भाव है, वेदनीय कर्म इन ग्यारह परीषहों का कारण है। अतः मोहनीय कर्म के अभाव से वास्तविक परीषहों के अभाव में भी वेदनीय कर्म के अस्तित्व से उपचरित परीषहों को स्वीकार किया गया है। यही बात महर्षि अकलङ्क ने निम्नलिखित वाक्य से बिलकुल स्पष्ट कर दी है:—"तथा क्षुधादि वेदनाभाव परीषहाऽभावेऽपि वेदनीय कर्मोदय द्रव्यपरीषह सद्भावात् एकादश जिने सन्तीत उपचारो युक्तः" † अर्थात् भूख आदि की वेदना स्वरूप भाव परीषहों के अभाव में वेदनीय कर्म के उदयस्वरूप द्रव्यपरीषहों के रहने से केवली में ग्यारह परीषहों का उपचार किया जाता है।

केवली में परीषहों का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर न तो वे अनन्त बली ठहरते हैं और न अनन्तसुखी ही। जिस समय मनुष्य को भूख की वेदना सताती है उस समय न तो वह सुखी ही रहता है और न बलवान ही। केवली को अनन्तसुखी के साथ अनन्त बली भी स्वीकार किया गया है। अतः यह आपत्ति भी केवली में वास्तविक परीषहों के अभाव को पुष्ट करती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तत्वार्थ सूत्र के विवादस्थ

---

† तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६—११।

सूत्र के सम्बन्ध में हमारा पहिला वक्तव्य युक्तियुक्त है और आक्षेपक ने उस पर जो आपत्ति उपस्थित की थी वह मिथ्या है।

विवादस्थ सूत्र सम्बन्धी हमारे दूसरे वक्तव्य के सम्बन्ध में आक्षेपक ने निम्नलिखित तीन आपत्तियाँ उपस्थित की हैं:—

(१) इस सूत्र का निषेधपरक अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस सम्बन्ध के इससे पहिले सूत्रों का अर्थ विधिपरक है।

(२) विवादस्थ सूत्र के 'एकादश' शब्द का "ग्यारह नहीं" अर्थ तब किया जा सकता था जब कि ग्यारह अर्थ के लिये 'एकदश' शब्द प्रयोग में आता और सूत्र में एकादश शब्द होता है।

(३) निषेधपरक अर्थ करने से भी केवली के ग्यारह परीषहों का अस्तित्व ही सिद्ध होता है। कुल बाइस परीषहें हैं जिनमें से यह सूत्र केवली में ग्यारह का अभाव बतलाता है, इसका तात्पर्य ही यह है कि शेष ग्यारह उनमें रहती हैं।

दिगम्बराचार्यों ने विवादस्थ सूत्र का यदि निषेधपरक ही अर्थ किया होता तब तो यह आपत्ति उपस्थित की जासकती थी कि यहाँ विधिपरक अर्थ का प्रकरण है, फिर निषेधपरक अर्थ क्यों किया जाता है? उक्त आचार्यों ने तो विधिपरक भी अर्थ किया है। निषेधपरक अर्थ करके तो उन्होंने एक दृष्टिकोण का प्रदर्शन ही किया है। उक्त आचार्यों का अभिप्राय यह है कि यदि अर्थ को करते समय उपचार दृष्टि को लिया जायगा तब तो विधिपरक अर्थ ही ठीक बैठता है किन्तु जब निश्चय दृष्टि को सामने रक्खा जावेगा तब तो निषेधपरक अर्थ ही युक्तियुक्त हो सकता है। अतः इस सम्बन्ध में आक्षेपक की पहिली आपत्ति मिथ्या है।

ग्यारह का वाचक एकदश शब्द होता और विवादस्थ सूत्र में एकदश शब्द का प्रयोग किया गया होता तो ऐसी अवस्था में आक्षेपक यदि विवादस्थ सूत्र का अर्थ निषेधपरक कर सकते थे तो वह ग्यारह के लिये एकादश शब्द के रहने पर और इस ही शब्द के विवादस्थ सूत्र में आने पर भी हो सकता है।

ग्यारह का वाचक एकदश शब्द हो या एकादश, इससे यहाँ अर्थ में अन्तर की गुञ्जायश नहीं है। ग्यारह का वाचक एकदश शब्द होता और सूत्र में एकादश शब्द प्रयोग में लाया गया होता तब भी "अ" निकाला जा सकता था और ग्यारह के वाचक और विवादस्थ सूत्र में एकादश शब्द के रहने पर भी। व्याकरण के सिद्धान्तानुसार अक् प्रत्याहार को सवर्ण सामने रहने पर दीर्घ होता है ¶। यह बात दोनों ही हालतों में समान है। हर एक अवस्था में एक और अदश से ही एकादश बनता है।

इस सम्बन्ध में आक्षेपक का लिखना कि "व्याकरण की दृष्टि से इस पर जितना विचार किया जाय 'एकादश' का ग्यारह नहीं अर्थ निकालना उतना ही असङ्गत होगा" केवल कथन मात्र है। आपने इस सम्बन्ध में कोई युक्ति उपस्थित नहीं की। अतः विवादस्थ सूत्र के सम्बन्ध में आपकी दूसरी आपत्ति भी मिथ्या है।

विवादस्थ सूत्रका अर्थ यदि ग्यारह परीषहों का अभाव स्वीकार कर लिया जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि बाईस में से ग्यारह का अभाव किया जा रहा है, किन्तु वेदनीय कर्म के

¶ अकः सवर्णे दीर्घः।—कौमुदी।

उदय से होने वाली परीषहों के अभाव से है। इनके अतिरिक्त शेष ग्यारह परीषहों का अभाव तो केवली में उनके कारण कर्मों के अभाव से सुनिश्चित ही है। विवाद यदि हो सकता था तो वह केवल इन ही ग्यारह के सम्बन्ध में हो सकता था! जिस बात की सम्भावना ही नहीं, उसका अभाव तो इस ढङ्ग से वृत्तिकार भी नहीं करते, सूत्रकार की तो बात ही क्या है? अतः विवादस्थ सूत्र के अर्थके सम्बन्धमें आक्षेपक की तीसरी आपत्ति भी मिथ्या है! उपर्युक्त विवेचन का निम्निलिखित परिणाम निकलता है:—

(१) परीषह केवल वेदनीय का ही कार्य नहीं, किन्तु उसके लिये मोहनीय का निमित्त भी अनिवार्य है।

(२) मोहनीय कर्म का केवली में अभाव है।

(३) तत्त्वार्थ सूत्र के विवादस्थ सूत्र का निषेधपरक अर्थ भी किया जा सकता है और इसका सम्बन्ध वेदनीय के उदय से होने वाली परीषहों से है।

इससे स्पष्ट है कि केवली में निश्चय दृष्टि से परीषहों का अभाव है। जहाँ कहीं भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है वह उपचार दृष्टि से है। जब कि केवली में निश्चय दृष्टि से परीषहों का अस्तित्व ही नहीं तब फिर परीषह के अभावरूप आपत्ति भी ठीक नहीं। जिस बात को युक्तियुक्त समझा जा रहा है उस ही को आपत्ति स्वरूप बतलाना युक्ति सङ्गत नहीं। अतः इस दृष्टि से भी केवली में केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विरोध—कर्म का उदय है तो बना रहे, परन्तु जब वह ऐसा

नहीं है कि परिषहों को पैदा कर सके, तब उसके होने से परिषहों का अस्तित्व बताने की क्या आवश्यकता है? दसवें गुणस्थान में भी चारित्र मोह है, परन्तु वह ऐसा नहीं है कि परिषहों को पैदा कर सके, इसलिये वहां उन परिषहों का अभाव बता दिया गया। उसी प्रकार यहाँ भी बता देना चाहिये था। दसवें गुणस्थान में जैसे उपचार की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही यहाँ भी नहीं है, फिर यहाँ परिषहोंका अस्तित्व क्यों बताया? इससे तो मेरे पक्षका और भी अधिक समर्थन हुआ। जब असातावेदनीय का फल मिल जाने पर भी परिषहें नहीं होतीं, तब केवली के सिर्फ असातावेदनीय के उदय से ही परिषहों के उपचार की आवश्यकता नहीं हो सकती। इसलिये वहाँ परिषहों का वास्तविक सद्भाव मानना चाहिये।

परिषह-जय संवर का कारण है, इससे परिषह का अजय अर्थात् नहीं जीतना आश्रव का कारण सिद्ध हुआ, न कि परिषह। यदि आचार्य ने अपरिषह को संवर का कारण कहा होता तो परिषह को आश्रवका कारण कहा जा सकता है। परिषह-जय का उल्टा परिषह करके आक्षेपक ने आश्चर्यजनक भूल की है। शीत, उष्ण आदि की वेदना होनेपर एक आदमी अपने परिणामों को कषायाविष्ट नहीं करता, यह परिषह-जय कहलाया। इससे संवर होगा। दूसरा आदमी वेदनासे कषायाविष्ट हो जाता है; वह कहलाया परिषह का अजय। इससे आश्रव होगा। एक क्षमाधर्मी व्यक्ति को कोई तमाचा मारे, या चाकू वगैरह से उसका अङ्ग काटे तो इसका यह मतलब नहीं कि उसको कोई

वेदना न होगी। संयमी होने का अर्थ लक़वा मार जाना नहीं है, किन्तु वेदना को शान्ति से सहन करना, परिणामों को शान्त रखना है। वेदना तो संयमी असंयमी दोनों को होगी, परन्तु परिणामों में अन्तर होगा, और उसी से एक को आश्रव और दूसरे को संवर होगा। परिषह को आश्रव का कारण कह देना बहुत अधिक भोलापन है।

वेदनीय कर्म का असर शरीरादिक पर पड़ता है, यह कहकर आक्षेपक ने पाठकों को भुलाया है। वेदनीय कर्म शरीरविपाकी या पुद्गलविपाकी प्रकृति नहीं है कि उसका असर शरीरादिक पर कह दिया जाय। वह जीवविपाकी प्रकृति है इसलिये मुख्य-रूप से उसका असर जीव पर पड़ता है। इसलिये वेदना उसका फल कहलाया। इसीलिये तो वह जीवविपाकी प्रकृति है। आक्षेपक को इस साधारण बात का ख़याल अवश्य रखना चाहिये। हाँ, वेदनीय कर्म वेदना पैदा करके भी सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान आदि पर असर नहीं डाल सकता। इसके लिये मोहनीयादि कर्म हैं।

वेदना को मोहनीय कर्म का कार्य समझना एक बड़ी भूल है, जिसने अन्य भूलों को पैदा किया है। ऊपर मैं तमाचा वगैरह का उदाहरण देकर समझा आया हूं कि वेदना मोहनीय कर्म के उदय से नहीं होती। इसलिये मोहनीय कर्म के चले जाने पर भी केवली के वेदना होगी, इसलिये उनके वास्तविक परिषहों का सद्भाव है। उपचरित कहना कुकल्पना ही है।

यदि वेदना को मोहनीय कर्म का फल कहा जाय तो ग्यारहवें

और बारहवें गुणस्थान में भी इस वेदना का अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ भी मोहनीय कर्म का उदय नहीं है, तब इन गुणस्थानों में चौदह परिषहों का सद्भाव क्यों बताया गया ? दूसरी बात यह है कि जब वेदना का संबंध मोहनीय से है, तब वेदनीय के उदय से ग्यारह परीषह कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? इसलिये केवली के वास्तविक परीषहें ही सिद्ध हुईं और उनके सद्भाव से मतिज्ञान सिद्ध हुआ। दशवें गुणस्थान में चारित्रमोह अवश्य है किन्तु वह सूक्ष्मलोभके रूप में है। चारित्र-मोह के उदय से होनेवाली परीषहों में एक भी ऐसी परीषह नहीं है जो सूक्ष्म लोभ के उदय से होती हो। अतः यह कहना कि दशवें गुणस्थान में चारित्रमोह के उदय से होने वाली परीषहों का कारण मौजूद है ,निराधार है। तेरहवें गुणस्थान में बतलाई गई परीषहों का कारणभूत कर्म मौजूद है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार का औपचारिक वर्णन तेरहवें गुणस्थान में ही संभव है। होना और मिलने में महान् अन्तर है। बहुत सी चीजें हो तो जाती हैं, किन्तु मिलती नहीं हैं। यही बात वेदनीय कर्म के फल के सम्बन्ध में हैं। वेदनीय कर्म का फल होना और उसका फल मिलना भी दो बातें हैं। वेदनीय कर्म के फल मिलने से तो परी-षह होती है, किन्तु होने से नहीं होता। अतः इसके फल होने पर तेरहवें गुण स्थान में कारण के सद्भाव से उपचरित परीषह मानी गई है। आक्षेपक का यह कथन ठीक हो सकता था, यदि परीषह अजय और परीषह में अन्तर होता। जिसको आक्षेपक ने परीषह अजय समझा है, वास्तव में वही परीषह है। वेदनीय कर्म के दो

भेद हैं। एक साता वेदनीय और दूसरा असाता वेदनीय। अतः उसके फल भी दो ही प्रकार के सम्भव हैं। यदि परीषह जय का विरोधी परीषह अजय को माना जायगा और परीषह को इन दोनों से ही भिन्न स्वीकार किया जायगा, तब तो या तो वेदनीय के तीन भेद और उसके तीन फल स्वीकार करने होंगे या परीषह को किसी अन्य कर्म का कार्य स्वीकार करना होगा। ये दोनों ही बातें असम्भव हैं, अतः कहना पड़ता है कि जिसको आक्षेपक परीषह समझ रहे हैं वास्तव में वही परीषह अजय है, अतः हमारा परीषह को आस्रव का कारण बतलाना ठीक है। हमने वेदनीय कर्म का असर शरीरादिक पर बतलाया है, यह ठीक है; किन्तु यह किस परिस्थिति में बतलाया है यदि आक्षेपक ने इस पर भी विचार कर लिया होता तो उनको यह आक्षेप ही न करना पड़ता। हमारे इस विवेचन के साथ आक्षेपक का यह कथन भी सत्य है कि वेदनीय कर्म जीव विपाकी है, किन्तु तब ही तो जब कि इसका फल मिलता हो। इसका फल मोहनीय की सहायता से ही मिल सकता है तथा केवली में मोह का अभाव है, अतः इसको इसका फल भी नहीं मिल सकता। ऐसी दशा में तो इसका फल शरीरादिक बाह्य चीजों तक ही रह जाता है। अतः कहना पड़ता है कि इसको जीव विपाकी फल मिलने के दृष्टिकोण से स्वीकार किया गया है। जब कि इसका फल मोह के अभाव से नहीं मिलता तब यही कहना होगा कि इसका फल बाहरी चीजों पर ही पड़ता है।

आक्षेपक ने सब से बड़ी भूल यही की है कि उन्होंने वेदना

को मोहनीय कर्म से असम्बन्धित स्वीकार किया है। यदि वह इसके स्वरूप पर अच्छी तरह विचार कर लेते तो यह वितण्डा ही खड़ा न होता।

वेदनानुभवन में तीन बातें हैं—एक अनुभवन दूसरा पदार्थ का परिणमन और तीसरा उसको अनुकूल या प्रतिकूल मानना। इन तीनों बातों के मेल का नाम ही वेदनानुभवन है। यदि इनमें से एक का भी अभाव हो जाय तब फिर वेदनानुभवन की बात ही नहीं रह जाती। इससे प्रगट है कि मोहनीय के अभाव से वेदनानुभवन नितान्त असम्भव है। इसी बात को सामने रखते हुए कर्मों की गणना में मोहनीय से वेदनीय को पहिले गिनाया है*। हम यह बात कब कहते हैं कि ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान में मोह के अभाव में भी तो वेदनानुभव होता है। यदि हमारी मान्यता इस ढङ्ग की होती तब तो इस सम्बन्ध में उनका कहना भी ठीक हो सकता था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवली में परीषहों का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जब कि केवली में वास्तविक परीषह ही नहीं है तब उनमें इन ही के आधार से मतिज्ञानादिक के मानने की बात ही पैदा नहीं होती।

आक्षेपक ने केवली के अन्यज्ञान न मानने में दूसरी आपत्ति भोग और उपभोग की उपस्थित की है। आपका कहना है कि

---

* घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं। इति घादीणं-मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु। —कर्मकाण्ड १८

मोहनीय नामा कर्म सो घातिया कर्मवत् मोहनीय कर्म का भेद जो इति अरति तिनके उदय काल करि ही जीव को घाते है।

—टोडरमल भाषाटीका कर्मकाण्ड १६

केवली के भोग और उपभोग स्वीकार किये गये हैं तथा ये इन्द्रिय ज्ञान के बिना हो नहीं सकते अतः उनके इन्द्रिय ज्ञान का मानना भी अनिवार्य है। पाठक आक्षेपक के इस सम्बन्धी अभिप्राय को अच्छी तरह समझ सकें अतः यहाँ हम इस सम्बन्धी उनके ही वाक्य उद्धृत किये देते हैं—"घाति कर्मों के क्षय हो जाने से केवली के नव लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। उनमें भोगान्तराय और उपभोगान्तराय के क्षय से भोग लब्धि और उपभोग लब्धि भी होती हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आवे वह भोग और जो बार-बार भोगने में आवे वह उपभोग है। भोजन भोग है, वस्त्र उपभोग। केवली के जब भोग और उपभोग माना जाता है तब यह निश्चित है कि उनके इन्द्रियाँ भी होती हैं और वे विषय ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के सद्भाव से मतिज्ञान सिद्ध हुआ।"

अब विचारणीय यह है कि क्या केवली के भोग और उपभोग स्वीकार किये गये हैं। यदि हाँ तो क्या ये बिना इन्द्रिय ज्ञान के नहीं हो सकते ?

केवली के भोग और उपभोग हैं, इसका वर्णन जैन शास्त्रों में मिलता है। अतः इस विषय पर विशेष विचार की आवश्यकता नहीं। जहाँ हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि उक्त दोनों बातें केवली के रहती हैं वहीं हम इस बात के स्वीकार करने को तैयार नहीं कि ये बिना इन्द्रिय ज्ञान के हो ही नहीं सकतीं! इससे विचारशील पाठक यह न समझें कि इस बात के स्वीकार न करने की हमारी हठ है, किन्तु हम इसके समर्थन में प्रमाण का अभाव

पाते हैं। भोग और उपभोग के साथ इन्द्रिय ज्ञान का होना अनिवार्य है या यों कहिये कि बिना इन्द्रियज्ञान के ये बातें असम्भव हैं। उस बात के समर्थन में विद्वान् लेखक ने कोई युक्ति उपस्थित नहीं की। केवल इतना ही लिखकर छोड़ दिया है कि "जब भोग और उपभोग माना जाता है तब यह निश्चित है कि उनके इन्द्रियाँ भी होती हैं और वे विषय ग्रहण करती हैं"। इस प्रकार का निश्चय क्यों हुआ, ऐसी कौनसी बात है जो इस प्रकार के निश्चय को निश्चित कराती है। जब तक यह सिद्ध न कर दिया जाय तब तक ऐसा लिख देना केवल प्रतिज्ञा वाक्य ही है और उसका परीक्षक के लिये कुछ भी मूल्य नहीं। अतः स्पष्ट है कि आक्षेपक का प्रस्तुत वक्तव्य इस बात के समर्थन में बिल्कुल अनुपयोगी है। दूसरी बात यह है कि केवली के भोग और उपभोगों का अस्तित्व होनेपर भी केवली भोगी उपभोगी नहीं हैं। भोग और उपभोग का अस्तित्व एक जुदी चीज है और भोगी और उपभोगी होना एक जुदी बात।

पंचेन्द्रियों के विषयों में से जो पदार्थ एक बार ही सेवन में आते हैं उनका अस्तित्व ही भोग का अस्तित्व है। इसही प्रकार इनही में से जो पदार्थ अनेक बार भोग में आते हैं उनका अस्तित्व ही उपभोग का अस्तित्व है। इन दोनों प्रकार के पदार्थों की मौजूदगी में भी यदि कोई इनको भोगता नहीं है तो वह न भोगी है और न उपयोगी ही!

भोग और उपभोग का प्राप्त होना वेदनीय कर्म का कार्य है।

यह वेदनीय कर्म तब तक इस प्रकार के पदार्थों को प्राप्त नहीं करा सकता जब तक कि तद्विषयक अन्तराय कर्म का अस्तित्व रहता है। केवली के अन्तराय कर्म का अभाव है तथा वेदनीय कर्म तो पहले ही से मौजूद है। अतः इस प्रकार के पदार्थ उनको प्राप्त हो जाते हैं। एक समय शास्त्रसभा की बात है वहाँ यह चर्चा चल रही थी कि श्रीसम्मेदशिखरजी कौन-कौन जा रहे हैं। इतने में एक बन्धु ने कहा कि जिस २ के कर्म में होगी वह-वह चले जायंगे। इस बन्धु की इस बात को सुनकर दूसरे उपस्थित व्यक्ति ने तुरन्त एक प्रश्न उपस्थित कर दिया कि क्या पण्डितजी यह बात मान्य है? इसका उत्तर यही था कि कर्म से श्री सम्मेदशिखरजी के दर्शन नहीं हो सकते। कर्म तो इस प्रकार के दर्शनों में बाधायें ही डाल सकते हैं। हाँ, जिसके कर्म की रुकावट नहीं होगी और यदि वह इस प्रकार के दर्शनों के अर्थ प्रयत्न करेगा तो वह दर्शन प्राप्त कर सकता है।

इसही प्रकार की व्यवस्था यहाँ है। जिस प्रकार शुभ कार्यों में कर्म केवल रुकावट किया करते हैं और उनके अभाव में केवल उस रुकावट का अभाव हो जाता है, उस कार्य के लिये प्रयत्न फिर भी करना पड़ता है। उसही प्रकार यहाँ भी अन्तराय के अस्तित्व से बाधायें ही हुआ करती हैं। जब यह अन्तराय कर्म दूर हो जाता है तब केवल वे बाधायें ही नहीं रहतीं। इन पदार्थोंके प्राप्त करने के लिये तो फिर भी वेदनीय कर्म का उदय ही आवश्यक है। इसही को यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि भोग और उपभोग की प्राप्ति में अन्तराय के अभाव

का प्रभाव तो बाधाओं के अभाव तक ही है। इनको प्राप्ति रूप कार्य में यदि किसी का व्यापार है तो वह वेदनीय ही है। जहाँ भोग और उपभोग की प्राप्ति वेदनीय के कार्य हैं वहीं भोगी और उपभोगी होने के लिये इससे भिन्न कारणों की भी आवश्यकता है। इस बात के निर्णय के लिये सर्व प्रथम हम इसही बात पर प्रकाश डालते हैं कि भोगी और उपभोगी क्या तत्त्व हैं? आत्मद्रव्य अन्य द्रव्यों की भांति गुणों का समुदाय रूप है। इनही गुणों में से जिनका समुदायस्वरूप आत्मद्रव्य है चैतन्य और सुख गुण भी है। सुख गुण की ही वैभाविक-विकारी-अवस्था का नाम दुःख है। आकुलता का नाम दुःख और निराकुलता का नाम सुख है। जिस समय हम बाह्य पदार्थों के आकर्षण से या केवल कर्म के उदय से बाह्य पदार्थों की तरफ खिंच जाते हैं और हमारे अन्दर यह विचार पैदा होने लगता है कि हम इन पदार्थों को प्राप्त करें उस समय हम आकुल या दुःखी कहलाते हैं। जब हम में इस प्रकार की बातें नहीं होतीं या होकर नष्ट हो जाती हैं तो हम सुखी हो जाया करते हैं।

जब हम जगत के पदार्थों की तरफ खिंच जाते हैं और ऐसा होने से ही आकुलित होजाते हैं उस समय हम उन-उन पदार्थों का सेवन करके उस आकुलता को दूर करते हैं। यही भोगी और उपभोगी होना है। अतः भोगी और उपभोगी ये सुख गुण की अवस्थायें हैं तथा ये उस ही आत्मा में होती हैं जहाँ कि जगत के पदार्थ प्रभाव पैदा करते हैं ओर इनसे वह आत्मा आकुलता अनुभव करता है।

केवली इन बातों से दूर हैं। न उन पर वाह्य पदार्थ प्रभाव ही पैदा करते हैं और न उनमें आकुलता ही होती है। उनकी अवस्था तो उस फौलाद के लोहे जैसी है जिसमें मुड़ने की ताकत ही नहीं; फिर एक क्या सैकड़ों लुहार भी उसको मोड़ नहीं सकते! उपादान कारण यद्यपि पौगा है और वह उस २ ही अनुरूप हो जाता है जिस-जिस रूप उसको निमित्त कारण करते हैं किन्तु वहाँ निमित्त कारण भी व्यर्थ हो जाते हैं, जहाँ उपादान में उस प्रकार की शक्ति ही नहीं होती।

भगवान पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में रति और कामदेव वाली बातचीत यहाँ बिलकुल उपयुक्त बैठती है *। कामदेव का रति से कहना कि यह वह भगवान हैं जिन्होंने मोहपर विजय प्राप्त कर ली है, फिर हम लोग तो इनके सेवक हैं। जब मालिक ही प्रभाव पैदा नहीं कर सकता तब सेवकों की तो बात ही क्या है। तात्पर्य केवल इतना ही है कि वहीं विकार पैदा होता है—आकुलता आती है—जहाँ मोह शेष है। जो जिस पदार्थ से मोहित ही नहीं होता वह उसकी तरफ आकर्षित होगा यह तो एक व्यर्थ जैसी बात है। केवली के मोह नष्ट हो चुका है या यों कहिये कि मोह को नाशकर ही केवली होते हैं, यह एक उभय मान्य बात है। मोह के अभाव में भोगी और उपभोगी होने की तनिक भी गुंजायश नहीं है, इस

---

* कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी हूं हूँ प्रतापी प्रिये,
मुञ्च तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेय क्रियां।
मोहोऽनेन विमार्जितो प्रभुरसौ तत्किंकराः के वयम्,
इत्यवें रतिकाम जल्प विषयः पार्श्वप्रभु पातु नः!

बात का खुलासा हम ऊपर कर चुके हैं। अतः स्पष्ट है कि केवली के भोग और उपभोग रहने पर भी वे भोगी और उपभोगी नहीं हैं।

प्रश्न—जो बातें केवली के उपभोग में स्वीकार की गई हैं उन्हीं में से छत्र, चमर और सिंहासनादिक हैं। केवली सिंहासन पर बैठते हैं, छत्र उनके मस्तक पर विराजमान रहते हैं और भामण्डल पीछे रहता है। इसही प्रकार अन्य बातें भी हैं जो केवली के प्रयोग में आती हैं, फिर उनको भोग और उपयोग रहित कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

उत्तर—किसी भी पदार्थ का केवल सम्बन्ध ही भोग और उपभोग नहीं है। एक लखपति है और वह लाख रुपये के नोटों को सदैव अपने पास रखता है, किन्तु उनको उपयोग में नहीं लाता तो वह उसका भोगी कदापि नहीं कहला सकता। इसही को दूसरे दृष्टान्त से यों समझियेगा कि एक राजा है और उसके पास हर एक प्रकार की भोग और उपभोग की सामिग्री है। ऐसा होने पर भी वह बीमार है और अपनी किसी भी वस्तु का न भोग ही कर सकता है और न उपभोग ही ! इन दोनों व्यक्तियों से भोग और उपभोग का सम्बन्ध हैं; फिर भी ये भोगी और उपभोगी नहीं। इनमें और केवली में थोड़ा सा ही अन्तर है और वह यह है कि इनमें से पहिले में भोग और उपभोग के साधनों के रहने पर भी उसमें भोग और उपभोग के भाव ही पैदा नहीं हुए हैं। इसही प्रकार दूसरे में सामिग्री भी है और भोग उपभोग के उपभोग करने के भाव भी हैं किन्तु बीच में बाधक कारणों से वह

ऐसा नहीं कर पाता। केवली में इन दोनों ही बातों का अभाव है —न वहाँ पर भोग और उपभोग के विचारों का पूर्व रूप ही है और न बाधक कारण ही, किन्तु वहाँ इस प्रकार के भावों के उत्पन्न होने का मूल ही नष्ट हो चुका है। इन दोनों में यदि प्राग-भाव है तो केवली में प्रध्वन्साभाव; कुछ भी क्यों न सही अभाव की दृष्टि से तो दोनों में समानता है। इसही प्रकार बाह्य साधन सामिग्री की दृष्टि से भी इनमें समानता है। प्रस्तुत दृष्टान्तों में यदि लाख रुपये के नोट और भोग्य और उपभोग्य सामिग्री है तो केवली में छत्र चमरादिक। बाह्य सामिग्री के रहने पर भी यदि इनको भोगी और उपभोगी नहीं माना जाता तो केवली को ही छत्र चमरादिक के अस्तित्व से भोगी और उपभोगी किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है।

यदि इस सब विवेचन को संक्षेप में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि किसी भी पदार्थ के अस्तित्व या सम्बन्ध मात्र से कोई भी उसका भोगी या उपभोगी नहीं हो सकता, इसके लिए तो उसको तज्जन्य आकुलता निवृत्ति आवश्यक है। यह बात केवली के छत्र और चमरादिक के सम्बन्ध में नहीं, अतः केवली से उनका सम्बन्ध होने पर भी वे इनके आधार से भोगी या उपभोगी स्वीकार नहीं किये जा सकते।

प्रश्न—केवली को यदि छत्र चमरादिक से आकुलता निवृत्ति नहीं होती (क्योंकि उनमें आकुलता को स्थान ही नहीं है, फिर आकुलता निवृत्ति की तो बात ही क्या हो सकती है) तो न सही, उनको इनका ज्ञान तो है। आकुलता निवृत्ति से भी तो ज्ञान ही

होता है; अतः इस दृष्टि से भी केवली भोगी या उपभोगी ही प्रमाणित होते हैं ?

उत्तर—आकुलता निवृत्ति में भी ज्ञान होता है, यह बात सत्य है, किन्तु आकुलता निवृत्ति और ज्ञान ये दो बातें हैं। इन दोनों में ज्ञान और ज्ञेय का अन्तर है। हम कह चुके हैं कि आत्मा जिन गुणों का समुदायस्वरूप है उनमें चेतना और सुख भी है; साथ ही साथ यह भी इस ही लेख में स्पष्ट कर चुके हैं कि आकुलता निवृत्ति सुख गुण का ही परिणमन है जिस समय जीव आकुलता निवृत्ति का अनुभव करता है। उस समय अनुभव ज्ञान है और आकुलता निवृत्ति ज्ञेय। आकुलता निवृत्ति ही भोग का उपयोग या भोगीत्व है। अतः पदार्थों के ज्ञान के होने पर भी जब तक उनसे होने वाली आकुलता निवृत्ति न हो तब तक भोगीत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता! केवली सर्वज्ञ हैं, अतः उनको जगत के अन्य पदार्थों की तरह छत्र चमरादिक का भी ज्ञान है, किन्तु उनके उनसे होनेवाली आकुलता निवृत्ति नहीं है; अतः उनको केवल ज्ञान मात्र ही से भोगी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यदि केवली भोगी होते तब तो इसके लिये उनको इन्द्रिय व्यापार करना पड़ता और फिर उससे उनको मतिज्ञानी प्रमाणित किया जा सकता था। केवली भोगी या उपभोगी नहीं, इसका समर्थन हम ऊपर कर चुके हैं तथा केवल भोग और उपभोग के अस्तित्व के साथ इन्द्रिय व्यापार का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं; अतः केवली के भोग और उपभोग स्वीकार करके भी उनके

मतिज्ञान का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। इससे प्रगट है आक्षेपक की यह आपत्ति भी व्यर्थ ही प्रमाणित हुई है।

विरोध—आकुलता व्याकुलता का यहाँ प्रश्न ही नहीं है। बात इतनी ही है कि किसी ने सुगन्धित फूल बरसाये और उनकी सुगन्ध चारों तरफ फैली तो केवली की नाक में गई कि नहीं? यदि गई तो उसका उनको अनुभव क्यों न होगा? यदि न होगा तो केवली के भोगोपभोग बताने का क्या मतलब था? जिस प्रकार भोगान्तराय आदि का नाश होजाने पर भी सिद्धों में भोग-उपभोग का अभाव बताया गया, उसी प्रकार अरहन्त के भी बताना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे उनके भोगोपभोग की वास्तविक मान्यता साबित होती है जो कि सर्वज्ञता में बाधक है।

परिहार—भोग और उपभोग से आकुलता का क्या सम्बन्ध है इसके सम्बन्ध में हमने लेखमाला में यथेष्ट प्रकाश डाला है। यदि आक्षेपक को यह बात स्वीकार नहीं थी तो उनको इसके समर्थन में दी गई युक्तियों का प्रतिवाद करना था।

यदि किसी भी वस्तु के ज्ञान का नाम ही भोग और उपभोग मान लिया जाय तब तो फिर उसके साथ पंचेन्द्रिय विषय विशेषण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। ऐसी दशा में तो संसार के समग्र पदार्थ ही इनमें सम्मिलित किये जा सकेंगे। यदि भोग्य और उपभोग्य के ज्ञान का नाम ही भोग और उपभोग होता तब तो एक ही चीज को सैकड़ों देख कर ही उसके भोगी और उपभोगी बन सकते थे।

यह ठीक है कि केवली के समान सिद्धों में भी भोगान्तराय और उपभोगान्तराय का नाश हो चुका है किन्तु फिर भी केवली में वेदनीय कर्म का सद्भाव है, अतः उनके इस योग्य सामग्री का आगमन भी है। यदि यह बात सिद्धों के भी होती तो उनमें भी इनकी सामग्री स्वीकार की जाती। इससे स्पष्ट है कि आक्षेपक की यह आपत्ति भी निरर्थक है।

केवली के केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञान न मानने में आक्षेपक ने अन्तिम आपत्ति भोजन के अभाव की उपस्थित की है। आपका कहना है कि यदि केवलीमें इन्द्रिय ज्ञान न माना जायगा तो वह भोजन भी न कर सकेंगे। आपने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—"यदि केवली के केवलज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञान न माने जायं तो केवली भोजन भी न कर सकेंगे। क्योंकि आँखों से देखे विना भोजन कैसे किया जा सकता है? केवलज्ञान से भोजन देखेंगे तो केवलज्ञान से तो त्रिकाल त्रिलोक के पवित्र अपवित्र अच्छे बुरे सब पदार्थ दिखते हैं। इसलिए अमुक भोज्य पदार्थ की तरफ उनका उपयोग कैसे लगेगा?"।

विद्वान् लेखक ने इससे अगाड़ी इस ही विषय के संबंध में एक प्रश्न भी उपस्थित किया है। प्रश्न का भाव यह है कि केवली के भोजन का होना श्वेताम्बरियों ने माना है। दिगम्बरी केवली को कवलाहारी स्वीकार नहीं करते; अतः इस आपत्ति का दिगम्बरियों पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। इसका समाधान करते हुए आपने लिखा है कि यहाँ श्वेताम्बरी और दिगम्बरी का प्रश्न नहीं है। दोनों ही सम्प्रदाय भगवान की पूजा करते हैं। यदि

केवलो में इस प्रकार का अतिशय होता तो श्वेताम्बरियों ने भी अवश्य स्वीकार किया होता; आदि-आदि।

अब विचारणीय यह है कि क्या केवली वास्तव में कवलाहारी हैं? इस बात के समर्थन में आक्षेपक ने निम्नलिखित बातें लिखी हैं:—

(१) केवली के कवलाहार के अभाव की कल्पना पीछे की है।

(२) दिगम्बरी लोग भी क्षुधा-परीषह, तृषा-परीषह तो मानते हैं। यदि केवली को भूख और प्यास लगती है तो वे भोजन क्यों न करते होंगे?

(३) कोई मनुष्य जोकि जीवन भर भोजन करता रहा है किन्तु विशेष ज्ञानी हो जाने से देश देशान्तरों में विहार करता हुआ व्याख्यान आदि करता हुआ वर्षों और युगों तक भोजन न करे इस बात पर अन्धश्रद्धालुओं के सिवाय और कोई विश्वास नहीं कर सकता।

(४) केवलज्ञान के इस कल्पित रूप की रक्षा के लिये भगवान के निद्रा का अभाव मानना पड़ा है और निद्रा को दर्शनावरण का कार्य कहना पड़ा है। जब कि ये दोनों बातें अविश्वसनीय और तर्क विरुद्ध हैं।

१—केवली के कवलाहार के अभाव की कल्पना पीछे की है, इस बात के समर्थन में आक्षेपक ने कोई युक्ति उपस्थित नहीं की, केवल इतना ही लिखकर छोड़ दिया है कि यदि केवली के इस प्रकार का अतिशय होता तो यह श्वेताम्बरियों ने भी अवश्य

स्वीकार किया होता। किसी भी बात का वर्णन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लेखकों ने नहीं किया, अतएव वह वास्तविक नहीं और उसकी कल्पना बाद को की गई है—इस बात को आक्षेपक ही स्वीकार करते हैं या यों कहिये कि इस प्रकार का विवेचन उनके लिए ही युक्तियुक्त हो सकता है। स्वतन्त्र विचारक के लिए तो इसमें तनिक भी सार नहीं है। अतः आक्षेपक का केवली के कवलाहार की मान्यता को कल्पित और उसकी कल्पना को बाद में की गई बतलाना निराधार और अतएव अमान्य है।

२—दिगम्बर लोग केवली के क्षुधा और तृषा परीषह किस प्रकार की मानते हैं तथा उसका यहाँ क्या प्रभाव है, इस बात का वर्णन हम अपने पिछले लेख में कर चुके हैं। विद्वान् पाठकों को चाहिये कि वे यह बात वहाँ से देखने का कष्ट उठावें।

यहाँ आक्षेपक का लिखना कि "यदि केवली को भूख और प्यास लगती है तो वह भोजन क्यों न करते होंगे" ठीक नहीं। केवली को भूख और प्यास नहीं लगती, ऐसा तो तब स्वीकार किया जा सकता था जब कि उनमें परीषहों का वास्तविक अस्तित्व होता। केवली में तो ये उपचार से ही स्वीकार की गई हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसा होने पर केवली के अनन्त सुख में भी बाधा आती है। अतः आक्षेपक का इस आधार से भी केवली को कवलाहारी सिद्ध करना मिथ्या है।

३—चलते समय या बैठते समय हमारे शरीर में क्रिया होती है, इससे हमारे शारीरिक बल में न्यूनता आती है; अतः हम भोजन करते हैं। भोजत से हमको दो प्रकार के तत्व मिलते हैं—

एक शरीर की शक्ति की न्यूनता को दूर करने वाले और दूसरे शरीर में वृद्धि करने वाले। शरीर में वृद्धि एक नियमित समय तक होती है, किन्तु शारीरिक बल की न्यूनता का अभाव शारीरिक स्थिति के अन्त समय तक होता है। इस ही बात से हम इस परिणाम तक पहुँच जाते हैं कि जो देश-देशान्तर विहार करते हैं उनके लिए भोजन अनिवार्य है।

जिस प्रकार के साधन के साथ साध्य का अविनाभाव निश्चित होता है उस ही प्रकार के साधन से उस साध्य की सिद्धि हो सकती है। धूम के साथ अग्नि का अविनाभावी सम्बन्ध है, किन्तु यह धूम एक भिन्न प्रकार की है। हर एक धूम से आग को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होता तो गोपालघटिका की धूम से भी अग्नि सिद्ध हो जाती। यही बात प्रकृत साध्य-साधन के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार का देश-देशान्तर-विहार शक्ति की न्यूनता का कारण है या यहाँ मिलता है उस ही प्रकार के विहार से भोजन का अस्तित्व माना जा सकता है।

केवली में देश-देशान्तर विहार अवश्य है, किन्तु वह इस प्रकार का विहार नहीं जिसके आधार से उनमें भोजन का अस्तित्व मानना अनिवार्य हो! केवली चलते समय हमारी तरह पैर उठाकर नहीं चलते, किन्तु तपो विशेष से उनमें जो एक ऋद्धि पैदा हो चुकी है उससे वे बगैर शारीरिक अवयवों को हिलाये भी गमनागमन कर सकते हैं।

यदि केवली का भी गमन और सांस लेना आदि कार्य हमारी ही तरह होता या यों कहिये कि उनको भी इन में शारीरिक

क्रियायें आवश्यक होतीं तब भी उनमें इनसे होने वाली शारीरिक शक्ति की न्यूनता के पूरा करने के लिए हमारी तरह आहार की बात पैदा नहीं हो सकती थी !

जैन शास्त्र केवली को कवलाहारी का निषेध करके भी उनको आहारी मानते हैं। केवली के आहार का निषेध नहीं है, किन्तु आहार विशेष का निषेध है। आहार के छः भेद हैं। उनमें से एक कवलाहार भी है। केवली के कवलाहार न होने पर भी उनके नोकर्म आहार है। अतः इससे उनके शरीर में बिलकुल भी न्यूनता नहीं आने पाती*।

शारीरिक शक्ति की न्यूनता कवलाहार की तरह नोकर्माहार से भी दूर होती है, इस में क्या प्रमाण है ?

ससय-समय पर हम भी अपनी विभिन्न प्रकार की थकावटों को वायु सेवनमात्र से ही दूर कर लेते हैं। पर्वतीय वायु यहाँ के वायु की अपेक्षा हमारे शरीर के लिये अधिक बलकारक है। अतः यह तो निश्चित है कि हमारे शरीर में बल केवल कवलाहार से ही नहीं आता। अब विचारणीय केवल इतना ही रह जाता है कि केवली में इस प्रकार का कार्य कवलाहार से होता है या नोकर्माहार से। यदि कवलाहार से इस कार्य को माना जायगा तो केवली के अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का अभाव मानना पड़ेगा। कवलाहार के मानने पर केवली में भूख भी माननी पड़ती है। जहाँ भूख है वहाँ पीड़ा और शक्ति की न्यूनता भी। विवेकी बिना

* तत्र च कवलाहाराभावेऽप्यन्यस्य कर्म नोकर्मादान लक्षणस्या-विरोधात्। षड्विधो ह्याहारः। —प्रमेयकमल मार्तण्ड पृ० ८५।

भूख के कवलाहार में प्रवृत्ति नहीं करता। ये बातें नोकर्माहार के सम्बन्ध में घटित नहीं होतीं। नोकर्माहार का ग्रहण बुद्धिपूर्वक नहीं होता, किन्तु वर्तमान कर्म के उदय और प्रतिबन्धक के अभाव से प्रति समय होता रहता है। अतः नोकर्माहार से ही प्रकृत कार्य होता है, यही मानना युक्तिसङ्गत ठहरता है। यहाँ एक बात और भी उपस्थित की जा सकती है और वह है केवली में भूख को मानकर भी उसको केवल शारीरिक धर्म ही स्वीकार करना! यदि यह बात बिलकुल ठीक बैठ जाती तो इससे अनन्त सुख के अभाव की आपत्ति को केवली में स्थान न रहता, किन्तु ऐसा है नहीं। भूख का प्रभाव यदि केवली के शरीर तक ही होता तो केवली को कवलाहार की क्या आवश्यकता थी? जिससे केवली की शान्ति ही भंग नहीं होती, उसके निराकरण के लिये उनमें प्रयत्न की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।

दूसरी बात यह है कि यदि केवली की शारीरिक शक्ति का ह्रास था और इसके लिये उनको कवलाहार जरूरी होता तब भी वे ऐसा क्यों करते? जो मर नहीं सकता, जिसको अगाड़ी दुःख की सम्भावना नहीं, शरीर के छूट जाने पर सिद्ध हो जाना जिनके लिये अनिवार्य है, वर्तमान शरीर का सम्बन्ध जिनके लिये एक प्रतिबन्ध ही है या जिससे जो पूर्ण मुक्त नहीं हो पाते, उसकी रक्षा के लिये केवली प्रयत्न करते इसको कौन मान सकता है? दुनियाँ उन्नति की तरफ चलती है, कोई नहीं चाहता कि वह एक क़दम भी अवनति की तरफ या उसके लिये रक्खे। फिर केवली में ही इस बात को कैसे माना जा सकता है? क्या केवली का

कवलाहार ग्रहण करके धीरे-धीरे कम होने वाली शारीरिक शक्ति को पूरा करना उनके लिये उतने ही समय के लिये संसार का संरक्षक नहीं था ?

इससे प्रकट है कि जब तक भी केवली शरीर में रहे तब तक उन्होंने स्वयं शरीर की रक्षा के लिये प्रयत्न नहीं किये, किन्तु आयु कर्म और नोकर्माहार से इनके शरीर की रक्षा स्वयं होती रही।* अतः देश देशान्तर विहार या साँस लेने आदि के आधार से केवली को कवलाहारी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

देवगण जीवन पर्यन्त कवलाहार ग्रहण नहीं करते, फिर भी वे जीवित रहते हैं। औदारिक शरीरी भी गर्भावस्था में कवलाहारी नहीं, फिर भी उनके शरीर का परिवर्धन और संरक्षण होता है। बाहुबलि आदि महापुरुषों की एक विशेष समय तक कवलाहार ग्रहण न करने पर भी शरीर की स्थिति जन प्रसिद्ध ही है। यही क्या, आजकल भी इस प्रकार के परीक्षण हो चुके हैं। प्राणायाम के सम्बन्ध में एक विद्वान् ने, जिनका नाम बीकार्ट (Vierordt) था, अनेक परीक्षण किये और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि ऐसी अवस्था में मनुष्य स्वाभाविक रीति से भूख के कष्ट से मुक्त रहता है।¶ इसही प्रकार के परीक्षण तप के सम्बन्ध में भी हुए हैं। इन

---

* आयुः कर्मैव हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्। मुक्त्यादिस्तु सहापमात्रं। तच्छरीरोपचयोऽपि लाभान्तराय विनाशान् प्रति समयं तदुपचय निमित्त भूतानां दिव्य परमाणुनां लाभान घटते।
—प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० ८५।

¶ A treatise on the Yoga Philosophy by N. C. Paul. Page 8—114.

सबका साक्षात् या परम्परा प्रभाव प्रस्तुत विषय पर पड़ता है।

अतः स्पष्ट है कि केवली को कवलाहारी मानना निराधार ही नहीं, अपितु युक्ति और अनुभव के प्रतिकूल भी है।

विरोध—भोजन का सद्भाव भी केवली की सर्वज्ञता का बाधक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवली के भोजन का सद्भाव मानता है, इसलिये मेरी यह युक्ति श्वेताम्बरों के लिये तो लागू हुई। श्वेताम्बर लोग केवली को सर्वज्ञ मानते हैं, फिर भी उनने केवली के आहार माना, इससे यही बात मालूम होती है कि उन्हें सत्य के अनुरोध से इसे स्वीकार करना पड़ा है। एक ही अपराध में पकड़े गये दो आदमी जब अपराध से बचने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उनमें से किसी एक के मुंह से भी जब ऐसी बात निकल जाती है जिससे अपराध साबित होता है, तब न्यायाधीश के लिये वह बात प्रमाणरूप हो जाती है। दूसरा आदमी उसे अस्वीकार करे तो वह अपराध-सिद्धि से बचने की चेष्टा ही कहलाती है। यही बात यहाँ हुई। दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सर्वज्ञता की मान्यता के अपराधी हैं। परन्तु अगर श्वेताम्बर के मुंह से कवलाहार की बात निकलती है जिससे सर्वज्ञता की बात खण्डित होती है, तो विवेकरूपी न्यायाधीश के सामने यह बात प्रमाणभूत हो जाती है। ऐसी हालत में दिगम्बरों की बात अपराध से बचने के लिये की गई कल्पना ही सिद्ध होती है, और इसीलिये वह पीछे की सिद्ध होती है।

यह ठीक है कि केवली की सर्वज्ञता दिगम्बरों के समान श्वेताम्बरों को भी इष्ट है तथा यह भी ठीक है कि श्वेताम्बर केवली

को कवलाहारी मानते हैं किन्तु उनको इस मान्यता से उनकी सर्वज्ञ मान्यता पर ही तो आक्रमण हो सकता है। यदि दिगम्बरों ने भी केवलीको कवलाहारी माना होता तब तो इस ही के आधार से उनकी सर्वज्ञ मान्यता का भी खण्डन किया जा सकता था किन्तु उनके दृष्टिकोण से तो केवली का कवलाहारी होना ही असिद्ध है। अतः उनके लिये तो पहिले केवली को कवलाहारी ही सिद्ध करना होगा।

आक्षेपक ने इसके सम्बन्ध में एकधारा ज्ञानशून्य चर्चा चलादी है। आप अपनी इस युक्ति के सम्बन्ध में यदि कानून के किसी विशेषज्ञ से न्यायप्रणाली को समझ लेते तो आपको यह सब लिखने का कष्ट न उठाना पड़ता। किसी भी मुकद्दमे के दो अपराधियों में से किसी एक के अपराध स्वीकार कर लेने पर ही दूसरों को अपराधी घोषित नहीं किया जा सकता। उस पर तो इसका कुछ भी प्रभाव नहीं है। उसके लिये तो इसको सिद्ध ही करना होगा तथा यदि यह अपराध उसके सम्बन्ध में सिद्ध न किया जा सकेगा तो दूसरे व्यक्ति के अपराध स्वीकार कर लेने पर भी उसको निरपराधी ही घोषित करना होगा। यदि आक्षेपक की ही बात ठीक होती तब तो किसी भी न्यायप्रणाली का चलना ही असम्भव हो जाता। कोई भी दो व्यक्ति सलाह करके किसी तीसरे व्यक्ति के खिलाफ फौजदारी या दीवानी मुकद्दमा कर सकते हैं तथा इन दोनों में से एक वादी बन जाता है और दूसरे को तीसरे के साथ प्रतिवादी बना दिया जाता है। जब यह

मुकद्दमा चलता है व वही व्यक्ति उसके प्रतिकूल लगाये गये अपराध को स्वीकार कर लेता है। ऐसी दशा में तो निरपराधी तीसरे व्यक्ति को भी अपराधी बनना ही पड़ेगा। अतः यह ढङ्ग ही गलत है।

केवली के कवलाहार के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए आक्षेपक ने केवली के निद्रा के अस्तित्व को भी प्रमाणित करने को चेष्टा की है। आपने इस के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—
"केवलज्ञान के इस कल्पित रूप की रक्षा के लिये भगवान के निद्रा का अभाव मानना पड़ा है और निद्रा को दर्शनावरण का कार्य कहना पड़ा है, जब कि ये दोनों बातें अविश्वनीय और तर्क विरुद्ध हैं।"

आक्षेपक के इस वक्तव्य की परीक्षा के लिये निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है:—

(१) क्या केवली के निद्रा का अस्तित्व है ?

(२) क्या निद्रा को दर्शनावरण का भेद स्वीकार करना तर्क विरुद्ध है ?

केवली नींद लेते हैं या उनके निद्रा का सद्भाव है। इस बात के समर्थन में विद्वान् लेखक ने निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—
"जो भोजन करता है उसे नींद लेनी पड़ती है, इसलिये केवली भी नींद लेते हैं।" केवली कवलाहारी नहीं इस बात का निर्णय हम इस ही लेखमाला के इससे पहिले लेख में कर चुके हैं। जब कि केवली के भोजन का ही अभाव है तब उनके इस ही के आधार से होने वाली निद्रा का भी अस्तित्व किस प्रकार स्वीकार

किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि केवली के निद्रा का सद्भाव नहीं। निद्रा के दर्शनावरण का भेद स्वीकार करने में आक्षेपक ने निम्नलिखित आपत्तियां उपस्थित की हैं:—

(१) चक्षुदर्शन आदि चार भेदों के अतिरिक्त अगर कोई पांचवां दर्शन होता तो उसे घातने के लिये निद्रा आदि दर्शनावरण माने जा सकते थे।

(२) निद्रा अवस्था में अगर हम देख नहीं सकते तो जान भी तो नहीं सकते, इसलिये निद्रा आदि को दर्शनावरण के समान ज्ञानावरण का भेद क्यों न मानना चाहिये।

दर्शन के चार और चार ही भेद हैं, यह बात सत्य है किन्तु ऐसा होने पर भी निद्रा को दर्शनावरण के भेदों से प्रथक नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु के जितने भेद हैं या हो सकते हैं उसको ढकने वाले भी उतने ही प्रकार के हों यह नियम नहीं बनाया जा सकता।

निद्रा अवस्था में दर्शन नहीं होता यह सत्य है, किन्तु ज्ञान नहीं होता यह मिथ्या है। निद्रा अवस्था में यदि ज्ञान न हुआ होता तो हमको नींद ठीक आई या ठीक नहीं आई इस बात का पता न चलता *। निद्रा अवस्था में स्वप्न ज्ञान होता है, यह एक सर्वजन प्रसिद्ध बात है। यदि निद्रा में ज्ञान का अभाव होता तो स्वप्न ज्ञान किस प्रकार हो सकता था।

---

* अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थं निरुपणमेतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोहमेतावत्कालं सान्तरमित्यनुस्मरण प्रतीतेः। न च स्वापलक्षणार्थाननुभवेपि सुप्तोत्थानानन्तरं गाढ़ोहं तदा सुप्तइत्यनुस्मरणं

प्रश्न—ज्ञान के पहिले दर्शन अवश्य होता है। यदि निद्रा अवस्था में ज्ञान माना जायगा तो दर्शन भी अवश्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार निद्रा दर्शन घातक भी सिद्ध न होगी।

उत्तर—श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए सूत्रकार उमास्वामी ने लिखा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हर एक श्रुतज्ञान के पहिले मतिज्ञान का होना अनिवार्य है। यदि ऐसा होता तो श्रुतज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान न होता होता †। सूत्रकार के वक्तव्य का भाव यही है कि सर्वप्रथम श्रुतज्ञान अवश्य मतिज्ञान पूर्वक ही होगा। इस श्रुतज्ञान के आधार से होने वाले श्रुतज्ञान या ज्ञानों के लिये मतिज्ञान की आवश्यकता नहीं। इसही प्रकार की व्यवस्था दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के सम्बन्ध में है। दर्शनोपयोग पूर्वक ज्ञानोपयोग होता है, इसका

घटते—तस्यानुभूत विषयत्वेनानुभ वाविनाभावित्वात। अन्यथा घटाद्यर्थाननुभवेपि तथानुस्मरण संभवात्कुतस्तदनु भवोपि सिद्धये-त्? न च मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि विज्ञानाभावाद् दृष्टान्तस्य साध्य विकलतेत्याशङ्कनीयं तदवस्थातः प्रच्युतस्योत्तर कालंमयान किंचिदप्यनुभूतमित्यनुभवाभाव प्रसङ्गात् स्मृतेरनुभव पूर्वकत्वात्। अतो पेत्रनुभवेन सतात्मा निखिलानुभव विकलोनुभूपते तस्याम-स्थायां सोऽवश्याभ्यु पगन्तव्यः —प्रमेयकमल मार्तण्ड ६८

† तद्यथा—शब्द परिणत पुद्‌गलस्कन्धादाहित वर्ण पद वाक्यादिभावाच्चक्षुरादि विषयाच्च आद्यश्रुत विषय भावमापन्नाद व्यभिचारिणः कृतसंगी निर्जनोघटाज्जल धारणादि कार्य सम्बन्ध्य-न्तरं प्रतिपद्यते धूमादेर्वावन्यादि द्रव्यं तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति। —सर्वार्थ सिद्धि १—२०

भी यह भाव नहीं कि ज्ञानोपयोग पूर्वक ज्ञानोपयोग नहीं होता। यदि यह बात सत्य होती तो फिर जिस प्रकार अवग्रह के पूर्व दर्शन होता, उसही प्रकार ईहा, अवाय और धारणा आदि के पूर्व भी दर्शनोपयोग का होना अनिवार्य होता !

ज्ञानोपयोग के पहिले दर्शनोपयोग होता है, इसका तात्पर्य यही है कि सर्व प्रथम ज्ञानोपयोग के पूर्व दर्शनोपयोग होता है और फिर ज्ञानोपयोग पूर्वक भी ज्ञानोपयोग हो जाया करते हैं। यदि इस बात को स्वीकार नहीं किया जायगा तो फिर मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होते हैं यह सब व्यवस्था मिथ्या हो जायगी तथा इस प्रकार का होना युक्ति और अनुभव दोनों के ही प्रतिकूल है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान के पहिले दर्शन का होना अवश्यभावी नहीं ! जबकि ज्ञान और दर्शन का अविनाभाव ही नहीं तब निद्रा में ज्ञान को मान कर भी दर्शन को स्वीकार करना कोई अनिवार्य नहीं। इससे प्रगट है कि निद्रा में ज्ञान के होने पर भी दर्शन का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता; अतः आक्षेपक का लिखना कि निद्रा में ज्ञान मानने से दर्शन अवश्य मानना पड़ेगा और इस प्रकार निद्रा दर्शन घातक भी न रहेगी बिलकुल निराधार है।

गुण का कभी भी नाश नहीं होता। जहाँ कि गुण का नाश नहीं होता, वहीं इसमें प्रति समय परिणमन भी होता रहता है और इस ही परिणमन का नाम पर्याय है; अतः गुण हमको किसी न किसी अवस्था में ही मिलता है। चैतन्य भी एक गुण है अतः यह भी अवस्था में ही रहता है। चैतन्यगुण की इन अव-

स्थाओं को शास्त्रकारों ने दर्शन और ज्ञान इन दो भेदों में विभाजित किया है। निद्रा अवस्था में चैतन्य गुण दर्शन अवस्था में तो रहता नहीं है; अतः इस दृष्टि से भी निद्रा में ज्ञान का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

प्रश्न—जहाँ तक कि चैतन्य का निद्रा में भी (अवस्था विशेष में) रहने की बात है वहाँ तक तो हम आपसे सहमत हैं; किन्तु जब आप इस अवस्था को ज्ञान स्वरूप स्वीकार करते हैं तभी मतभेद हो जाता है। चैतन्य गुण की इस अवस्था को ज्ञान स्वरूप न मान कर भी लब्धिरूप स्वीकार किया जा सकता है। अतः इस आधार से निद्रा में ज्ञान प्रमाणित नहीं होता।

उत्तर—आक्षेपक भी निद्रा में ज्ञान को लब्धि रूप मानते हैं, जैसा कि उनके शब्दों से प्रगट है—"निद्रावस्था में उपयोग रहे चाहे न रहे परन्तु लब्धि तो रहती है", किन्तु यह बात मिथ्या है। लब्धि रूप होना चैतन्य की कोई अवस्था विशेष नहीं, किन्तु अवस्था विशेष में शक्ति विशेष का होना है। स्पष्टता के लिये यों समझियेगा कि एक फुट लम्बा एक रबड़ का टुकड़ा है जिसमें दस फुट तक खिंचने की शक्ति है, किन्तु उससे किसी ऐसी वस्तु का सम्बन्ध है जिससे वह ऐसा नहीं हो पाता। ज्यों-ज्यों और जितना २ इस वस्तु को रबड़ के इस टुकड़े से दूर किया जाता है त्यों-त्यों उसमें उतनी-उतनी शक्ति प्रकट होती जाती है और जब यह इससे बिलकुल दूर हो जाती है तब इसमें दस फुट खिंचने की शक्ति प्रगट होजाती है। यहाँ तीन बातें हैं—एक प्रतिबन्ध सहित शक्ति, दूसरी प्रतिबन्ध रहित शक्ति और तीसरी शक्ति के

अनुसार कार्यावस्था। यही बात चेतना या ज्ञान के सम्बन्ध में है। एक प्रतिबन्ध सहित चेतना, दूसरी प्रतिबन्ध रहित चेतना और तीसरी उसकी कार्यावस्था। प्रतिबन्ध सहित चेतन वह है जिसपर ज्ञानावरण मौजूद है, प्रतिबन्ध रहित चेतना का वह हिस्सा है जिस पर से आवरण दूर होगया है, और कार्यावस्था रूप चेतना वह है जितनी कि पदार्थ ग्रहण में कार्य कर रही है। तीसरी को उपयोग, दूसरी को लब्धि और पहिली को शक्ति कहते हैं। चेतना गुण जब भी मिलता है, उपयोग रूप अवस्था में ही मिलता है। इसमें जो अधिक पदार्थों के ग्रहण की निरावरण शक्ति है, वह लब्धि है। इससे प्रगट है कि ऐसा कोई भी समय नहीं आसकता जबकि चेतना गुण केवल लब्धि की अवस्था में ही रहे।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि निद्रावस्था में चैतन्य को लब्धि रूप अवस्था में नहीं माना जा सकता। अब विचारणीय केवल एक ही बात रह जाती है और वह यह है कि यदि निद्रावस्था में चैतन्य को लब्धिरूप अवस्था में नहीं माना जा सकता तो न सही। चैतन्यगुण की इस अवस्था को दर्शन ही क्यों न स्वीकार किया जाय? जिस प्रकार उपयोग रूप ज्ञान चैतन्य गुण की अवस्था विशेष है उस ही प्रकार दर्शन भी।

दर्शन और उपयोग रूप ज्ञान दोनों ही चैतन्यगुण की अवस्थायें हैं किन्तु फिर भी इनमें भारी अन्तर है। जिस समय चैतन्यगुण केवल अपना प्रकाश करती है उस समय इसको दर्शन, और जिस समय यह अपने प्रकाश के साथ ही साथ पर पदार्थों का भी प्रकाश करता है उस समय इसही को ज्ञान कहते हैं।

निद्रा अवस्था में चैतन्य केवल स्व-प्रकाशक ही नहीं, किन्तु पर-प्रकाशक भी है; अतः इसको दर्शन रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि केवली के निद्रा का अभाव है और निद्रा को दर्शनावरण के भेदों में गिनना युक्तियुक्त है। अतः इसके आधार से आक्षेपक का केवली के केवल ज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्व प्रमाणित करना बिलकुल मिथ्या है।

केवली में केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये आक्षेपक ने जितनी भी बातें उपस्थित की हैं वे सब मिथ्या प्रमाणित हुई हैं अतः यह भी प्रगट है कि केवली के केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का मानना बिलकुल निराधार एवं युक्ति-विरुद्ध है।

विरोध—जैनियों की एक कल्पित मान्यता को सिद्ध करने के लिये यहाँ अन्य अनेक वास्तविक और युक्त्यनुभवगम्य सिद्धान्तों की हत्या की गई है। समूचे दर्शन का घात करना समूचे दर्शनावरण का काम हो सकता है, दर्शनावरण के किसी एक भेद का नहीं। ज्ञान के पाँच भेद हैं, उनके घातक भी पाँच हैं। अब क्या समूचे ज्ञान को घातने के लिये ज्ञानावरण के किसी अन्य भेद की आवश्यकता है? यदि नहीं, तो दर्शनावरण में क्यों? यह कल्पना ही हास्यास्पद है। दूसरी बात यह कि निद्रा के द्वारा यदि समूचा दर्शन घाता गया तो निद्रानिद्रा के द्वारा क्या घाता गया? इस प्रकार पाँच भेद क्यों बने? निद्रा के द्वारा जो घात होता है, और

निद्रानिद्रा के द्वारा जो घात होता है उसमें कुछ तरतमता या विशेषता है या नहीं ? यदि है तो मालूम हुआ कि निद्रा के द्वारा दर्शन के घात में कुछ कमी रही है। तब वह समूचे दर्शन की घातक कैसे ? समूचे दर्शन को घातने के लिये पाँच-पाँच आवरण क्यों ?

तीसरी बात यह है कि यदि निद्रा घातिकर्मों का फल होती तो उसका लब्धि और उपयोग रूप स्पष्ट होता। घातिकर्मों की लब्धि, उपयोग रूप हो या न हो तो भी बनी रहती है। हम आँख से देखें या न देखें तो भी चक्षुर्मतिज्ञानावरण की लब्धि मानी जाती है। निद्रा दर्शनावरणों की लब्धि का रूप समझ में नहीं आता। निद्रा दर्शनावरण का उदय तो सदा रहता है और आक्षेपक के शब्दों में वह करता है समूचे दर्शन का घात, तब चक्षुर्दर्शनावरणादि के क्षयोपशम होने पर भी चक्षुर्दर्शन न हो सकेगा। जब सामान्य रूप में कोई लैम्प चारों तरफ से ढका हुआ है, तब उसके भीतर के छोटे-छोटे आवरण हटने से क्या लाभ ? इसी प्रकार जब निद्रा का उदय सदा मौजूद है तब चक्षुरादि दर्शन कभी होना ही न चाहिये। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अध्ययन से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है।) इससे निद्रा आदि को दर्शनावरण का भेद बनाना अनुचित है। उसका घाति कर्म से कोई मेल नहीं है। हाँ उसे नाम कर्म का भेद-प्रभेद बनाया जा सकता है। ऐसी हालत में वह अरहंत के भी रहना उचित है !

निद्रावस्था में ज्ञान का अभाव नहीं होता तो दर्शन का अभाव कैसे हो सकता है ? खासकर जैनियों के लिये तो यह बात असम्भव ही है। जहाँ आत्मानुभूति नहीं, वहां आत्म और पर दोनों

की अनुभूति कैसे हो सकती है ? यह तो हो सकता है कि दर्शन हो जाय और ज्ञान न हो, परन्तु यह नहीं हो सकता कि ज्ञान हो जाय और दर्शन न हो। यह कहना कि ज्ञान दर्शन का अविनाभावी नहीं है; बड़ी भारी भूल है अथवा छल है। जैनशास्त्रों में ज्ञान पूर्वक ज्ञान भी माना है, परन्तु प्रारम्भ में दर्शन अवश्य रहता है। ज्ञान की परम्परा अवश्य चलती है। परन्तु उनमें जो पहिला ज्ञान है उसके पहिले दर्शन अवश्य रहता है। बिना दर्शन के ज्ञान नहीं होता। हाँ, एक ज्ञान पैदा हो जाने से उसके बाद ज्ञान की परम्परा चालू रह सकती है। इससे दर्शन की अनिवार्यता नष्ट नहीं हुई। सोते में जिसने स्वप्न देखा उसके पहिले दर्शन होना ही चाहिये। दर्शन जागृत अवस्था में हो जाय और ज्ञान दो-चार घण्टे बाद हो, ऐसा नहीं हो सकता। सच तो यह है कि निद्रावस्था में या तो दर्शन और ज्ञान दोनों हो सकते हैं या दोनों नहीं हो सकते। इसलिये निद्रा आदि को ज्ञानावरण दर्शनावरण दोनों के भेद बनाना चाहिये या किसी के भी नहीं। निद्रा आदि का घाति-कर्म में कोई स्थान बन नहीं सकता, इसलिये उसे नामकर्म में डालना चाहिये। इस प्रकार केवली के निद्रा उचित और स्वाभाविक है। केवलज्ञान के भक्तिकल्प्य और असम्भव रूप के बनाये रखने के लिये निद्रा का अभाव बतलाने की निरर्थक चेष्टा की गई है और उसके लिये कर्म प्रकृतियों के स्वरूप को भी गड़बड़ करना पड़ा है, परन्तु यह सब युक्ति-विचार के आगे टिक नहीं सकता।

परिहार—आवश्यकता से किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया जाता किन्तु वास्तविकता से स्वीकार किया जाता है। आवश्यकता से तो केवल उस दिशा में प्रयत्न ही सम्भव है। यही बात

दर्शनावरण और ज्ञानावरणों के भेदों के सम्बन्ध में है। दर्शनावरण के ६ भेद इसलिए स्वीकार नहीं किये गये हैं कि उसके नौ भेदों की आवश्यकता थी; किन्तु इसको इसलिए माना गया है कि ये दर्शन का आवरण करते थे। यदि इस ही प्रकार की बातें ज्ञान के सम्बन्ध में भी सम्भव हो सकती तो उनको भी ज्ञानावरण के भेदों में सम्मिलित कर लिया होता। आक्षेपक को यदि इस बात पर चर्चा ही चलानी थी तो उनको यह सिद्ध करना था कि निद्रादिक दर्शनावरणों के समान असुक २ बातें ज्ञान का भी आवरण करती हैं अतः उनको भी ज्ञानावरण के भेदों में सम्मिलिति करना चाहिये। या यह चर्चा चलाते कि दर्शनावरण के ६ भेदोंमें से असुक २ भेद का असुक २ भेद में अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा न करके यह कहना कि ज्ञान के पांच भेद होने से यदि उसके आवरण के भी पांच भेद माने हैं तो दर्शन के चार भेद होने से उसके आवरण के भी चार ही भेद मानने चाहिये कोई मतलब नहीं रखता। यह तो तब ही ठीक हो सकता था जब कि आवरण भेद भी उसके भेद पर ही निर्भर होता जिसका उन्होंने आवरण करना है किन्तु यह तो आवरण करने वालों की संख्या पर निर्भर है। अतः आक्षेपक की इस सम्बन्ध में पहिली बाधा मिथ्या है जिसको निद्रादर्शनावरण घातता है उस ही को निद्रा निद्रादिक दर्शनावरण घातते हैं किन्तु भिन्न २ समयों में जिस समय हमको निद्रा आती है यदि उस ही समय हमको निद्रा निद्रादिक भी आती होती तब तो आक्षेपक का कहना लागू भी हो सकता था कि जो कार्य निद्रा से ही जाता है उस ही

के लिये शेष चार भेदों की क्या आवश्यकता है ? यह ठीक है कि निद्रादिक पांचों दर्शनावरण एकसे स्वभाव के नहीं हैं इनके स्वभाव में अन्तर है किन्तु यह अन्तर वहां से प्रारम्भ होता है जहाँ कि सम्पूर्ण दर्शन का घात हो जाता है। यदि इनमें समूचे दर्शन के आवरण में जिस शक्ति की आवश्यकता होती है उस ही के दृष्टिकोण से विभिन्नता होती तब तो आक्षेपक का यह कहना ठीक हो सकता था कि इनसे समूचे दर्शन का नहीं किंतु दर्शन के अंश का ही घात होता है अतः इनको सर्वघाती नहीं मानना चाहिये। द्रष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि विभिन्न परिमाण के पांच ढक्कन हैं, तथा इनकी लम्बाई चौड़ाई एक बर्ग-गज से अधिक है। यदि इनको किसी एक वर्गगज से छोटे छिद्र के ढकने के काम में लाया जायगा तो ये सब ही उसके पूर्ण भाग को ढक सकेंगे किन्तु फिर भी ये विभिन्न परिणाम के ही बने रहेंगे तथा विभिन्न समयों में इनको उस छिद्र के ढकने के प्रयोग में लाने से इनकी व्यर्थता की भी बात पैदा नहीं हो सकती। यही बात दर्शनावरण के सम्बन्ध में है। अन्तर केवल इतना है कि ये ढक्कन तय्यार किये हैं तथा वे प्राकृतिक चीजें हैं अतः इनकी उपयोगिता देख कर इनको यथावश्यकता ही तैयार किया जा सकेगा किन्तु उनको यथास्थिति ही स्वीकार करना होगा। अतः आक्षेपक की यह बाधा भी मिथ्या है। लब्धि और उपयोग घाति-कर्मों का नहीं हुआ करता किन्तु उन गुणों का हुआ करता है जिनको घाति कर्म घातते हैं। यही बात निद्रादिक पांच दर्शना-वरणों के सम्बन्ध मे हैं। अतः निद्रादिक दर्शनावरणों के लब्धि

और उपयोग की गवेषणा की जरूरत नहीं किन्तु दर्शन की लब्धि और उपयोग की गवेषणा की जरूरत है। दर्शन की लब्धि और उपयोग तो बिल्कुल साफ़ है। यह ठीक है कि किसी भी लैम्प के बड़े ढक्कन से ढके रहने पर उसके छोटे ढक्कनों का उससे दूर कर देना भी निरर्थक है क्यों कि ऐसा करने पर भी वह लैम्प तो ढका ही रहेगा और उसका प्रकाश सामने न आ सकेगा।

यदि सर्व घातिया प्रकृतियों के फल देने पर ही देश घातिया प्रकृतियों के क्षयोपशमादिक से उन २ गुणों का आंशिक आविर्भाव माना गया होता तब तो आक्षेपक की यह बाधा बिलकुल ठीक थी। हमने तो सर्वघातिया प्रकृतियों के स्वीकार करके भी उस २ अंश में उनका उदयाभावी क्षय स्वीकार किया है। उदयाभावी क्षय से तात्पर्य बिना फल दिये उनके निर्जरा होने से है। अतः स्पष्ट है कि जहाँ तक किसी भी गुण के आंशिक विकाश का सम्बन्ध है सर्वघातिया प्रकृति बिलकुल रुकावट नहीं डाल रही हैं। अतः इसके आधार से दर्शन या किसी गुण के सम्बन्ध में बड़े ढक्कन वाली बाधा उपस्थित नहीं होती।

यद्यपि आक्षेपक ने यह कथन केवल निद्रादिक दर्शनावरणों के सम्बन्ध में ही किया है किन्तु फिर भी यह सामान्यरूप से एक ही सर्वघाति प्रकृतियों एवं देशघाति की सर्वघातियों के सम्बन्ध में लागू हो सकता है अतः हमने भी इस पर सामान्य रूप से चर्चा चला दी है। अतः आक्षेपक की यह बाधा भी ठीक नहीं। निद्रा में दर्शन नहीं होता है और ज्ञान होता है इसकी चर्चा हमने अपनी लेखमाला में विस्तार के साथ चलाई है।

आक्षेपक की निद्रा सम्बन्धी इस अन्तिम बाधा में ऐसी कोई बात नहीं है जिस पर लेखमाला की इस चर्चा में विचार न किया गया है।

आक्षेपक की दोनों ही बातों को कि "जहाँ आत्मानुभूति नहीं वहाँ आत्मा और दोनों की अनुभूति कैसे हो सकती है। जैन-शास्त्रों में ज्ञानपूर्वक ज्ञान भी माना है परन्तु प्रारम्भ में दर्शन अवश्य रहता है" स्वीकार करते हैं किन्तु इनसे निद्रा में दर्शन सिद्ध नहीं होता है। आक्षेपक की पहिली बात से तो चेतना को स्वपराभासक ही सिद्ध किया जा सकता है न कि निद्रा में उसकी ऐसी दशा, जिसमें वह केवल अपनी ही अनुभूति करती हो। अतः आक्षेपक की पहिली बात तो उनकी मान्यता के सिद्ध करने में असमर्थ है। आक्षेपक ज्ञानपूर्वक ज्ञान भी स्वीकार करते हैं तथा ज्ञान की परम्परा भी मानते हैं तब वह यह कैसे कहते हैं कि निद्रा ज्ञानपूर्वक ज्ञान या ज्ञान परम्परा नहीं है। यदि वह यह सिद्ध कर देते कि निद्रा में ज्ञान की परम्परा टूट जाती है तथा फिर ज्ञान होना शुरू होता है तब तो वह इससे निद्रा में दर्शन सिद्ध कर सकते थे। इसके समर्थन में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है। यही बात निद्रावस्था में स्वप्नज्ञान के सम्बन्ध में है। यह भी ज्ञानपरम्परा का ही ज्ञान है अतः इसके पूर्व भी दर्शन नहीं माना गया है। इससे स्पष्ट है कि निद्रा में दर्शन नहीं होता। जहाँ तक निद्रा में ज्ञान के अस्तित्व की बात है यह तो एक उभय-मान्य बात है। अतः निद्रा को दर्शनावरण ही मानना होगा।

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि केवली में न कार्यकारी

द्रव्येन्द्रियां हैं, न वास्तविक परीषह और भोगोपभोग ही हैं और न कवलाहार और निद्रा ही है। अतः इन्हीं के आधार से उनमें केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

सर्वज्ञ शब्द का अर्थ

सर्वज्ञता के सम्बन्ध में आक्षेपक ने अपनी लेखमाला में जितनी बातें उपस्थित की हैं उनमें अब एक शेष है और वह सर्वज्ञ शब्द का अर्थ है। आक्षेपक का कहना है कि सर्वज्ञ शब्द का प्रयोग भगवान् महावीर से भी प्राचीन है, किन्तु इसका प्रचलित अर्थ तर्क-विरुद्ध है। सर्वज्ञ शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? इसके सम्बन्ध में आपने निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—

"सर्वज्ञ शब्दका सीधा और सरल अर्थ यही है कि सबको जानने वाला, परन्तु सर्व शब्द का व्यवहार अनेक तरह से होता है।"

सर्व शब्द का यहाँ क्या अभिप्राय है इसको विद्वान् लेखक ने कई लौकिक दृष्टान्तों के आधार से निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्रकट किया है:—

"सर्व शब्द का अर्थ त्रिकाल त्रिलोक नहीं, किन्तु इच्छित वस्तु है।"

आक्षेपक ने अपने इस अभिप्राय के समर्थन में कई जैनशास्त्रों के उल्लेख भी उपस्थित किये हैं। अब विचारणीय यह है कि क्या सर्वज्ञ शब्द का प्रचलित अर्थ तर्क-विरुद्ध है? क्या लौकिक दृष्टांत और शास्त्रीय उल्लेख सर्वज्ञ शब्द का अर्थ इच्छित पदार्थज्ञ प्रमाणित करते हैं?

सर्वज्ञ शब्द के प्रचलित अर्थ को तर्क-विरुद्ध प्रमाणित करने

के लिये आक्षेपक ने जो-जो आपत्तियाँ उपस्थित की थीं उन सबका निराकरण हम इस लेखमाला में कर चुके हैं। अतः इनही आपत्तियों के आधार से सर्वज्ञ शब्द के प्रचलित अर्थ को तर्क-विरुद्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता।

"सब" शब्द का इच्छित पदार्थ अर्थ करने के लिये आक्षेपक ने कई दृष्टान्त उपस्थित किये हैं। वे सब एक ही प्रकार के हैं। अतः यहाँ हम एक-दो का ही उल्लेख करेंगे। वे आक्षेपक के ही शब्दों में निम्न प्रकार हैं—"हमारे शहर के बाजार में सब कुछ मिलता है इस वाक्य में सब कुछ का अर्थ बाजार में मिलने योग्य व्यवहारू चीजें हैं, जिनकी कि मनुष्य बाजार से आशा कर सकता है न कि सूर्य, चन्द्र, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मां, बाप आदि त्रिकाल त्रिलोक के समस्त पदार्थ।" "मुझसे क्या पूछते हो आप तो सब जानते हो। यहाँ पर भी जानने का विषय त्रिकाल त्रिलोक नहीं, किन्तु उतना ही विषय है जितना पूछने से जाना जा सकता है।"

सांख्यदर्शनकार कपिल ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये हैं। इनमें कुछ केवल कारणस्वरूप हैं। कुछ केवल कार्यरूप और शेष कारण और कार्यरूप हैं। पच्चीसवां तत्त्व जिसको साख्यदर्शन ने पुरुष संज्ञा प्रदान की है इन तीनों ही भेदों से भिन्न है। बुद्धि, अहंकार और पंचतन्मात्रायें कारण और कार्यरूप हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत और मन ये केवल कार्यरूप हैं, मूल प्रकृति केवल कारणरूप ही हैं।*

---

* मूलप्रकृति रविकृति महदादयः प्रकृति विकृतयः सप्त शोखषकश्च विकारो न प्रकृति विकृति पुरुषः। —सांख्यतत्वकौमुदी

बुद्धि प्रकृति का कार्य है और अहङ्कार की उत्पादक है। अतः उसको कार्य और कारण उभय रूप स्वीकार किया गया है। इसही प्रकार अहंकार बुद्धि का कार्य और सोलह गणों का कारण तथा पंच तन्मात्रायें अहंकार का कार्य और पंचमहाभूतों की उत्पादक हैं। अतः इनको भी उभयरूप माना गया है। कहने का निष्कर्ष केवल इतना ही है कि यहाँ कारण शब्द का प्रयोग दो दृष्टियों से होता है—एक केवल कारण की ही दृष्टि से और दूसरा कारण की भी दृष्टि से। यही बात सर्व शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में है। सर्वशब्द का प्रयोग एक तो वहाँ होता है जहाँ कि इसका आपेक्षिक वाच्य है। दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि एक मकान में चार मनुष्य हैं और वे चारों ही कहीं चले जाते हैं तो यह कहा जाता है कि सब मनुष्य चले गये। इसही में यदि कुछ मनुष्य और भी सम्मिलित हो जाते हैं तो फिर सम्मिलित मनुष्य सर्व कहलाते हैं और पहिली सर्वसंख्या अब असर्व हो जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था तब तक चली जाती है जब तक कि कुछ भी सम्मिलित करने के लिये अवशेष रहता है। सर्व शब्द का वाच्य वह भी है जहाँ कि बिल्कुल पूर्णता है और जिसको किसी भी दृष्टि से असर्वरूप नहीं किया जा सकता। सर्वशब्द के इन दो वाच्यों में से आपेक्षिक सर्व को सर्व कहना ही स्थिर नहीं है। जो अभी सर्व है वही थोड़ी ही देर में असर्व हो जाता है। यदि इसही के आधार से सर्वज्ञता मानी जायगी तो फिर वह भी अस्थिर ही ठहरेगी इसप्रकार सर्वज्ञ असर्वज्ञ और असर्वज्ञ सर्वज्ञ

भी कहलायंगे। ऐसा होने से अमुक व्यक्ति ही सर्वज्ञ है या अमुक व्यक्ति का कथन ही सर्वज्ञ का कथन है यह बात भी नहीं कही जा सकेगी !

सर्वज्ञ शब्द का अर्थ यदि इच्छित पदार्थज्ञ होता तो सर्वशब्द के व्यवहार की भांति सर्वज्ञ शब्द का व्यवहार भी इच्छित पदार्थज्ञ के लिये हुआ मिलना चाहिये था। आज वर्तमान जैन वाङ्मय में एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जो इस प्रकार के भाव का का समर्थन करता हो।

जहाँ कि इस प्रकार के उल्लेखों का अभाव है वहीं इसके विपरीत उल्लेखों से जैन वाङ्मय परिपूर्ण है। यही क्या बौद्ध साहित्य में भी इस बात का समर्थन होता है।† इन सब बातों के आधार से हम इस बात के कहने के अधिकारी हैं कि सर्वशब्द का आपेक्षिक दृष्टि से इच्छित पदार्थ के अर्थ में प्रयोग होने पर भी यह बात प्रमाणित नहीं होती कि सर्वज्ञ शब्द का अर्थ इच्छित पदार्थज्ञ है। अतः आक्षेपक के लौकिक दृष्टान्त उनका अभिलषितार्थ प्रमाणित करने में कार्यकारी नहीं।

---

† बौद्धों के 'अंगुत्तर निकाय' में निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र (भगवान् महावीर) का उल्लेख 'सर्वज्ञ और सर्वदर्शी' रूप में हुआ है। वहाँ कहा गया है कि "उनकी सर्वज्ञता अनन्त (Infinite) थी, वह हमारे चलते, बैठते, सोते, जागते हर समय सर्वज्ञ थे।" (AN., PTS., VOl. I p. 220) भ० महावीर के समय के लोग और खुद उनके भक्त जब सर्वज्ञता का अर्थ अनन्त—हर समय का ज्ञान करते हैं, तब भला कहिये उसके दूसरे अर्थ कैसे किये जायं ?

इस अर्थ के समर्थन में आक्षेपक ने जहाँ तक शास्त्रीय उल्लेखों का सम्बन्ध है नीति वाक्यामृत, चन्द्रप्रभ चरित, हरिवंश-पुराण और पद्मपुराण के कथन उपस्थित किये हैं।

'मज्झिम निकाय' में निर्ग्रन्थ श्रमण बुद्ध से कहते हैं कि "हमारे गुरू नातपुत्त सर्वज्ञ हैं......उन्होंने अपने अपरिमित ज्ञान से यह उपदेश दिया है कि तुमने पूर्वभव में पाप किया है इत्यादि।" (P. T. S. II p. 214)। इस उल्लेख से भी 'सर्वज्ञता' का अर्थ वह सिद्ध नहीं होता जो आक्षेपक बताते हैं, प्रत्युत इससे स्पष्ट है कि भगवान् के ज्ञान में जीवों के पूर्वभव झलकते थे अर्थात् वे अतीत का ज्ञान रखते थे। "संयुत्तनिकाय" का निम्न उल्लेख इस विषय को और भी स्पष्ट करता है। उसमें लिखा है कि:—

"प्रख्यात् ज्ञात्रिक नातपुत्त (महावीर) बतला सकते थे कि उनके शिष्य मृत्योपरान्त कहाँ जन्मे हैं और अगर कोई पूछता तो वह उनमें से प्रमुख को अमुक स्थान पर जन्म लेते बतला सकते थे"। (P. T. S. IV p. 398)।

इस उल्लेख से भगवान् की सर्वज्ञता में लोक स्थिति का चित्र झलकना प्रमाणित है—अन्यथा वह लोक में अमुक स्थान पर अपने शिष्य का जन्म होना नहीं बता सकते थे। अतएव 'सर्वज्ञता' का पुरातन और समीचीन अर्थ भूत-भविष्यत्-वर्तमान के पदार्थों का युगपत् ज्ञान ही है।

रॉकहिल सा० (Life of Buddha p. 259) लिखते हैं कि भ० महावीर ने सम्राट् अजातशत्रु से कहा था। "मैं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पुरुष हूं—मैं जो वस्तु है उसको जानता हूं। तुम्हारे सोते जागते, बैठते, उठते, चलते-फिरते मेरा ज्ञान प्रकाशमान और सर्वथा प्रगट रहता है।" इस उल्लेख से भी सर्वज्ञता का रूप स्पष्ट है।

नीति वाक्यामृत का वाक्य "लोक व्यवहारज्ञोहि सर्वज्ञः" है। इसका भाव यही है कि लोक व्यवहारज्ञ ही सर्वज्ञ है और 'सर्वज्ञ लोक व्यवहारज्ञ है' नहीं है इस बात के समर्थन में विद्वान् लेखक ने कोई युक्ति उपस्थित नहीं की है। प्रस्तुत वाक्य का दूसरा अर्थ करने पर प्रचलित मान्यता में कोई भी बाधा नहीं आती—प्रत्युत इससे तो उसका समर्थन ही होता है। वह साधन जिसकी विपक्ष व्यावृत्ति निश्चित नहीं अपने साध्य की सिद्धि में असफल ही रहता है। यही बात प्रस्तुत वाक्य के आक्षेपक के अर्थ की है। अतः स्पष्ट है कि नीति वाक्यामृत का प्रस्तुत वाक्य आक्षेपक के सर्वज्ञ के अर्थ के समर्थन में कार्यकारी नहीं।

चन्द्रप्रभ चरित्र के कथनों के सम्बन्ध में आक्षेपक का कहना है कि इनमें अवधि ज्ञानी मुनि को भी कालत्रय और लोकत्रय के अशेष पदार्थों का ज्ञाता बतलाया है। अवधि ज्ञानी मुनि कालत्रय और लोकत्रय के अशेष पदार्थों के ज्ञाता नहीं, यह एक ऐसी बात है जिसमें किसी को भी मतभेद नहीं है। इस ही प्रकार के व्यवहार दूसरे स्थानों पर भी हुए हैं। यहाँ हम आक्षेपक के इस सम्बन्धी वाक्यों को भी लिखे देते हैं जिससे विद्वान् पाठक उनके अभिप्राय को और भी विशदता के साथ जान लें।

"चन्द्रप्रभ चरित में पद्मनाभ राजा ने एक अवधिज्ञानी श्रीधर मुनि के दर्शन किए हैं। उस मुनि के वर्णन में कहा है—जिनके वचनों में त्रिकाल की अनन्तपर्याय सहित सब पदार्थ इसी प्रकार दिखाई देते हैं जिस प्रकार दर्पण में प्रतिविम्ब दिखाई देता है।

फिर राजा मुनि से कहता है—इस चराचर जगत में मैं उसे

"......मानता हूं जो आपके दिव्य ज्ञानमय चक्षु में प्रतिविम्बित नहीं हुआ।"

इस ही प्रकार लेखक महोदय ने राजा श्रोषेण सम्बन्धी भी एक उल्लेख उपस्थित किया है और वह लेखक के ही शब्दों में निम्नलिखित है:—"आप भूत भविष्यत् की सब बात जानते हो। आपके ज्ञान के बाहर जगत में कोई चीज नहीं है। फिर बताइये कि संसार की सब दशा का ज्ञान होने पर भी मुझे वैराग्य क्यों नहीं होता?

ये दोनों ही उल्लेख आक्षेपक के अभिमत को सिद्ध कर सकते थे, यदि ये इस ही प्रकार से होते जिस प्रकार कि इनको लेखक ने लिखा है। चन्द्रप्रभ चरित के इन दोनों कथानकों में आक्षेपक ने दो बात जोड़ दी हैं—एक मुनि श्रीधर का अवधिज्ञानी होना और दूसरी दूसरे उल्लेख के श्लोक के अर्थ में "सब" और आपके ज्ञान के बाहर जगत् में कोई चीज नहीं है। मुनि श्रीधर जिनके ज्ञान को आचार्य वीरनन्दि ने कालत्रय की अशेष पर्यायों का ज्ञाता स्वीकार किया है अवधिज्ञानी थे यह बात निराधार है। चन्द्रप्रभ चरित में इनके सम्बन्ध में जितने भी श्लोक मिलते हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं है जो इनको अवधिज्ञानी प्रमाणित कर सके। यहाँ मुनि कालत्रय की अनन्त पर्यायों को जानता है या नहीं, यह बात विवादस्थ नहीं; यहाँ तो केवल इतना ही विवाद है कि आया किसी भी शास्त्र में अवधिज्ञानी के लिये भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। यह बात तभी मानी जा सकती थी जब कि श्रीधर मुनि अवधिज्ञानी प्रमाणित हो जाते। मुनि केवलज्ञानी भी

तो होते हैं, यदि मुनि श्रीधर को भी ऐसा ही स्वीकार कर लिया जाता है तो यह बात बिलकुल ठीक बैठती है और बजाय इसके कि यह आक्षेपक के कथन का समर्थन करती उसके प्रतिकूल ही प्रमाणित करती है। ऐसी अवस्था में तो इससे यही प्रमाणित होता है कि शास्त्रकार केवलज्ञानी के सम्बन्ध में ही इस प्रकार का उल्लेख करते आये हैं तथा यह बात आक्षेपक के प्रतिकूल है। अतः स्पष्ट है कि चन्द्रप्रभ का पहिला उल्लेख आक्षेपक का अभीष्ट सिद्ध करने में असफल ही रहा है !

जिस प्रकार चन्द्रप्रभ चरित में मुनि श्रीधर को अवधिज्ञानी प्रमाणित करने वाला कोई वाक्य नहीं और यह आक्षेपक की निजी कल्पना है, उस ही प्रकार भूत और भविष्यत् की बातों के साथ "सब" और "आपके ज्ञान के बाहर जगत में कोई चीज नहीं है" को भी है। यदि आक्षेपक ने प्रस्तुत श्लोक के अर्थ को ज्यों का त्यों रक्खा होता तो फिर उनके इस प्रकार के विवाद को अवकाश भी न मिलता। विवादस्थ श्लोक निम्न प्रकार हैः—

यद्भाविभूतमथवा मुनिनाथ तत्ते।
बाह्यं न वस्तु कथयेद मतः प्रसीद ॥
संसारवृत्त मखिलं परिजानतोऽपि।
नाद्यापि याति विरतिं किमुमानसं मे ॥ २ । ५० ॥

इसका सरलार्थ निम्नलिखित है—हे मुनिनाथ ! जो होगा और जो हो चुका है वह आप के ज्ञान के बाहर नहीं है; कृपया बतलाइयेगा कि संसार की सब दशाओं को जानते हुए भी मेरा मन वैराग्य को प्राप्त क्यों नहीं होता ?

भूत को जानना और सम्पूर्ण भूत को जानना ये दो बातें हैं। एक व्यक्ति भूत की बात को जानता है तो उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण भूत काल की बात को जानता हो ! हर एक मनुष्य को भूतकाल की कोई न कोई बात स्मरण है ही, फिर भी उसको भूतकाल की बहुत सी बातें अस्मरण भी हैं। प्रस्तुत श्लोक में केवल भूत की बात का ज्ञान मुनिराज के स्वीकार किया गया है। अतः इसका यह तात्पर्य नहीं लिया जा सकता कि इस ही का यह अभिप्राय है कि मुनिनाथ को भूतकाल की सम्पूर्ण बातों का परिज्ञान है। अतः आक्षेपक का भूत और भविष्यत की बातों के साथ "सब" का जोड़ना श्लोक के बाहर और अतएव काल्पनिक बात है। "आपके ज्ञान के बाहर जगत की कोई चीज नहीं है" आक्षेपक का यह अंश तो श्लोक से बिलकुल ही असम्बन्धित है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि चन्द्रप्रभ चरित के दोनों उल्लेखों में से एक भी उल्लेख ऐसा नहीं है जो अल्पज्ञानी के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रमाणित करे जिनका प्रयोग कि पूर्णज्ञानी के ही लिए हो सकता है।

हरिवंशपुराण और पद्मपुराण की बातें भी ऐसी ही हैं। इनमें भी ऐसी कोई बात नहीं है जिसके बल पर यह कहा जासके कि पूर्ण ज्ञान के वाचक शब्दों का प्रयोग अल्पज्ञानी के सम्बन्ध में भी हुआ है ! पद्मपुराण १५-१२१ में तो साफ है कि हे मित्र ! तू ही तो जगत की लीला को जानता है, तुझको छोड़कर मैं अपना दुःख किससे कहूँ। एक मित्र का अपने दूसरे मित्र को जगत्त्रय

की लीला का ज्ञाता बतलाना ही उसको सर्वज्ञ स्वीकार करना नहीं है। एक नीतिज्ञ या अनुभवी व्यक्ति संसार के व्यवहार को भली भाँति जानता है और अतएव उसको तीनों जगत की लीला का ज्ञाता कहा जा सकता है। इसका यह तात्पर्य कैसे हो सकता है कि उसको सर्वज्ञ स्वीकार किया जा रहा है। इसही प्रकार की व्यवस्था प्रस्तुत श्लोक में है। इससे प्रगट है कि पद्मपुराण का यह अंश भी आक्षेपक की मान्यता के समर्थन में असफल ही रहा है। आक्षेपक ने अपनी "विरोधी मित्रों से" शीर्षक लेखमाला में इसके सम्बन्ध में फिर चर्चा चलाई है। आपकी इस चर्चा के निम्नलिखित वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं—"यह ठीक है कि पहिले सर्वज्ञ शब्द का अर्थ त्रिकाल त्रिलोकज्ञ भी होता रहा है। सो होता रहे। मैं कब कहता हूं कि वह वहाँ होता रहा है। वह होता रहा है तभी तो मुझे खण्डन करने की जरूरत हुई है। आक्षेपक के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि यदि उनके उपस्थित किये गये उदाहरणों का उनका ही अर्थ मान लिया जाय तब भी इनसे आक्षेपक की मान्यता का समर्थन नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में तो वे केवल इतना ही कह सकेंगे कि यहां पर इच्छित पदार्थों के अर्थ में ही "सब" शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे यह तो सिद्ध नहीं हो सकता कि सब शब्द की इसही अर्थ के साथ व्याप्ति है। इस शब्द का प्रयोग त्रिकालज्ञ और त्रिलोकज्ञ के अर्थ में स्वीकार करके व्याप्ति का खण्डत तो स्वयं आक्षेपक ने ही कर दिया है; अतः यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है कि कहीं-कहीं सब शब्द का प्रयोग इच्छित पदार्थों के अर्थ में देख कर सब

जगह इसी प्रकार की व्यवस्था की जासके। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आक्षेपक की इस युक्ति से भी उनकी मान्यता का समर्थन नहीं होता।

आक्षेपक ने इस सम्बन्ध में एक बात और उपस्थित की है और वह है श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की समानता। केवलज्ञान श्रुतज्ञान के समान है; इसके समर्थन में विद्वान् लेखक ने कई श्वेताम्बरी और दिगम्बरी शास्त्रों के उल्लेख उपस्थित किये हैं। आपने इस विषय पर टिप्पणी करते हुए निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—"त्रिकाल त्रिलोक की समस्त द्रव्य पर्यायों को न तो केवलज्ञान जान सकता है और न श्रुतज्ञान जान सकता है। परन्तु जैन विद्वान् श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार करने के लिए तैयार हैं परन्तु केवलज्ञान के विषय में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं, परन्तु जब दोनों बराबर हैं तब दोनों को एक सरीखा मानना चाहिये।"

जहाँ तक दोनों ज्ञानों की समानता का प्रश्न है वहाँ तक यह एक अविवाद की बात है, किन्तु जब आक्षेपक की यह बात आ जाती है कि जैन विद्वान श्रुतज्ञान को तो त्रिकाल त्रिलोक को समस्त द्रव्य पर्यायों का न जान सकने वाला स्वीकार करने को तैयार हैं तब ही मतभेद हो जाता है। आक्षेपक की यह धारणा मिथ्या है। जैन विद्वानों ने इस बात को कहीं भी स्वीकार नहीं किया है और न वे करने को ही तय्यार हैं। जैन विद्वान तो इसके विपरीत ही कथन करते आये हैं। प्रमाण के रूप में वे सब बातें उपस्थित की जा सकती हैं जिनको विद्वान् लेखक ने केवलज्ञान

और श्रुतज्ञान की एकता के समर्थन में प्रस्तुत किया है।

जैन मान्यता श्रुतज्ञान को यदि समस्त द्रव्य पर्यायों के जानने की शक्तिवाला स्वीकार न करती तब तो इसके आधार से केवलज्ञान को भी ऐसा ही स्वीकार किया जासकता था, किन्तु बात इससे विपरीत है। अतः आक्षेपक का यह तर्क भी उनके साध्य के समर्थन में असफल ही प्रमाणित हुआ है।

प्रश्न—श्रुतज्ञान समस्त द्रव्यपर्यायों को जान सकता है ऐसा कह देना तो सरल है, किन्तु इसका सिद्ध करना टेढ़ी खीर है। यदि आपका विश्वास ऐसा ही है तो कृपया यह बतलाइयेगा कि आज हम भूतकाल या भविष्यतकाल की उन घटनाओं को जिनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक पुस्तकों में एक अक्षर भी नहीं पाते कैसे जान सकते हैं ?

उत्तर—भूत और भविष्यत काल की जिन घटनाओं के संबन्ध में आपका प्रश्न है उनके सम्बन्ध में आप यह तो अवश्य स्वीकार करेंगे कि उनको उस उस समय के मनुष्य या प्राणी जानते थे या जानेंगे। जो प्राणी उन-उन घटनाओं को जानते थे या जानेंगे, स्वभाव की दृष्टि से वे हमारे समान हैं। वे दो वस्तुएं जो आपस में समान हैं उनमें से एक वस्तु जिसको करती है दूसरी भी उसही को कर सकती है दृष्टान्त के लिये यों समझियेगा कि एक रुपया और चार चवन्नी आपस में बराबर हैं; अब यदि चौंसठ पैसे एक रुपये के बराबर हैं या जितने अन्न को एक रुपये द्वारा खरीदा जा सकता है तो यह बात स्वयं माननी पड़ती है कि वे ही चौंसठ पैसे चार चवन्नियों के भी समान हैं और

चार चवन्नियों से भी उतना ही अन्न खरीदा जा सकता है। इससे प्रगट है कि उन बातों को जानने की शक्ति आज भी हमारे श्रुत-ज्ञान में मौजूद है। दूसरी बात यह भी है कि यदि भूत और भविष्यत की घटनाओं के जानने की शक्ति हमारे श्रुतज्ञान में न होती तो हम आज रामायण और महाभारत की बातों को भी नहीं जान सकते थे। अन्य भी कोई ऐसी बात नहीं है जिसके जानने की शक्ति हमारे श्रुतज्ञान में न हो। अतः स्पष्ट है कि जैन शास्त्रों का श्रुतज्ञान को केवलज्ञान के तुल्य वर्णन करना पूर्ण युक्ति-युक्त है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि आक्षेपक के लौकिक एवं शास्त्रीय उल्लेख जिनसे वे सर्वज्ञता का अर्थ इच्छित पदार्थज्ञ ही प्रमाणित करना चाहते थे इस बात के समर्थन में असफल रहे हैं। अतः आक्षेपक की प्रस्तुत मान्यता भी मिथ्या है।

निष्कर्ष

आक्षेपक के सर्वज्ञता सम्बन्धी कथन को यदि संक्षेप में कहना चाहें तो यों कहना चाहिये कि आपके विचारानुसार सर्वज्ञता की प्रचलित मान्यता एक विकृत मान्यता है। भगवान महावीर के उपदेश से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं! इसका आधार तो वर्तमान जैन साहित्य है। वर्त्तमान जैन साहित्य का निर्माण भगवान महावीर के कई सौ वर्ष बाद में हुआ है, अतः यह बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसमें जो कुछ भी बातें मिलती हैं वे सब भगवान महावीर के उपदेश स्वरूप ही हैं। भगवान

महावीर के निर्माण को ज्यों २ समय व्यतीत हुआ है त्यों-त्यों उनके उपदेश में विकार आते गये हैं। यदि यह बात मिथ्या होती तो आज एक ही महापुरुष का कथन श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय मान्यता के भेद से भिन्न रूप न मिलता। कुछ भी सही, यह एक ऐसी बात है जिसके सम्बन्ध में मतभेदों को गुञ्जायश नहीं। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान जैन साहित्य को भगवान महावीर के वास्तविक उपदेश को ढूंढ़ निकालने के लिये प्रमाण के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। हाँ, इसको साक्षी का रूप दिया जा सकता है। साक्षी के कथन को मानना ही चाहिये, पर एकान्त नहीं। साक्षी के कथन में जिस समय कुछ ऐसी बातें मालूम हो जाती हैं जिनसे उनकी सत्यता शङ्कित हो जाती है उस समय उसको अमान्य ठहरा दिया जाता है। यह सब साक्षी के कथन के परीक्षण के द्वारा होती है। यही बात वर्तमान जैन साहित्य के संबंध में है। हमको वर्तमान जैन साहित्य का भी परीक्षण करना चाहिये और जो २ बातें अकाट्य प्रतीत हों उन्हीं को भगवान महावीर का उपदेश समझना चाहिये!

विद्वान लेखक ने अपनी उपर्युक्त धारणा के आधार से वर्तमान जैन साहित्य के सर्वज्ञता सम्बन्धी कथन की परीक्षा की है और परिणाम को इस रूप में पाया है कि भगवान महावीर ने सर्वज्ञता के प्रचलित स्वरूप का प्रतिपादन नहीं किया था। या यों कहिये कि भगवान महावीर का सर्वज्ञता से तात्पर्य सर्वज्ञता की प्रचलित मान्यता से नहीं था। भगवान वीर के विचारानुसार तो सर्वज्ञता एक उपयोग विशेष है जो कि मन की सहायता से होता है और

जिसके ज्ञेय जगत के सम्पूर्ण पदार्थ नहीं हैं। यही नहीं यह अन्य ज्ञानों की भांति कभी २ हुआ करता है और इसके साथ ही साथ आत्मा में अन्य ज्ञान रहते हैं।

आपने इसके समर्थन में निम्नलिखित बातें उपस्थित की हैं:—

(१) सर्वज्ञता सम्बन्धी प्रचलित मान्यता की समर्थक युक्तियों का युक्त्याभास होना।

(२) केवली के भी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का क्रम-वर्तित्व।

(३) केवलज्ञान का उपयोगात्मक होना।

(४) केवली के मन का अस्तित्व।

(५) केवलज्ञान के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्व।

(६) सर्वज्ञ शब्द का अर्थ।

जहां कि आक्षेपक की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में उपर्युक्त धारणा है वहां हमारा मन्तव्य इससे भिन्न है। हमारे विचारानुसार सर्वज्ञता उपयोग विशेष होने पर भी वह न समय-समय पर होती है और न उसके निमित्त मन की सहायता की ही आवश्यकता है। वह तो सदा प्रकाशमान रहती है और केवल आत्म-मात्र सापेक्ष है। सर्वज्ञता के साथ अन्य ज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार करना या उसको सर्व पदार्थ विषयक स्वीकार न करना भी अयौक्तिक एवं महावीर परम्परा के प्रतिकूल है।

भगवान महावीर के निर्माण काल के पश्चात् महावीर के उपदेश में परिवर्तन एवं परिवर्धन अवश्य हुए किन्तु वे जहाँ हुए वहीं हुये। इसके आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि आज

जितना भी जैन साहित्य उपलब्ध है यह सब विकृत और अतएव अमान्य है। वर्तमान जैन साहित्य में जहाँ २ विकार आ गया है उसको अवश्य अमान्य कहा जा सकता है, किन्तु जहाँ विकार की गन्ध भी नहीं है उसको अमान्य कहना बुद्धिमानी नहीं। वर्त्त-मान जैन साहित्य में कौन २ विकारी है और कौन २ अविकारी। इस बात का निर्णय परीक्षा के बल पर ही किया जा सकता है। अतः हम जैन शास्त्रों की परीक्षा के विरोधी नहीं हैं। यहां परीक्षा के ढङ्ग पर भी चर्चा कर लेना अनुपयोगी न होगा। आक्षेपक ने जैन जगत वर्ष ७ अङ्क १३ पृ० १ पर इसके सम्बन्ध में निम्न-लिखित वाक्य लिखे हैं:—

"शास्त्रों में हमें शुद्ध धर्म नहीं मिलेगा किन्तु उसके खोजने की सामग्री मिलेगी। वैज्ञानिक कसौटी पर कस कर जो बातें हमें ठीक मालूम हों उन्हें जैन धर्म में रखना चाहिये बाकी को विकार समझ कर अलग कर देना चाहिये"।

इन वाक्यों से आक्षेपक का यदि यह अभिप्राय है कि जो २ बातें वैज्ञानिक कसौटी अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के प्रतिकूल हों उनको विकार समझ कर निकाल देना चाहिये तब तो इस विषय में आक्षेपक तथा हमारे बीच कोई अन्तर नहीं है तथा यह वही मार्ग है जिसका प्रतिपादन आज से लगभग १८०० वर्ष पूर्व स्वामी समन्तभद्राचार्य ने किया था। तथा यदि पूर्व लिखित पंक्तियों से आक्षेपक का यह भाव हो कि जो २ वैज्ञानिक कसौटी प्रत्यक्ष अनुमान से सिद्ध न हो उनको विकार समझ कर निकाल देना चाहिये तब हम आपसे बहुत दूर हैं। आपका यह भाव ठीक

नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसपरिस्थिति में तो अनेक अन्य बातें भी हमको निकाल देनी होंगी।………आगमगम्य अनेक ऐसे विषय हैं—जिनको प्रत्यक्ष अनुमान जान ही नहीं सकते। ऐसी दशा में उनको विकार या असत्य कह देना अन्याय है—परीक्षा का उपहास है।

जैन धर्म के मर्म का रूप तो उसी को दिया जा सकेगा जिस का प्रतिपादन भ० महावीर ने किया है और जो शिष्यपरम्परा से अब तक चला आ रहा है; अतः किसी भी बात को जैन धर्म के मर्म का रूप देने के लिये हमको यह भी देखना होगा कि यह बात भगवान् महावीर की उपदेश परम्परा में से है या नहीं? यदि कोई बात इसके प्रतिकूल प्रमाणित हो तो हमको परीक्षा प्रधानी होने की दृष्टि से उसको अमान्य कर देने का अधिकार है। जहां हमको इस बात का अधिकार है वहीं हमको इस बात का अधिकार नहीं कि हम उसके स्थान पर नवीन बातों की स्थापना करें, यदि हम ऐसा करते हैं तो ऐसी बातें हमारे निज मन्तव्य हैं या हो सकते हैं न कि जैन धर्म का मर्म।

हमारे इन वाक्यों की समालोचना स्वरूप आक्षेपक ने निम्न-लिखित वाक्य लिखे हैं—

"जो बातें प्रत्यक्ष और अनुमान के प्रतिकूल हैं प्रायः इन्हीं को निकाल बाहर किया गया है परन्तु बहुत सी असिद्ध बातें भी निकाली जाती हैं, अगर वे उपमान वगैरह से अविश्वसनीय मालूम होती हों अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय के भीतर होने पर भी सिद्ध न होती हों, भौतिक विज्ञान संबंधी बहुत सी बातें इस

श्रेणी की हैं। आगमगम्य वे ही बातें हम नहीं जान सकते जो पौराणिक कहलाती हैं किन्तु इसीलिये वे सब विश्वसनीय नहीं हो जातीं अन्यथा हमें जैन पुराणों पर ही क्यों सभी पुराणों पर विश्वास करना चाहिए—

प्रत्यक्ष अनुमान का विषय न होने पर भी अगर हमें यह मालूम हो जाय कि अमुक बात राग, भक्ति या द्वेषवश होकर लिखी गई है तो हम उससे आप्तवचन न मानकर छोड़ देंगे।"

परम्परा की और व्यक्ति विशेष की गुलामी करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है परन्तु जो सत्यान्वेषी और कल्याणेच्छु है वह सत्यता असत्यता का ही निर्णय करना चाहता है। वह अगर अपने को जैन मानता है तो वह जैन धर्म को सत्य न कहेगा, किन्तु सत्य को जैन धर्म कहेगा। अगर वह बौद्ध है तो वह बौद्ध-धर्म को सत्य न कहकर सत्य को बौद्ध-धर्म कहेगा। इसी प्रकार वह अपने को किसी भी धर्म का अनुयायी मानता हो, किन्तु वह सत्य का ही अनुयायी होगा मैं जैन-धर्म को सत्य नहीं, किन्तु सत्य को जैन-धर्म मानता हूँ।.........रही नवीन कल्पना की बात सो परम्परा विश्वसनीय न होने से यह कहना कठिन है कि यह बात नवीन है या लुप्ततत्व का अन्वेषण है जहाँ प्रचलित परम्पराओं में से किसी का भी मत कसौटी पर ठीक नहीं उतरता और उस जगह पर किसी न किसी बात का अस्तित्व अवश्य रहता है तब जो सम्भव मालूम होता है उसी की कल्पना की जाती है। दूसरी बात यह है कि जिस दृष्टिविन्दु के आधार पर कोई तीर्थंकर कोई बात कहता है उसी दृष्टिविन्दु को लेकर

विज्ञान की असाधारण प्रगति की सहायता से अगर महावीर भगवान् के वक्तव्य में थोड़ा-बहुत संशोधन किया जाय या उसका कुछ विकाश किया जाय तो यह सब उनके अनुकूल ही होगा।

जहाँ हमको आगमगम्य बातों की प्रत्यक्ष और अनुमान की अप्रतिकूलता देखनी है वहीं यह भी देखना है कि अमुक २ बातें आगम की मर्यादा के अन्दर भी आती है या नहीं। आगम की तरह आगमाभास भी है। राग, द्वेष और मोह युक्त वक्ता के वचन से जो ज्ञान होता है वह आगमाभास है। जहाँ भी इस प्रकार की बातों का अस्तित्व मिलता है उसको तो आगम ही स्वीकार नहीं किया जा सकता ऐसी परिस्थिति में आक्षेपक का लिखना कि "अमुक बात राग द्वेष या भक्तिवश होकर लिखी गई है तो हम आप्तवचन न मान कर छोड़ देंगे" कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करता ऐसा लिखना तो केवल पिष्टपेषण ही है। शास्त्रकारों ने यदि आगम और आगमाभास के विवेक की बात न बतलाई होती तब तो आपका लिखना किसी अंश में उपयोगी हो सकता था। यही बात आपके "परन्तु बहुत-सी असिद्ध बातें भी निकाली जाती हैं अगर वे उपमान वग़ैरह से अविश्वसनीय मालूम होती हों" वाक्य के सम्बन्ध में है।

आक्षेपक को इस बात के उपस्थित करने की तो तभी आवश्यकता हो सकती थी जब कि शास्त्रकारों ने ऐसा स्वीकार न किया होता, शास्त्रकार यह नहीं बतलाते कि आप परीक्षा न करें और आँखों पर पट्टी बाँधकर किसी भी बात को सत्य स्वीकार करलें।

यदि आप ऐसा करते हैं तो यह आपकी त्रुटि है या कही जा सकती है न कि शास्त्रकारों की या जैन-सिद्धान्त की। शास्त्रकारों ने तो ऐसी बातों के वर्णन को आगम मानने से ही इन्कार किया है। आचार्य समन्तभद्र ने आगम के लक्षण में "अदृष्टेष्टविरोकम" विशेषण का प्रयोग किया है।* इसका तात्पर्य यह है कि आगम के लिये यह भी अनिवार्य है कि उसमें प्रत्यक्ष और अनुमानादि से विरोध न आता हो। अनुमान के साथ आदि शब्द से उपमानादिक को भी ले सकते हैं। अतः आक्षेपक का उपर्युक्त वाक्य भी परीक्षा के मार्ग के निर्णय के अनुपयोगी है।

अब इस सम्बन्ध में आक्षेपक की दो ही बातें रह जाती हैं। एक प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ प्रायः शब्द का प्रयोग और दूसरी प्रत्यक्ष और अनुमान के ज्ञेयों का उनसे सिद्ध न होने पर अमान्य बतलाना; आक्षेपक ने यदि दूसरी बात न लिखी होती तो उनको प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ प्रायः शब्द के प्रयोग की आवश्यकता न पड़ती यहां भी आक्षेपक ने गलती की है। बहुत सी ऐसी बातें हैं जो केवल प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा उभय से सिद्ध हो सकती हैं, किन्तु फिर भी हम वैसा नहीं कर सकते तो इसका यह तात्पर्य थोड़े ही है कि उनको अमान्य ही कर दिया जाय। आज जिन-जिन भौतिक तत्त्वों के आविष्कार हो चुके हैं वे ही आज से एकसौ वर्ष पूर्व प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध नहीं किये जा सकते थे, किन्तु एतावता उस समय इनका अभाव

---

* दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधोयस्य
—रत्नकरण्ड सं० टीका श्लोक

बतलाना भी तो युक्तियुक्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। आक्षेपक चौदह गुण स्थानों को स्वीकार करते हैं। एक समय था जब ऋषिगण इनमें से उच्च से उच्च गुणस्थान का अनुभव करते थे। अतः इनको प्रत्यक्ष के विषय से बाहर तो किसी भी प्रकार माना नहीं जा सकता किन्तु फिर भी आज हम उनको प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते।

उपर्युक्त परिस्थिति में यही बात युक्ति युक्त प्रतीत होती है कि कोई भी बात क्यों न हो चाहे वह प्रत्यक्ष अनुमान की ज्ञेय हो अथवा आगम की यदि वह प्रत्यक्ष और अनुमानादि के प्रतिकूल प्रमाणित हो तो हमें उसको अमान्य ठहराना चाहिये। जहाँ हमको यह अधिकार है वहीं हमको यह नहीं करना चाहिये कि यदि ऐसी कोई बात प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध न होती हो तो हम उसकी अमान्यता का फतवा प्रदान कर दें। ऐसी अवस्था में अनेक सत्य बातों से भी हाथ धोना पड़ेगा। अतः आक्षेपक का प्रायः विशेषण ठीक प्रतीत नहीं होता और यदि उनके वाक्य में से प्रायः को हटा दिया जाय तब तो परीक्षा के मार्ग के सम्बन्ध में हम में और उनमें मत भेद की गुञ्जायश ही नहीं रह जाती। प्रायः शब्द के निकाल देने पर आपका वाक्य निम्नप्रकार रह जाता है "जो बातें प्रत्यक्ष और अनुमान के प्रतिकूल हैं इनही को निकाल बाहर किया गया है।" परीक्षा का मार्ग स्वामी समन्तभद्र ने बतलाया है जैसा कि हमारे पूर्व विवेचन से प्रकट है। अतः परीक्षा के समय हमें इस ही दृष्टिकोण को सामने रखना चाहिये।

जिस प्रकार परम्परा या व्यक्ति विशेष की गुलामी करने के

लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है उस ही प्रकार अपने को स्वतन्त्र समझना या घोषित करना भी एक सरल बात है। ऐसा समझने या करने से ही वह स्वतन्त्र नहीं हुआ करता, स्वतन्त्र होने के लिये तो अनुपम वलिदान की आवश्यकता है। बेचारा एक क्षुद्र जन्तु भी जब किसी कार्य को कर लेता है तब वह उसमें अपने को स्वतन्त्र अनुभव करता है किन्तु उसकी स्वतन्त्रता क्या है, फिर भी यह रहस्य की ही बात है। आक्षेपक यदि अपने को किसी परम्परा या व्यक्ति विशेष का अनुयायी नहीं समझते तो उनको धर्मों के मर्मों को लिखकर जनता को उनके अनुयायी बनने की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं थी। उनका कर्त्तव्य था कि वह अपने स्वतन्त्र मार्ग की स्थापना करते। जब तक वह किसी के भक्त या अनुयायी हैं अथवा धर्म या धर्मों के, चाहे वह समन्वयात्मक ढङ्ग से हो या असमन्वयात्मक ढङ्ग से, प्रचारक हैं तब तक वह भी इस प्रकार की दासता से दूर नहीं हैं। यदि दासता को बिना स्वीकार किये भी किसी के गुणों का या उसके मार्ग का भक्त या अनुयायी बना जा सकता है तब फिर भगवान महावीर का भक्त होना या उसके मार्ग का अनुयायी बनना ही आक्षेपक दासता क्यों समझने लगे हैं ?

किसी भी बात के निर्माण और उसके स्पष्टीकरण में महान् अन्तर है। जहां कि निर्माण एक स्वतन्त्र बात है और इसके लिये अन्याधार की आवश्यकता नहीं वहीं स्पष्टीकरण एक परा-श्रित बात है और इसके लिये उसके आश्रय की आवश्यकता है जिसका यह किया जाता है। आक्षेपक जैन धर्म का निर्माण नहीं

कर रहे किन्तु उसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। अतः उनका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह जैन धर्म का मर्म लिखते समय अपनी प्रत्येक बात के समर्थन में जैन साहित्य के अंश विशेष को उपस्थित किया करें। यदि वह ऐसा नहीं करते तो यों कहना चाहिये कि जैन धर्म के मर्म की आड़ में वे अपने विचारों का जैन समाज में प्रचार करना चाहते हैं। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि आक्षेपक को अपने विचारों के प्रचार का अधिकार नहीं है या उनको ऐसा नहीं करना चाहिये, किन्तु यह है कि उनको अपने विचार अपने नाम से रखने चाहिये। उनका यह कर्तव्य नहीं कि वह जैन धर्म के मर्म के नाम पर अपने विचार रक्खें। जैन धर्म के मर्म से, तो जैन धर्म का ही मर्म लिखा जाना चाहिये।

सत्य जैन धर्म है न कि जैन धर्म सत्य, इसको जैन धर्म की मान्यता का रूप देने के लिये कम से कम किसी आधार को तो उपस्थित करना था। यह भी तो बतलाना था कि इन दोनों की विषम व्याप्ति ही क्यों मानी जाय? सत्य और जैन धर्म की सम-व्याप्ति मानने में क्या आपत्ति है? वह कौनसा जैन धर्म है जो सत्य के भी अतिरिक्त है जिससे जैन धर्म और सत्य की समव्याप्ति नहीं बन पाती?

सत्य ही यदि जैन धर्म है तो इस सत्य का नाम जैन धर्म क्यों पड़ा? इस ही प्रकार यदि सत्य ही बौद्ध, इस्लाम, ईसाई और वैदिक धर्म है तो इसके इस नामभेद का क्या कारण है? अखीर में चलकर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका उपदेश जिन-तीर्थङ्कर ने दिया था अतः यह जैन धर्म कहलाया। आक्षे-

पक ने स्वयं भी अपने पहिले लेखों में ऐसा ही स्वीकार किया है। आक्षेपक के इन लेखों के कुछ अंशविशेषों को यहाँ हम लिख देना अनावश्यक नहीं समझते।

"वर्तमान में जो जैन धर्म है उसका श्रेय श्रमण भगवान महावीर को है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन धर्म इनसे पुराना है" जैन-जगत वर्ष ७ अङ्क ६ पृ० ३ "इस व्याख्यान में मैंने जैन धर्म को स्वतन्त्र धर्म सिद्ध किया था और भगवान महावीर तथा भगवान की ऐतिहासिकता सिद्ध की थी। इस प्रकार जैन धर्म को २८०० वर्ष का सिद्ध करके……।" जैन-जगत वर्ष ६ अङ्क १७ पृ० ४।

इससे प्रकट है कि अब तक आक्षेपक जैन-धर्म से 'भगवान महावीर और भगवान पार्श्वनाथ प्रतिपादित उपदेश' को ही ग्रहण करते रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो क्यों तो इसका श्रेय भ० महावीर को दिया जाता और क्यों ही इसको २८०० वर्ष प्राचीन बतलाते। अब चाहे आक्षेपक सत्य को जैन धर्म कहें या किसी अन्य को; किन्तु इतना तो फिर भी मानना पड़ेगा कि इस सत्य का उपदेश हमको भगवान महावीर आदि तीर्थङ्करों ने ही दिया था अतः यही सत्य जैन धर्म कहलाया। ऐसी परिस्थिति में विषमव्याप्ति को कोई स्थान ही नहीं रह जाता। तीर्थंकर जिन कहलाते हैं अतः इनका कथन या इनका बतलाया हुआ वस्तु स्वभाव जैन धर्म कहलाता है। इस ही प्रकार महात्मा बुद्ध के उपदेश का नाम बौद्ध धर्म और महात्मा ईसा, मोहम्मद आदि के उपदेश का नाम ईसाई और इस्लाम है। जहाँ कि इन सब धर्मों

में कुछ थोड़ी भी बातों में समानता है वहीं बहुत सी बातें ऐसी भी हैं जो एक धर्म की दूसरे धर्म से नहीं मिलतीं। धार्मिक बातों के समान इनके प्रवर्तकों की जीवन घटनाएं भी आपस में समानता नहीं रखती। अतः सब धर्मों के लक्षण कोटि में सत्य को नहीं रक्खा जा सकता। अस्तु, यह एक विषयान्तर की बात है और इस पर पूरी तौर से उस समय विचार किया जायगा जबकि आक्षेपक इन धर्मों के मर्म को लिखकर अपने प्रतिज्ञावाक्य को सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। अभी तो केवल इतना ही देखना है कि भ० महावीर आदि के उपदेश का नाम ही जैनधर्म है। अतः जैनधर्म का मर्म भी वही कहा जा सकता है जो कि महावीर भ० की उपदेश परम्परा का सार है।

इसके सम्बन्ध में आक्षेपक का लुप्ततत्व का अन्वेषण या विकाश वाला समाधान भी युक्तियुक्तप्रतीत नहीं होता। अमुक बात नवीन कल्पना नहीं है और लुप्त तत्व का अन्वेषण है, इसका समर्थन भी तो होना चाहिये। यदि ऐसे ही लुप्त तत्व के अन्वेषण वाली बात मान ली जाय तो प्रत्येक नवधर्म प्रचारक अपने धर्म को लुप्त तत्वके अन्वेषण का रूप दे सकता है। यह बात ऐसी है जैसे आर्य समाजी बन्धु कहा करते हैं कि रेल, तार, वायुयान आदि जितने भी आविष्कार हुए हैं वे सब वेदों के आधार से ही किए गए हैं। वेदों में इन सब का वर्णन मौजूद है। जिस प्रकार आर्य समाज के पास अपनी प्रतिज्ञा के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं है ठीक ऐसी ही परिस्थिति आक्षेपक की है। अतः नवीन बातों के वर्णन में लुप्त तत्व के अन्वेषण वाली बात तो स्वीकार नहीं की जा सकती।

विकाश के सिद्ध करने के लिये उसका मूल रूप तो वहाँ बतलाना ही होगा। कहीं भी जब तक किसी भी बात का मूल अंश न बतला दिया जाय तब तक यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि अगाड़ी जो कुछ भी कहा गया है वह सब उसके ही आधार पर विकाश स्वरूप है।

विकाश और संशोधन में भारी अन्तर है। विकाश में किसी को पल्लवित किया जाता है किन्तु संशोधन में उस सुधारणा की जाती है। इसको यो समझियेगा कि चित्र का एक तो एन्लार्जमेंट (enlargement) किया जाता है और दूसरा इसका संशोधन। जहाँ पहिले में उस के आकार में अन्तर नहीं आता किन्तु केवल उसको बढ़ा दिया जाता है वहीं दूसरे में आकार परिवर्तन भी होता है।

किसी भी तीर्थंकर ने जिस परिस्थिति में उपदेश दिया है सम्भव है वह ऐसी ही हो जिससे किसी बात को उन्हें सूत्ररूप में ही कहना पड़ा हो, किन्तु ऐसा नहीं हुआ कि उन्होंने अपने उपदेश में असत्य बातें भी कही हों। सत्य को जैनधर्म कहने वाले आक्षेपक की दृष्टि से भी यह बात ठीक नही बैठती अतः जहाँ पहिली बात किसी दृष्टि से मानी जा सकती है वहीं दूसरी बात के परिवर्तन के लिये तो वहाँ बिलकुल स्थान ही नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से प्रगट है कि जैन धर्म परीक्षा प्रधानता का विरोधी नहीं। उसने इसको बड़े ही आदर योग्य शब्दों में स्मरण किया है। जैन शास्त्रों में स्थान २ पर इसके उल्लेख मिलते हैं किन्तु वह परीक्षा का मार्ग वही मानता है जिसका प्रतिपादन

आचर्य समन्तभद्र ने किया है तथा यह समुचित भी है।

साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जैन धर्म के मर्म में वे ही बातें आ सकती हैं जिनका समर्थन कि जैन शास्त्रों से होता हो।

इन्हीं बातों को सामने रख कर हमने इस पुस्तक में आक्षेपक के सर्वज्ञता सम्बन्धी विचारों की परीक्षा की है तथा हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि आक्षेपक को युक्तियाँ जिनमें वह अपनी मान्यता का समर्थन करना चाहते हैं, मिथ्या है। अतः इनके द्वारा आक्षेपक की मान्यता को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यहाँ हम एक बात और भी लिख देना आवश्यक समझते हैं और वह है सर्वज्ञता के इतिहास के सम्बन्ध में! आक्षेपक ने सर्वज्ञता के इतिहास के सम्बन्ध में लिखते हुए बतलाया है कि सर्व प्रथम ईश्वर के कर्तृत्ववाद की सृष्टि हुई। इसके बाद ईश्वर के अस्तित्व को न मानने वालों ने जीव को अवस्था विशेष में सर्वज्ञ स्वीकार किया; यही नहीं, इसके बाद भी अनेक मान्यताओं के निर्माण हुए। इनमें युक्त योगी, युञ्जान योगी आदि की बातें और मीमांसा और सांख्यदर्शन की मान्यताओं को ले सकते हैं। विद्वान् लेखक के इस अभिप्राय को यदि संक्षेप में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि आपके विचारानुसार सर्व प्रथम कर्तृत्ववाद, उसके बाद निरीश्वर सर्वज्ञवाद और उसके पश्चात् मीमांसा और सांख्यदर्शनों का निर्माण हुआ है।

किस दर्शन का किस समय प्रादुर्भाव हुआ और वह किस २ दर्शन से प्राचीन और किस २ से नवीन है, इस बात का निर्णय

दो बातों के आधार से हो सकता है। एक उस-उस दर्शन की मान्यता और दूसरी स्वतन्त्र ऐतिहासिक सामिग्री। जहाँ तक कि सम्प्रदाय विशेष के विश्वास की बात है, वहीं तक पहिले प्रकार का निर्णय कार्यकारी हो सकता है। ऐसे निर्णय का निष्पक्ष परीक्षक के लिये कोई मूल्य नहीं। हरएक व्यक्ति अपने-अपने धर्म को अनादि मानता और उस पर विश्वास करता है, किन्तु उसकी उस मान्यता की उसही तक सीमा है। निष्पक्ष विचारक तो इसमें रंचमात्र भी तथ्य अनुभव नहीं करता। दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार के आधार से एक साथ अनेक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में निर्णय भी नहीं हो सकता। अतः प्रकृत विषय के निर्णय के लिये पहली बात तो उपयोगी प्रमाणित नहीं ठहरती। अब रह जाती है स्वतन्त्र ऐतिहासिक सामग्री की बात। इसमें वर्तमान साहित्य, प्राचीन भग्नावशेष और प्राचीन शिलालेखों को ही लिया जा सकता है। आज जितना भी साहित्य उपलब्ध है उसमें वेदों को और उनमें से भी ऋग्वेद को ऐतिहासिक प्राचीन स्वीकार करते हैं। यदि इसही बात को स्वीकार कर लिया जाय तब भी दार्शनिक विचारों के निर्माण के सम्बन्ध में आक्षेपक की कल्पना सत्य प्रमाणित नहीं होती। ऋग्वेद के निर्माण का काल महाभारत का समय है। ऋग्वेद में स्वयं इस प्रकार के मन्त्र मिलते हैं जिनसे इस बात की सत्यता प्रमाणित होती है।* ऋग्वेद के

---

* या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

—ऋग्वेद मं० १० सू० ९७ मं० १

इस मन्त्र में तीन युग पहिले उत्पन्न हुई औषधियों का वर्णन

समय ईश्वर को कर्मफल दाता या जगत का निमित्त कारण स्वीकार नहीं किया जाता था। ऋग्वेद में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जिसमें इस प्रकार की मान्यता को उस समय प्रमाणित किया जा सके, प्रत्युत ऐसे मन्त्र तो मिलते हैं जिनसे आक्षेपक की कल्पना का खण्डन होता है। ऋग्वेद में अद्वैतवाद का स्पष्ट वर्णन है।† ऋग्वेद में इस प्रकार के मन्त्रों का भी अभाव नहीं है जिनसे ऋग्वेदकाल में सांख्यदर्शन के तत्वों का सद्भाव प्रमाणित किया जा सके। ऋग्वेदकार ने प्रलय का वर्णन करते हुए स्पष्ट स्वीकार किया है कि उसकी मान्यता के समय, प्रलय के समय, सत्, असत, रज और आकाश आदि नहीं थे।¶ इससे प्रकट है कि जिस समय ऋग्वेद के इस मन्त्र का निर्माण हुआ है उस समय इस प्रकार की तत्व व्यवस्था मौजूद है जिसका प्रलयकाल में उक्त शास्त्रकार ने अभाव स्वीकार किया है। ऋग्वेद के इस मन्त्र पर भाष्य करने वाले प्रायः सब ही भाष्यकारों ने इन शब्दों को सांख्यदर्शन के मान्य तत्वों में ही घटित किया है। मीमांसक विचारों का अस्तित्व तो ऋग्वेद के समय मानना ही पड़ता है। ऋग्वेद का क्रियाकाण्ड प्रायः मीमांसा से ही सम्बन्धित है।

है। इससे प्रमाणित है कि जिस समय इस मन्त्र की रचना हुई थी, उस समय तीन युग—सतयुग, द्वापर और त्रेता—बीत चुके थे और चौथे कलियुग युग का प्रारम्भ था। कलियुग के प्रारम्भ का काल आज से पाँच हजार वर्ष ही पूर्व का है।

† यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र १-८। ये ही मंत्र ऋग्वेद में भी मौजूद हैं।

¶ ऋग्वेद अष्टक ८ अ० ७ वर्ग १७ मन्त्र १-६।

जहाँ कि वैदिक काल में सांख्य और मीमांसादर्शन के विचारों का अस्तित्व ऋग्वेद से प्रमाणित होता है वहीं इस समय जैन दर्शन का अस्तित्व भी स्वतन्त्र ऐतिहासिक सामग्री के दूसरे अंश से प्रमाणित है।

सिन्ध में जो मोहनजीदारू की खुदाई हुई है जिसको अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं उनमें कुछ ऐसे चिह्न निकले हैं जिनसे उनके समय में जैन धर्म का अस्तित्व प्रमाणित होता है। भगवान ऋषभदेव की खड़गासन मूर्ति और प्लेट नं० ४४९ उन ही में से हैं। प्लेट पर स्पष्ट शब्दों में "नमोजिनेश्वराय" लिखा हुआ है। इसके सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए डा० प्राणनाथ ने निम्नलिखित शब्द लिखे हैं:—The names and symbols on plates annexed would appear to disclose a connection between the old religion cults of Hindus & Jain with those of the Indus People......It my also be noted that inscription on the Indus seal NO 449 reads according to my decipherment Jineswara or Jinesah.—Indian H. quarterly V. VIII. डा० प्राणनाथ एक आर्य समाजी विद्वान् हैं, आर्य गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक हैं और आजकल आप विश्वविद्यालय काशी में प्रोफेसर हैं। ऐसी अवस्था में कोई कारण नहीं जिससे आपकी इस मान्यता को स्वीकार करने से इन्कार किया जा सके। यही बात भगवान ऋषभदेव की मूर्ति के संबंध में है। भगवान ऋषभदेव की मूर्ति को ही कुछ विद्वानों ने पशुपति की स्वीकार किया था, किन्तु पिछले दिनों के अनुसन्धान ने अब इस विषय को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। किसी भी

स्थान या किसी भी पुस्तक में आज तक पशुपति की मूर्ति का खड़्गासन के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। प्रो० रायबहादुर रामप्रसाद चन्दा ने इसही मूर्ति को आदिपुराण के वर्णन से मिलाया है।*

इस प्लेट के लेख या मूर्ति के निर्माण का समय ऋग्वेद से किसी भी तरह पीछे का नहीं है। निष्पक्ष विद्वानों ने भी इन दोनों वस्तुओं को आज से ५-६ हजार वर्ष प्राचीन का माना है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी ईश्वर के निमित्त-कारणवाद का उल्लेख नहीं मिलता। इसके बाद में बने हुए ब्राह्मणग्रन्थों और सूत्र साहित्य की भी ऐसी ही परिस्थिति है। ये भी ईश्वर के निमित्त कारणवाद का समर्थन नहीं करते। वेदान्त-दर्शन के रचयिता वेदव्यास का समय भी बहुत प्राचीन है। इन ही ने वेदमन्त्रों का संग्रह करके उनको संहिता का रूप दिया था। सूत्र साहित्य और प्रायः ब्राह्मण साहित्य इनके समय के बाद ही का है। ये अद्वैतवाद के समर्थक तो थे ही, किन्तु इन्होंने अपने वेदान्तसूत्रों में सांख्य तत्त्वों और जैन तत्वों का भी खण्डन किया है।† अतः इनके समय में भी यह सब ही मान्यतायें स्वीकार करनी पड़ती हैं।

ईश्वर के निमित्तकारणवाद की तो बात ही निराली है। यह तो बहुत पीछे की कल्पना मालूम होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका और वैशेषिक दर्शनकार कणाद का एक ही समय प्रतीत होता है। परमाणुवाद की मान्यता वैदिक सम्प्रदाय या सम्प्रदायों

---

* देखो मॉडन रेव्यून अगस्त ३२।

† नैकस्मिन्न सम्भवात्। —वेदान्तसूत्र अ० २ पा० २ मंत्र ३३।

की निजी मान्यता नहीं है। यदि ऐसा होता तो वैशेषिक दर्शन से पहिले ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलना चाहिये था। वैशेषिक दर्शनकार कणाद का समय अनुमानतः ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व का है। ऐसी अवस्था में ईश्वर के निमित्त कारणवाद की कल्पना का भी यही समय ठहरता है।

इन सब बातों के आधार से हम इस बात के कहने के अधिकारी हैं कि सर्वज्ञता के इतिहास के सम्बन्ध में आक्षेपक की कल्पना निराधार है।

अब हम अपनी लेखमाला के सर्वज्ञत्व सम्बन्धी प्रकरण को यहाँ समाप्त करते हैं।

सर्वज्ञता की प्रचलित मान्यता जैन धर्म का मर्म है या आक्षे-की धारणा, अब इसके सम्बन्ध में हम एक अक्षर भी लिखना अनुपयोगी समझते हैं। हमारा जो कार्य था वह हमने किया है; अब विद्वान् पाठकों का कर्तव्य है कि वे इस पर निष्पक्ष रीति से विचार करें और वस्तु स्वरूप की वास्तविकता को पहिचानें।

॥ शुभमस्तु सर्व जगतः ॥

तीसरा अध्याय

दिगम्बरत्व

क्या भ० पार्श्वनाथ के साधु वस्त्रधारी थे ?

आक्षेपक का कहना है कि मुनि जीवन में नग्नता का समावेश भगवान् महावीर ने ही किया है। इनसे पूर्व भ० पार्श्वनाथ के शासन में ऐसी बात नहीं थी। उस समय साधु वस्त्रधारो भी हुआ करते थे। आपका यह भी कहना है कि भ० पार्श्वनाथ के शासन में अन्य बातें भी अनिश्चित थीं, जिनको भ० महावीर ने निश्चित किया है।

ऐसी परिस्थिति में निम्न बातें विचारणीय हो जाती हैं—

(१) क्या भ० पार्श्वनाथ के शासन के साधु वस्त्रधारी थे ?

(२) क्या भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर के शासनों में अन्तर था ?

(३) क्या भ० पार्श्वनाथ के समय में कुछ बातें अनिश्चित थीं ?

(४) क्या नग्नता मोक्ष के लिये अनिवार्य नहीं है ?

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन के साधुओं को वस्त्रधारी प्रमाणित करने के लिये लेखक ने उत्तराध्ययन के केशि गौतम संवाद के एक अङ्ग को उपस्थित किया है।

विचारशील पाठक आपके दिये हुए प्रमाण पर भली भांति विचार कर सकें अतः यहाँ हम उसको ज्यों का त्यों उपस्थित करते हैं।

"केशि—महावीर ने दिगम्बर वेश क्यों चलाया ?

गौतम—भगवान् ने केवल ज्ञान से जान कर जिसको जो उचित है, उसको वैसा ही धर्मोपकरण बतलाया है। दूसरी बात यह है कि लिङ्ग तो लोगों को यह विदित कराने के लिये है कि यह साधु है। (इसलिये दिगम्बर लिङ्ग धारण करने पर भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि यह भी लोक प्रत्यय का कारण हो सकता है।) तीसरी बात यह है कि संयम निर्वाह के लिये लिङ्ग है। चौथी बात यह है कि मैं साधु हूं, इस प्रकार की भावना बनाये रहने के लिये लिङ्ग हैं। ये सब काम दिगम्बर लिङ्ग से भी हो सकते हैं और वास्तव में तो ज्ञानदर्शन चारित्र ही मोक्ष का साधक है, लिङ्ग नहीं।

निष्पक्ष विचारक का यह कर्तव्य है कि वह प्रमाणों के अनुसार अपनी सम्मति को बनावे। हाँ, उसको यह अधिकार है कि वह किसी भी उल्लेख की सत्यता की परीक्षा करे या उसको अस्वीकार करे। किन्तु उसका यह कर्तव्य नहीं कि वह शास्त्रीय उल्लेखों को अपनी सम्मति के अनुसार बनाने की चेष्टा करे। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई-कोई महानुभाव शास्त्रीय उल्लेखों को अपने अनुकूल बनाने के लिये उसके अर्थों में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर दिया करते हैं।

आक्षेपक का उत्तराध्ययन का प्रस्तुत भाषान्तर भी इनही में से एक है। आपने भी उत्तराध्ययन के कथनानुसार अपनी सम्मति नहीं बनाई। किन्तु अपनी सम्मति के अनुकूल उत्तराध्ययन के उल्लेख को बनाने की चेष्टा की है। इसीलिये आपको उत्तराध्ययन

के अर्थ में कहीं २ परिवर्तन और कहीं २ परिवर्द्धन भी करना पड़ा है।

लेखक ने केशि के प्रश्न का भाषान्तर करते हुए दिगम्बर को वेष लिखा है, यह मिथ्या है। मूल में दिगम्बर* अचेलक के साथ धम्म शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ धर्म है। इसही प्रश्न में अचेलक को दोनों स्थानों पर धर्म ही स्वीकार किया है।

इसही प्रकार की ग़ल्तियाँ आपने उत्तर के भाषान्तर में की हैं। पहिली बात तो यह है कि उत्तर वाली पहिली गाथा में आया हुआ 'विन्नावेण समागम्म' पद क्रियाविशेषण है तथा उसका सम्बन्ध गाथास्थ अब्बवी क्रिया से है। अतः इस गाथा का यह अर्थ हो जाता है कि विज्ञान से अच्छी तरह समझ कर गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया......। आक्षेपक ने इस गाथा में से ही इतना अर्थ और भी लिख दिया है कि "भगवान् ने केवल ज्ञान से जान कर, जिसको जो उचित है उसको वैसा ही धर्मोपकरण बतलाया है।" दूसरी बात यह है कि केशिके प्रश्न अचेलक धर्म के सम्बन्ध में थे। अतः गौतम का उत्तर भी उनही के सम्बन्ध में है। इसमें आक्षेपक का लिंग का समन्वय करना भी निराधार है। इसही प्रकार इसही भाषान्तर का यह अंश कि "यह सब काम दिगम्बर लिङ्गसे भी हो सकते हैं,' बिल्कुल निराधार है। मूलगाथा में ऐसा कोई भी शब्द नहीं जिसका प्रस्तुत अर्थ निकाला जा सके। दिगम्बरत्व को केवल लिङ्ग बतलाना और उसका प्रयोजन अपने भाषान्तर में

* अचेलगो य जो धम्मो २६। धम्मे दुविहे मेहावी—३० उत्तराध्ययन

बतलाई हुई बातें लिखना भी मूल के प्रतिकूल है। मूल में दिगम्बरत्व को धर्म और व्यवहार मोक्ष मार्ग स्वीकार किया गया है।

आक्षेपक ने ऐसा क्यों किया ? उनका अर्थ के इस परिवर्तन और परिवर्द्धन में क्या मन्तव्य सिद्ध होता है ? इत्यादि प्रश्नों का यही उत्तर है कि उन्होंने इनसे अपने मन्तव्य की पुष्टि की चेष्टा की है। आपका कहना है कि साधु नग्न भी हो सकता है और वस्त्रधारी भी। इसलिये उन्होंने केशि के दिगम्बरत्व धर्म विषयक प्रश्न के उत्तर की बातों को साधारण लिङ्ग के सम्बन्ध में घटित करने की चेष्टा की है तथा फिर इसही आधार से आपने दिगम्बरत्व को लिङ्ग लिखा है। इससे आपने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है कि जिस-जिस में ये सब बातें ठीक बैठ जाती हों, वही लिङ्ग है तथा ये बातें दिगम्बरत्व और वस्त्र सहित दोनों से ही ठीक बैठ जाती हैं अतः दोनों ही लिङ्ग हैं।

इससे पाठक समझ गये होंगे कि यह सब आक्षेपक का असफल प्रयत्न है। केशि का प्रश्न दिगम्बर धर्म के सम्बन्ध में था, अतः उसका गौतम का समाधान भी उसही के सम्बन्ध में है दूसरे मूल में भी ऐसा कोई पद नहीं जिसका आक्षेपक वाला अर्थ निकाला जा सके। इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक भगवान् महावीर के धर्मोपदेश का सम्बन्ध है वहाँ तक दिगम्बरत्व ही सिद्ध होता है न कि अन्य भी। यह सब विचार तो हमने उत्तराध्ययन के प्रस्तुत अंश को अभ्युपगम सिद्धान्त* से स्वीकार कर

* अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।
—न्यायदर्शन १-३६

लिया है वैसे तो हम उत्तराध्ययन के इस अंश को प्रमाण स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विशेष विचारणीय हैं—श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार अङ्गों की तीन वाचनायें हुई है। एक पटना में, दूसरी मथुरा और तीसरी वल्लभीपुर में। इन तीनों ही वाचनाओं में अङ्गों को संक्षित किया गया है।† प्राचीन अङ्गों की भाषा तो पटना की वांचना में नहीं रहीं और पटना की वाचना वाली भाषा मथुरा की वाचना में परिवर्तित हो गई। इसही प्रकार यह भी स्थिर न रह सकी और इसको भी वल्लभीपुर में बदलना ही पड़ा। प्रस्तुत सूत्र साहित्य की भाषा अधिकतर इसही वाचना की भाषा है। इसका समय वीर सम्वत्९६३ और मथुरा की वाचना का समय वीर संवत् ८१४ है।

किसी भी कथन की भाषा में अन्तर लाये बिना उसको संक्षिप्त नहीं किया जा सकता। किसी को भी संक्षिप्त करने के लिये उसकी भाषा में अन्तर लाना अनिवार्य है। यह खयाल करना कि भाषा में बिना परिवर्तन किये ही ग्रन्थ का परिमाण कम कर देने से वह संक्षिप्त हो जायगा एक कल्पना मात्र है, ऐसा करने से कोई भी ग्रन्थ संक्षिप्त नहीं किया जा सकता। हाँ, उसको कम किया जा सकता है। कम करने और संक्षिप्त करने में भारी अन्तर है। संक्षिप्त करने पर भी उससे उतना ही मतलब निकलना चाहिये जितना उसके विस्तृत रूप से निकलता था कम होने पर यह बातनहीं रहती।

अतः श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार ही सूत्र साहित्य की

† शास्त्रोद्धारमीमांसा (श्री अमोलक ऋषिकृत पृ० ३४–८)

प्राचीन और नवीन भाषा में अन्तर मानना ही पड़ता है। यही कारण है जिसमें वर्तमान सूत्र साहित्य की भाषा भगवान महावीर और उनके निकट के समय की नहीं है किन्तु बहुत बाद की है। जिन भाषा-शास्त्रियों ने इनका अध्ययन किया है वे भी इस ही परिणाम पर पहुंचे हैं।*

श्वेताम्बरीय वर्तमान सूत्र साहित्य में केवल भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु इनमें समय २ की बातों का सम्मिश्रण भी हुआ है। सूत्र साहित्य में ऐसी बातें भी मिलती हैं जो भगवान महावीर के छः सौ वर्ष बाद तक की है। ठाणांग सूत्र में ७ अछेरों का वर्णन है। इनमें से अखीर के दो भगवान के ५४५ और ५८४ वर्ष बाद हुये हैं तथा इनका इसमें भूतरूप में वर्णन है।×

इसी प्रकार भद्रवाहु रचित कहे जाने वाले कल्पसूत्र में वीर सम्वत ८०० के बाद तक की पट्टावलियों का उल्लेख मौजूद है। ऐसी परिस्थिति में श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार ही यह कैसे

---

* The Language of the Jain Canon (Svetambare Jainangas) is far letter then the time of the nandas. and if the Language could be changed then the Content also was far from Secure; Indeed Jaina tradition reneals it's early looses and we have no right to hold that the present Canon in substance or detail goes back to the fourth century B. C.

Prof. A. Bauible Keith M. A. D. P. H. I L.

Sir Ashutosh memorial V. P. 21.

× ठाणांग सूत्र सटीक ५८७ उववाई विशेषावश्यक भाष्य।

स्वीकार किया जा सकता है कि वर्तमान सूत्रों में समय समय पर सम्मिश्रण नहीं हुआ है।

यह बात यहीं तक समाप्त नहीं होती। अभी तो ऐसे भी प्रमाण मौजूद हैं जिनसे बल पूर्वक यह कहा जा सकता है कि वर्तमान सूत्र साहित्य पर बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य का भी प्रभाव पड़ा है। उनकी रचना में इनसे बहुत कुछ सहायता ली गई है। दूसरे सूत्रों को न लेकर अभी हम उत्तराध्ययन के सम्बन्ध में ही इस बात का विशेषता के साथ उल्लेख करेंगे। उत्तराध्ययन का बहुत कुछ अंश धम्मपद की नकल है। या यों कहिये कि इसकी रचना में उसकी सहायता ली गई है। पाठकों के परिचय के लिये यहाँ हम दोनों के कुछ उद्धरण दे देना आवश्यक समझते हैं।

उत्तराध्ययन में वही भाव वैसे ही शब्दों, वाक्यांशों और कहावतों में प्रकट किया गया है जो कि वैसे ही शब्दों, वाक्यांशों और कहावतों में बौद्ध पिटकों में मिलता है। उभय साहित्य की शब्द समानता के समर्थन में निम्नलिखित शब्द उपस्थित करते हैं:—

अप्पकुक्कए-अप्पकुक्कच, उक्कुडुओ-उक्करिको, लूहलूख, परीसहा–परिस्सहा, मिलक्खुआ-मिलिक्खुका अइच्छति–अतिच्छति; सल्लेह–सल्लेख; तसेसु थावरेषु च वाक्यांशों (Phrases and word clusters) की समानता में निम्नलिखित बातें ली जा सकती हैं–धर्माण संतए–धमाणि सन्तथ, जहाकरेणु परिकिण्णे कुञ्जरे सट्ठिहायणे (उ० ११–२८) सेय्यथाऽपि नागकुञ्जरो सट्ठिहायनो गम्भीरं पोक्खरणिं ओगाहेता (म० नि० ३५–२ धोरव्हशील (ध० २०४) धोरञ्जसीला (१४–३५) नाहदूरमणासन्ने–

नातिदूरं न अच्चासन्ने। यह समानता यहाँ तक समाप्त नहीं हो जाती किन्तु श्लोक के श्लोक भी दोनों में एक से मिलते हैं—

मासे मासे उजो वालो कुसग्गेणतं भुञ्जए।
नसो सुअक्खा अधम्मस्स कलं अग्घति सोट्ठसिं

(उत्तराध्ययन ६–४४)

मासे मासे कुसग्गेन वालो भुञ्जेथ भोजनं।
नसो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोट्ठसि॥

(धम्मपद ७०)

जो सहस्सं सहस्सेण सङ्गामे दुंज्जए जिणे।
ऐगं जिणिज्ज अप्पाणं एस मे परमोजओ॥

(उत्तराध्ययन ६–३४)

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसेजिने।
एकं च जेष्पमतानं स वे सङ्गामजुत्तमो॥

(धम्मपद १०३)

एवं अलिप्तं कामेहिं तं वयं ब्रूम माहणं—

(उत्तराध्ययन १५–२६)

यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूम ब्राह्मणं—

(धम्म० १४१)

कम्मुणा वंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।
कम्मुणा वइसो होई सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

(उत्तरा० २५–३२)

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मणा वसलो होति कम्मणा होति ब्राह्मणो॥

(सु० नि० १३६)

पंतं समणा समणासणं भइत्ता— (उ० १५-४)

पन्तं च समनासनं— (ध० १८५)

अन्य भी अनेक प्रमाण इस प्रकार के दोनों साहित्य में मौजूद हैं किन्तु हमने नमूने के तौर पर यहाँ कुछ लिखे हैं।

उत्तराध्ययन २९-४२ में ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम का भी उल्लेख मिलता है। ऐसे ही अन्य उल्लेखों में भी उत्तराध्ययन खाली नहीं है यह सब इस पर ब्राह्मण साहित्य का प्रभाव है।

जैनियों में भी विभाग हुए हैं किन्तु वे विभाग इन चार आश्रमों में नहीं हुए। इस प्रकार के विभाग तो केवल ब्राह्मण साहित्य में ही मिलते हैं।*

बौद्ध पिटकों की भाषा तथा उनका निर्माणकाल श्वेताम्बरीय सूत्रों की भाषा और निर्माण काल से प्राचीन है ऐसी परिस्थिति में बौद्ध साहित्य का ही प्रभाव श्वेताम्बरीय सूत्रों पर स्वीकार करना होगा।

यात्री हुएनसांग ने सिंहपुर स्तूप के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए लिखा है कि "स्तूप की बगल में थोड़ी दूर पर एक स्थान है, जहाँ श्वेताम्बर साधु को सिद्धान्तों का ज्ञान हुआ था और उसने सबसे पहले धर्म का उपदेश दिया था। इन लोगों ने अधिकतर बौद्ध पुस्तकों में से सिद्धान्तों को उड़ाकर अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया है।"

---

* ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनीभवद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। शतपथ ब्राह्मण का० १४

हुएनसांग का भारत भ्रमण पृ० १४२

ऐसी परिस्थिति में श्वेताम्बरीय सूत्र साहित्य पर बौद्ध और ब्राह्मणों का प्रभाव स्वीकार करना ही होगा।

इसके सम्बन्ध में एक बात यह भी है कि जिस समय उत्तराध्ययन की रचना हुई है, विद्वान् लेखक इसको भले ही वाचना कह कर अपने मन को सन्तुष्ट करले, वह एक ऐसा समय था जबकि दिगम्बर श्वेताम्बर का मतभेद हो चुका था। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि जिसके रचयिता ने अन्य सामयिक बातों को लिखा हो, बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य से सहायता ली हो वह इस मतभेद के प्रभाव से अछूता ही रहा होगा और उसने जो कुछ भी लिखा है वह इस सम्वाद के आधार से श्वेताम्बरीय मान्यता को केवल प्राचीन रूप देने के लिये नहीं लिखा।

ऐसा हो भी जाया करता है। थेरावली की पोल (श्वेताम्बरीयकृति) अभी कुछ ही पूर्व खुल चुकी है, उत्तराध्ययन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ मालूम पड़ता है। उत्तराध्ययनकार को ऐसा सूझा मालूम पड़ता है कि वह कोई ऐसा सम्वाद या उसका भाग विशेष निर्माण करे जिसके द्वारा भ० पार्श्वनाथ के समय में साधुओं को सवस्त्र स्वीकार किया जा सके। इस ही का यह परिणाम है। ऐसी परिस्थिति में उत्तराध्ययन के प्रस्तुत सम्वाद को उसकी रचना से सैकड़ों वर्ष पूर्व की घटना के सम्बन्ध में ऐतिहासिक आधार मानना युक्तियुक्त नहीं है।

अतः उत्तराध्ययन के प्रस्तुत सम्वाद के आधार से भ० पार्श्व-

नाथ के शासन के साधुओं को वस्त्रधारी प्रमाणित करने की चेष्टा करना बिलकुल व्यर्थ है।

भ० पार्श्वनाथ के समय के मुनियों को वस्त्रधारी प्रमाणित करने के लिये लेखक ने अन्य किसी युक्ति को उपस्थित नहीं किया है अतः यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् पार्श्वनाथ के काल के साधुओं को सवस्त्र कहना केवल कल्पना मात्र है।

क्या भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर के शासनों में अन्तर था ?

आक्षेपक दिगम्बरत्व को ही भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर के शासन में अन्तर की बात नहीं मानते किन्तु ब्रह्मचर्य को भी आपने इसके साथ लिया है। आपका कहना है कि भ० पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चार महाव्रतों का उपदेश दिया था किन्तु भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी उनके साथ ही लिया है। इस प्रकार भ० महावीर ने चार के स्थान पर पांच महाव्रतों का उपदेश किया है।

दिगम्बरत्व के सम्बन्ध में तो हम अपने पिछले लेख में यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं। अब हमको इस लेख में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विचार करना है। आक्षेपक ने अपनी इस बात के समर्थन में दो प्रमाण लिखे हैं। एक उत्तराध्ययन का केशि गौतम सम्वाद और दूसरा मूलाचार। ये दोनों प्रमाण आपके ही शब्दों में निम्नलिखित हैं।

"केशि—चार प्रकार के चारित्र को महावीर ने पांच प्रकार का क्यों बतलाया? जब दोनों का एक मार्ग है तब अन्तर का कारण क्या है? गौतम—पार्श्वनाथ के समय में लोग सरल प्रकृति के थे। अब कुटिल प्रकृति के लोग हैं। उनको स्पष्ट समझाने के लिये ब्रह्मचर्य के विधान की आवश्यकता हुई।"

"वावीसं तित्थपरा सामायिय संजमं उवदिसन्ति छेदुव ठावाणियं पुण भयवं उस होय वीरो य।

मूलाचार ५३३—बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश करते हैं और भगवान ऋषभ और वीर छेदोपस्थापना का उपदेश करते हैं।" उत्तराध्ययन के इस प्रश्नोत्तर की प्रमाणिकता से पूर्व हम इसके हिन्दी भाषान्तर की परीक्षा करना आवश्यक समझते हैं। आक्षेपक ने उपर्युक्त हिन्दी वाक्य उत्तराध्ययन के निम्न-लिखित प्राकृत शब्दों के भाषान्तर स्वरूप लिखे हैं—

चाउज्जामो इमो धम्मो जो इमो पंच सिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥२३॥

एग कज्ज पवन्ताणं, विशेषे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावि कहं विपच्चओ न ते ॥ २४ ॥

ततो केसिं व्वुवंतन्तु गोयमो इण मव्ववी।
पन्ना समिक्खिए धम्मतरां तत्तविणिच्छियं ॥ २५ ॥

पुरिमा उज्जु जड्डाओ, वक्कजड्डाओ पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्नाओ तेण धम्मे दुहाकए ॥ २६ ॥

पुरिमाणं दुव्विसोज्झोओ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पोमज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपातओ ॥ २७ ॥

उत्तराध्ययन केशिगौतम सम्वाद

आक्षेपक के इस प्रश्नोत्तर के भाषान्तर के सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि इन्होंने गौतम के पूरे उत्तर को नहीं लिखा किन्तु उनका एक देश लिखा है। गौतम का पूरा उत्तर उद्धृत २६-२७ गाथा में है। इनका आशय यह है कि प्रथम तीर्थंकर भ० ऋषभदेव के समय के साधु सरल, किन्तु मूर्ख होते हैं और अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर के समय के साधु वक्र और मूर्ख होते हैं। पहिले तीर्थंकर के शासन के साधु कठिनता से समझते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के बड़ी कठिनता से पालन करते हैं। किन्तु बीच के तीर्थंकरों के शासन के साधु सरलता से समझते और पालन करते हैं। अतः धर्म का दो तरह से वर्णन किया है।

गौतम के उत्तर के इस आशय से पाठक समझ गये होंगे कि गौतम ने अपने उत्तर में २४ तीर्थङ्करों का उल्लेख किया है। उन्होंने केवल भ० पार्श्वनाथ का उल्लेख करते हुए ही केशि के प्रश्न का समाधान नहीं किया है। गौतम के समाधान में चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख रहने पर भी आक्षेपक ने अपने भाषान्तर में केवल भ० पार्श्वनाथ को ही क्यों लिया है या भ० पार्श्वनाथ से पूर्व २२ को क्यों छोड़ दिया है?

ऐसा होना ग़लती से या सरलतता से भी सम्भव है। ग़लती से मेरा आशय यह है कि किसी पद का अर्थ ध्यान में न आवे और आशय लिखते समय उसका उल्लेख रह जाय। यह बात प्रस्तुत भाषान्तर में स्वीकार नहीं की जा सकती, इसके दो कारण हैं। एक तो यह है कि शेष तीर्थंकरों के वाचक शब्द ऐसे कठिन

नहीं हैं दूसरे गाथाओं में वे ऐसे स्थान पर हैं कि जिनके दृष्टि से परे हो जाने पर गाथाओं का अर्थ ही नहीं बैठ सकता।

सरलता से इनके छोड़ देने वाली बात भी स्वीकार नहीं की जा सकती। ऐसा तो तब हो सकता था जब कि शेष तीर्थंकरों के सम्बन्ध की बातें समाधान से असम्बन्धित होती या उनका प्रस्तुत समाधान से कोई उल्लेख योग्य सम्बन्ध न होता। बात यह है कि आक्षेपक ने यह सब जानकर और बड़ी बुद्धिमानी के साथ किया है।

आक्षेपक का कहना है कि भ० पार्श्वनाथ से पूर्व जैनधर्म का अस्तित्व अन्धकार में है और चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता एक कल्पित बात है तथा इसकी कल्पना भ० महावीर के बाद की है।

गौतम स्वामी के प्रस्तुत समाधान को उनके ही शब्दों में उपस्थित करने से निम्नलिखित बातें भी प्रमाणित होती हैं—

(१) चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता भ० महावीर के समय में भी थी, क्योंकि यह संवाद उसही समय का है जबकि भ० महावीर सर्वज्ञ हो चुके थे और विहार कर रहे थे।

चौबीस तीर्थंकरों के अस्तित्व का प्रतिपादन भ० महावीर के ही द्वारा हुआ था, क्योंकि गौतम स्वामी जन्म के ब्राह्मण थे और भगवान् के केवली होने बाद उनके भक्त हुए थे। इनको जो कुछ भी ज्ञान हुआ था उसका आधार भगवान् का उपदेश ही था। गौतम भगवान् के भक्त हुए थे, न कि किसी परम्परा विशेष के। अतः उनके द्वारा चौबीसी की कल्पना की बात भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

इन बातों से आक्षेपक की उपर्युक्त बात का प्रतिवाद होता था। अतः आक्षेपक ने गौतम के समाधान के इस अंश को छोड़ दिया। किसी भी सत्यान्वेशी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। उसका कर्तव्य अपनी सम्मति के अनुसार प्रमाणों को ढालना नहीं है, किन्तु प्रमाणों के अनुसार अपनी सम्मति को बनाना है।

आक्षेपक को उत्तराध्ययन का यह अंश यदि ऐतिहासिक प्रतीत होता था और इसको वह भ० पार्श्वनाथ के अस्तित्व में सबसे प्रबल प्रमाण स्वीकार करते हैं जैसाकि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है तो उनका यह भी कर्तव्य था कि वे इसही ऐतिहासिक संवाद में भ० महावीर के समय चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता को भी स्वीकार करते। ऐसी परिस्थिति में उनको न तो समाधान के अंश विशेष को छोड़ना पड़ता और न इस समालोचना का पात्र ही बनना पड़ता है। किसी भी सत्यान्वेषी से तो ऐसी ही आशा की जा सकती है। यह तो हुई समाधान के आशय को छोड़ देने की बात। अब देखना यह है कि क्या वास्तव में भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीर के शासन में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अन्तर है।

उत्तराध्ययन और मूलाचार के अतिरिक्त अनगार धर्मामृत १

---

१ दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा।
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नायरे सुपटुशिष्याः॥ ६–८७

इसही की स्वोपज्ञ टीका निम्न प्रकार से है—अदिशदुपदिष्टवान्। कोऽसौ ? वीरोऽन्तिमतीर्थंकरः। किं तत्। साम्यं सामायिकाख्यं चारित्रम्। कया व्रतादिभिदा व्रतसमिति गुप्ति भेदेन······

चारित्रभक्ति २ आवश्यक निर्युक्ति ३ और प्रज्ञापना सूत्र की मलयगिरि टीका ४ आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी भगवान् पार्श्वनाथ और भ० महावीर के शासनभेद का उल्लेख मिलता है।

इन चार शास्त्रकारों में से पहिले दो दिगम्बरी हैं तथा बाद के दो श्वेताम्बरी हैं। दिगम्बरी शास्त्रकारों का समय क्रमशः ईसा की दसवीं और चौथी शताब्दी है। श्वेताम्बरी तो आवश्यक निर्युक्ति को भद्रबाहु रचित मानते हैं, किन्तु इतनी बात तो अवश्य है कि यह भी एक प्राचीन शास्त्र है। जहाँ तक शासन भेद के कारण का सम्बन्ध है वहाँ तक ये चारों शास्त्र तथा उत्तराध्ययन और मूलाचार एक मत हैं। इन सब में शासन भेद का कारण एकही बतलाया है। येही जब शासन भेद का वर्णन करते हैं तब इनकी यह एकता भङ्ग हो जाती है। उत्तराध्ययन और अकेला उत्तराध्ययन इसको एक तरह से प्रकट करता है और शेष पाँचों इसको दूसरी तरह से बतलाते हैं। उत्तराध्ययन का कहना है कि यह भेद चतुर्याम और पाँच के आधार से हुआ है तथा शेष पाँचों

२ तिस्रः सत्तमगुप्तयरतनुमनोभाषा निमित्तोदयाः
पंचेर्यादि समाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परैः
राचां परमेष्ठिनो जिनपते वीरान्नमामो वयम् ॥७॥

३ बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उव इसंति।
छेओ वट्ठावणयं वयन्ति उसहो य वीरोय ॥१२४६॥

४ यद्यपि सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकम् तथापि छेदादि विशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरश्च नानात्वं भजते…

का कहना है कि इस भेद का आधार सामायिक और छेदोपस्थापना है। आक्षेपक ने अपनी लेखमाला में इनमें से केवल दो का (उत्तराध्ययन और मूलाचार का) उल्लेख किया है। उत्तराध्ययन के प्रस्तुत अंश का अर्थ तो आपने चार और पाँच महाव्रत किया है तथा मूलाचार के विवादस्थ अंश को उत्तराध्ययन की लाइन पर लाने की चेष्टा की है। आपने लिखा है कि मूलाचार की विवादस्थगाथा में दो स्थानों पर 'य' का प्रयोग हुआ है इसमें सामायिक के साथ छेदोपस्थापना के अतिरिक्त शेष तीन चारित्रों को भी ले लेना चाहिये। उसही सम्बन्ध में आगे चलकर आप लिखते हैं "विष्णुकुमार आदि मुनियों के चारित्र से मालूम होता है कि उस समय प्रायश्चित लिया जाता था और प्रायश्चित के बाद संयम छेदोपस्थापना कहलाने लगता है। इससे यह बात साफ मालूम होती है कि महावीर के पहिले छेदोपस्थापना संयम था, परन्तु किसी कारण से अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चार यमों के स्थान में सामायिक, परिहार विशुद्धि आदि चार संयम आगये हैं। कुछ भी हो परन्तु यह बात दोनों सम्प्रदायों को स्वीकृत है कि पार्श्वनाथ के समय में चार यम थे और महावीर के समय में पाँच हो गये।"

लेखक ने छेदोपस्थापना शब्द के अर्थों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनको ऊपर की पंक्तियों के लिखने की आवश्यकता न पड़ती। प्रस्तुत छेदपस्थापना और प्रायश्चित के बाद की छेदोपस्थापना में यद्यपि शब्द की दृष्टि से समानता है, किन्तु अर्थ में महान् अन्तर है। प्रस्तुत छेदोपस्थापना

का वाच्य भेद स्वरूप धर्म है और प्रायश्चित वाली छेदोपस्थापना का स्थितिकरण। कौन कहता है कि बीच के बाईस तीर्थंकरों के शासन में साधुगण प्रायश्चित नहीं लिया करते थे। लेखक ने यदि मूलाचार पर ही दृष्टि डाली होती तो उनको वहाँ इसका स्पष्ट उल्लेख मिल जाता। मूलाचार में स्पष्ट स्वीकार किया है कि बीच के तीर्थंकरों के शासन के साधु अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण किया करते थे तथा आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के साधुओं के लिये यह आवश्यक नहीं। अन्य शास्त्रकारों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है।

बीच के तीर्थंकरों के शासन में इस छेदोपस्थापना के स्वीकार कर लेने पर भी उस छेदोपस्थापना का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता जिसका निराकरण मूलाचार ने किया है। इस छेदोपस्थापना से भाव तो भेदरूप चारित्र से है—इसीलिये स्वयं मूलाचारकार ने ही आगे चलकर छेदोपस्थापना के स्थान पर पंच महाव्रत शब्द का प्रयोग किया है। अन्य शास्त्रकारों ने भी इस छेदोपस्थापना से ऐसा ही भाव किया है।

मूलाचार कार का तो वक्तव्य केवल इतना ही है कि बीच के तीर्थंकरों ने चारित्र का संक्षेप से वर्णन किया था आदि; आर अन्तिम तीर्थंकर ने इसी का विशदताके साथ विवेचन किया था। उसही भाव से उन्होंने सामायिक आर छेदोपस्थापना शब्दों का प्रयोग किया है—इससे विचारशील पाठक समझ गये होंगे कि बीच के तीर्थंकरों के समय प्रायश्चित व्यवस्था एवं उससे सम्बन्धित छेदोपस्थापना के स्वीकार कर लेने पर भी इससे यह

बात प्रमाणित नहीं होती कि उस समय विवादस्थ छेदोपस्थापना था और इससे अहिंसा आदि चार के स्थान पर सामायिक आदि चार का प्रयोग स्वीकार किया जाय।

दूसरी बात यह है कि जितने भी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों ने इस शासन भेद का वर्णन किया है उन्होंने सामायिक और छेदोपस्थापना के आधार पर ही किया है। केवल एक उत्तराध्ययनकार ही हैं जिन्होंने ४ यम और पांच का इसके सम्बन्ध में उल्लेख किया है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययनकार की यह बात वीर शासन की परम्परागत नहीं है, किन्तु किसी सम्प्रदायान्तर का प्रभाव है। उत्तराध्ययन का मन्तव्य यदि वीर परम्परागत होता तो उसके समकालीन या उसके बाद के शास्त्रों में इसका वर्णन मिलना चाहिये, किन्तु इनमें तो प्रत्युत उसके विपरीत ही मिलता है जैसा कि हम पूर्व बतला चुके हैं। इससे यह धारणा और भी पक्की हो जाती है। बौद्ध साहित्य में जैनियों के चतुर्याम का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ इस बात पर जरा भी प्रकाश नहीं डाला गया कि इस चतुर्याम से क्या मन्तव्य है।

उत्तराध्ययन पर बौद्ध साहित्य का और भी प्रभाव पड़ा है। इसको हम अपने पहिले लेख में सिद्ध कर चुके हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारी धारणा है कि उत्तराध्ययन में इस शब्द का प्रयोग वीर शासन की परम्परा के आधार पर नहीं हुआ है, किन्तु यह यहाँ बौद्ध साहित्य से लिया गया है।

इसके सम्बन्ध में एक बात यह भी है कि यदि चतुर्याम की

बात को सत्य स्वीकार किया जाता है तो वह समाधान जो कि उत्तराध्ययनकार ने शासन भेद के कारण को स्पष्ट करने के हेतु दिया है ठीक नहीं घटता।

शासन भेद के कारण की उत्तराध्ययन की बातों को हम पूर्व ही लिख चुके हैं। यह बातें सामायिक और छेदोपस्थापना के सम्बन्ध में ही घटित होती हैं। चार व्रत के पाँच रूप वर्णन करने में सामान्य और विशेष का विशेष अन्तर नहीं है। यह तो तभी बैठता है जब कि एक समय चारित्र का उपदेश सामायिक रूप माना जाता है और दूसरे समय छेदोपस्थापना रूप। अतः यह बात भी उत्तराध्ययन के शासन भेद के आधार को मिथ्या प्रमाणित करती है।

यदि थोड़ी देर के लिये अभ्युपगमसिद्धान्त से उत्तराध्ययन के इस कथन को सत्य भी स्वीकार कर लिया जाय तब भी भगवान् पार्श्वनाथ के समय में ब्रह्मचर्य का अभाव प्रमाणित नहीं होता। उत्तराध्ययन के मूलपाठ में कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे चतुर्याम का अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह ही अर्थ किया जाय तथा पाँच का इन सहित ब्रह्मचर्य अर्थ किया जाय।

इस सब विवेचन से प्रकट है कि ब्रह्मचर्य विषयक बीच और आदि अन्त के तीर्थंकरों में कथन भेद बतलाना बिल्कुल मिथ्या है। शासन भेद सम्बन्ध में बात यह है कि यह तो एक कथन की प्रणाली है। इसको तो परिस्थिति के अनुसार ही स्वीकार करना पड़ता है। आदि और अन्त के तीर्थंकरों के शिष्यों के प्रतिबोध के लिये विस्तृत शैली की आवश्यकता थी अतः इन दोनों ही

तीर्थंकरों ने उसको ग्रहण किया और उस ही चारित्र को भेद रूप में समझा दिया।

बीच के तीर्थंकरों के समय की परिस्थिति कुछ इससे भिन्न थी। इस समय लोग संक्षिप्त रुचि के थे अतः बीच के तीर्थंकरों ने इस ही को अपनाया और चारित्र का उपदेश संक्षेप में सामायिक के रूप में दिया।

संक्षेप से यह तात्पर्य नहीं कि संक्षेप से वर्णन करते समय व्याख्याता किन्हीं २ बातों को छोड़ जाते थे किन्तु यह है कि उस बात के वर्णन में भेदोपभेद की बात नहीं उठाते किन्तु उस तत्व को ही बतला दिया करते थे।

इससे विज्ञ पाठक समझ गये होंगे कि जिन्होंने सामायिक का उपदेश दिया है उन्होंने किसी बात को जोड़ नहीं दिया था, किन्तु उसी तत्व का उपदेश बिना भेदोपभेद के दिया था जिसको शेष तीर्थंकरों ने भेदोपभेद की बात उठाकर छेदोपस्थापना रूप से किया था।

बात एक ही है। सामायिक और छेदोपस्थापना तो उसको समझाने के केवल दो भाग हैं।

इस से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि चौबीस तीर्थंकरों के कथन में विरोध या मतभेद की बात भी उपस्थित नहीं की जा सकती। अब रह जाती है केवल एक बात और वह है इसही शासन भेद के आधार से भ० पार्श्वनाथ के अस्तित्व को स्वीकार करने की बात; इसके सम्बन्ध में हमको यहाँ केवल इतना ही कहना है कि शासन भेद में भ० पार्श्वनाथ का ही नहीं, किन्तु

अन्य तीर्थंकरों का भी अस्तित्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार भ० महावीर की कथन-शैली से भ० पार्श्वनाथ की कथनशैली भिन्न थी उस ही प्रकार भ० पार्श्वनाथ आदि से भ० ऋषभदेव की थी। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे हो सकता है कि इसके आधार से भ० पार्श्वनाथ को स्वीकार किया जाय और भ० ऋषभदेव को न माना जाय।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि शासन भेद को हम भ० पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों के अस्तित्व के प्रमाणों से भी एक मानते हैं, यह नहीं कि इनके अस्तित्व समर्थन में अन्य प्रमाणों का बिलकुल अभाव ही हो। उपर्युक्त विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि चौबीस तीर्थंकरों के कथन में न नग्नता के सम्बन्ध में ही भेद है और न ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में।

क्या भ० पार्श्वनाथ के धर्म में कुछ बातें अनिश्चित थी ?

आक्षेपक का कहना है कि भ० पार्श्वनाथ के धर्म में कुछ बातें अनिश्चित भी थीं जिनको भ० महावीर ने निश्चित किया था। दीखने में तो यह एक साधारण सी बात जंचती है किन्तु इसका परिणाम विचारने पर यही एक महत्वशाली बन जाती है यदि यह बात स्वीकार करली जाती है तब सर्वज्ञता के खण्डन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि जो व्यक्ति किन्हीं बातों का निश्चय नहीं कर सकता उसको सर्वज्ञ मानना तो एक

दूर की बात है, ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि इस पर गम्भीरता के साथ विचार किया जाय।

आक्षेपक ने अपनी इस बात के समर्थन में उत्तराध्ययन के केशि-गौतम सम्वाद को ही लिखा है। इसके आधार से आपने इस बात को प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि भ० पार्श्वनाथ के धर्म में मोक्ष का स्थान अनिश्चित था और द्वादशाङ्ग की व्यवस्था भी नहीं थी। विचारशील पाठक आपके कथन पर अच्छी तरह विचार सकें अतः यहाँ हम उसको लेखक के ही शब्दों में उद्धृत किये देते है—

"बारहवें प्रश्न से मालूम होता है कि पार्श्वनाथ के समय में मोक्ष का स्थान अनिश्चित था। मुक्त जीव लोकाग्र में स्थिति है। यह बात भी महावीर ने कही होगी..............उत्तराध्ययन में केशिकुमार को श्रुतज्ञानी कहा है जबकि गौतम को द्वादशाङ्ग वेत्ता कहा है। उससे मालूम है कि भ० पार्श्वनाथ का श्रुत अंगों में विभक्त नहीं था। वह एक ही संग्रह था जो श्रुत से कहा जाता था। उससे भ० पार्श्वनाथ के श्रुत की संक्षिप्तता या लघुता और भ० महावीर के श्रुत की विस्तीर्णता और महत्ता मालूम होती है।" यदि सम्वाद के इस अंश की प्रमाणता और अप्रमाणता की बात को छोड़ भी दिया जाय और यही मान लिया जाय कि वास्तव में यह सम्वाद हुआ और केशिकुमार ने गौतम से मोक्ष के सम्बन्ध में ऐसा ही प्रश्न किया था तब भी इससे यही सिद्ध होता है कि केशिकुमार को मोक्ष स्थान का पता नहीं था। इसका यह भाव कदापि नहीं निकलता कि भ० पार्श्वनाथ ने अपने उप-

देश में मोक्ष स्थान का निर्णय नहीं किया था। केशि गौतम के प्रस्तुत सम्वाद और भ० पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश के समय में करीब ढाई सौ वर्ष का अन्तर है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि केशि का ज्ञान वही भ० पार्श्वनाथ का उपदेश था या भ० पार्श्वनाथ ने जिन २ बातों का उपदेश दिया था वे सब केशिकुमार को याद थीं। यह तो भ० पार्श्वनाथ के शासन की बात है। हम तो महावीर शासन में भी इसका अभाव पाते हैं। महावीर के शासन में वे सब बातें जिनका उपदेश भ० महावीर ने दिया था—ढाई सौ वर्ष तक ज्यों की त्यों नहीं रहीं, कुछ के सम्बन्ध में स्मरण का अभाव हो गया और कुछ के स्मरण में विपर्यास हो गया। ढाई सौ वर्ष की बात तो दूर की है वीर के शासन में तो दो सौ वर्ष तक भी श्रुत केवलियों का अस्तित्व नहीं मिलता। क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर दोनों ही मान्यतायें इस बात को स्वीकार करती है कि आचार्य भद्रबाहु वीर शासन के अन्तिम श्रुत केवली हुए हैं और इनका समय वीर सम्वत् से १६२ वर्ष से अधिक का नहीं।

ऐसी परिस्थिति में केशिकुमार के अज्ञान से भ० पार्श्वनाथ के धर्म का निर्णय करना युक्तियुक्त नहीं। भ० पार्श्वनाथ के धर्म का निर्णय तो भ० पार्श्वनाथ के साक्षात उपदेश या उनके उपदेश की अटूट परम्परा से ही किया जा सकता है। उससे तो केवल इतना ही सिद्ध होता है कि केशिकुमार को मोक्षस्थान का पता नहीं था न कि यह कि भ० पार्श्वनाथ के धर्म में यह बात अनिश्चित थी। केशिकुमार के दूसरे प्रश्नों से भी ऐसा ही झलकता है कि

उनकी ज्ञान की मात्रा न्यून थी–दृष्टान्त के लिये चौथे और छठे को ही ले लेजियेगा। लेखक ने केशि के ये प्रश्न और उनके गौतम का उत्तर निम्न प्रकार लिखा है।

"(४) सभी लोग बन्धनों में बंधे हुये हैं तब आप इन बंधनों से कैसे छूट गये? उत्तर—राग द्वेष आदि को चारों तरफ से नष्ट करके मैं स्वतन्त्र हो गया हूं। (६) आत्मा में एक तरह की ज्वालाएं उठा करती हैं तुमने उन्हें कैसे शान्त किया? उत्तर—ये कषायरूपी ज्वालाएं हैं। मैंने भगवान महावीर द्वारा बताये गये श्रुतशील और तप रूपी जल से उन्हें शान्त किया है।

यदि केशिकुमार के प्रश्नों से ही भ० पार्श्वनाथ के धर्म का निर्णय किया जायगा तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि भ० पार्श्वनाथ के धर्म में बन्धनों से दूर होने और कषायों के शान्त करने की बातों का भी अभाव था, जैसा कि उपरिलिखित चौथे और छठे प्रश्नों से स्पष्ट है। जिसको बन्धनों से दूर होने और कषायों के शान्त करने के मार्ग का भी पता नहीं था वह जिनयुग प्रवर्तक तीर्थंकर कैसे हो गया इसका उत्तर भी आक्षेपक ही देंगे।

इन दोनों प्रश्नों की उपस्थिति में यह निःसन्देह हो जाता है कि उन सब बातों से केशिकुमार के ज्ञान सम्बन्ध में ही कुछ भी निर्णय किया जा सकता है न कि भ० पार्श्वनाथ के ज्ञान और उन के धर्म के सम्बन्ध में।

दूसरी बात भी ऐसी ही अटपटी है। केशि को श्रुत ज्ञानी कहा इसका यह तात्पर्य कैसे निकाला जा सकता है कि उस समय

द्वादशाङ्ग की रचना ही नहीं हुई थी। श्रुत केवली को भी तो श्रुत ज्ञानी ही कहा जाता है। भद्रबाहु के सम्बन्ध में इस प्रकार के उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलते हैं। लेखक के आशय के अनुसार इससे भी तो यही परिणाम निकलना चाहिये कि महावीर के शासन में द्वादशांग की रचना का अभाव है, क्योंकि श्रुत केवली भद्रबाहु को श्रुत केवली ही कहा गया है। जो जिसका या जितने अंग का ज्ञाता है उस उसके साथ वैसे ही शब्दों के प्रयोग का नियम या पद्धति होती तब तो लेखक का केशिकुमार को केवल श्रुतज्ञानी लिख देने से विवादस्थ आशय निकालना किसी तरह ठीक भी कहा जा सकता था किन्तु ऐसा न नियम ही है न पद्धति ही। अतः केशिकुमार के सम्बन्ध में केवल श्रुतज्ञानी शब्द के प्रयोग से भ० पार्श्वनाथ के धर्म में द्वादशांग रचना के अभाव की बात ठीक नहीं बैठती।

दूसरी बात यह है कि केशिकुमार का पूर्ण श्रुतज्ञानी होना भी अभी निश्चित नहीं है प्रत्युत इनके सम्बन्ध में तो इससे विपरीत बात ही प्रगट होती है। जैसा कि उनके प्रश्नों से प्रगट है।

ऐसी परिस्थिति में इस ही के आधार से भ० पार्श्वनाथ के श्रुत को संक्षिप्त या लघु कहना किसी भी प्रकार युक्तियुक्त नहीं ठहराया जा सकता। इससे प्रगट है कि आक्षेपक की भ० पार्श्वनाथ के धर्म में कुछ बातों को अनिश्चित बतलाने की बात बिलकुल निराधार है।

क्या नग्नता मोक्ष के लिये अनिवार्य नहीं है ?

इसके सम्बन्ध में आक्षेपक का कहना है कि शरीरधारण करके भी और भोजन लेकर भी अपरिग्रही हो सकता है तो लंगोटी धारण करने पर भी क्यों नहीं ?

इसके सम्बन्ध में आपके निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य हैं—"एक मुनि शरीर का भी त्याग करता है। क्या उसके लिये उसे आत्महत्या सरीखा पाप करना चाहिये ? यदि शरीर के रहते हुए भी शरीर का त्याग हो सकता है तो उसका यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि शरीर तो रखना परन्तु शरीर को अपनी सम्पत्ति नहीं मानना। इसी प्रकार परिग्रह त्यागी, धान्य परिग्रह का भी त्याग करता है किन्तु फिर भी धान्य का भोजन करता है। इस प्रकार धान्य ग्रहण करने पर भी हम उसे धान्य परिग्रही नहीं कहते। भोग या उपभोग से ही परिग्रह नहीं कहलाता। अन्यथा एक मुनि मकान में ठहरता है तो वह गृहपरिग्रही हो जायगा। पानी पीता है तो जल परिग्रही हो जायगा। आसन पर बैठता है तो आसन परिग्रही हो जायगा। इसलिये यह स्मरण करना चाहिये कि जब तक किसी वस्तु में सम्पत्ति रूप से ग्रहण करने की भावना नहीं होती तब तक वह परिग्रह नहीं कहलाता।······ जब शरीर और तदन्तर्गत भोजन में ममत्व नहीं है तो शरीरस्थ लंगोटी में क्या ममत्व हो जायगा······आक्षेप—मुनि अगर वस्त्र धारण कर सकता है तो जेवर क्यों नहीं ? समाधान—गुप्तेन्द्रिय

को ढकने के लिये कपड़ा आवश्यक है, जेवर नहीं।

[जैन-जगत वर्ष ७ अङ्क १२]

क्या २ परिग्रह है और क्या २ परिग्रह नहीं है ? इस बात को निर्णय के लिये प्रथम परिग्रह के लक्षण को ही निश्चित करना चाहिये। परिग्रह की परिभाषा के निश्चित हो जाने पर जिन २ में यह घटित हो जायगी उन उनको परिग्रह स्वीकार कर लिया जायगा। परिग्रह की परिभाषा के लिये इनता ही लिख देना पर्याप्त नहीं कि "जब तक किसी वस्तु में सम्पत्ति रूप से संग्रह करने की भावना नहीं होती तब तक वह परिग्रह नहीं कहलाता।" किसी भी वस्तु में सम्पत्ति रूप से संग्रह करने की भावना हो या न हो यदि वह सराग क्रिया का निमित्त है तो वह परिग्रह है। भोगभूमियां जो चाहते हैं उनको वही मिल जाता है। अतः उनकी किसी भी वस्तु में संग्रह की बुद्धि नहीं रहती तो क्या उनके वस्तु ग्रहण को अपरिग्रह कहा जा सकता है ? यही बात स्वर्गस्थ जीवों की है। स्वर्ग में भी संकल्पमात्र से अमृतपान हो जाता है। यहाँ भी इतनी संग्रह बुद्धि नहीं रहती तो क्या इनका यह अमृतपान भी अपरिग्रह कहना चाहिये ? भोगभूमियां और देवों के अतिरिक्त आज हम में भी बहुत-से ऐसे प्राणी मिलेंगे जो प्रतिदिन जितना उपार्जन कर लेते हैं उतना ही व्यय कर देते हैं, उनमें वस्तुओं के संग्रह करने की बुद्धि नहीं रहती। साम्यवादी राष्ट्रों में इसको बड़ी विशालता के साथ घटाया जा सकता है। वस्तुओं में संग्रह बुद्धि की तो बात ही क्या है ? यहाँ तो उपार्जन के प्रश्न की भी गौणता रहती है। इन देशों में तो केवल अपना नियमित कर्तव्य ही होना

चाहिये। इसके बाद आवश्यक सामग्री तो स्वयं प्राप्त होती है।

भोगभूमियां जीवों को, देवों को और संग्रह की बुद्धि न रखने वाले मनुष्यों को अपरिग्रही किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः स्पष्ट है कि लेखक की परिग्रह की परिभाषा त्रुटिपूर्ण है। सूत्रकार ने मूर्च्छा को परिग्रह स्वीकार किया है।* मूर्च्छा से तात्पर्य किसी वस्तु में ममत्व बुद्धि से है।

मूर्च्छा या ममत्व परिणाम परिग्रह क्यों है? इस बात के निर्णय के लिये धर्माधर्म के स्वरूप पर भी थोड़ा सा विचार कर लेना अनावश्यक न होगा। निश्चय दृष्टि से धर्म से तात्पर्य वस्तु-स्वभाव से है। व्यवहार दृष्टि से उसको भी धर्म माना गया है जिससे वस्तु स्वभाव को प्राप्त किया जाता है। अनन्त चतुष्टय आत्मा का स्वभाव है तथा यह वीतरागता के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है अतः व्यवहार में यही वीतरागता धर्म है वीतरागता को धर्म स्वीकार कर लेने पर यह तो स्वयं सिद्ध होजाता है कि इससे विपरीत अर्थात् सरागता अधर्म है। वीतरागता धर्म है और सरागता अधर्म इस बात के निश्चित हो जाने पर वे सब बातें जिनसे वीतरागता बढ़ती है धर्म मानी जाती हैं और वे बातें जो सरागता को बढ़ाती हैं, अधर्म ख्याल की जाती हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनसे सरागता की वृद्धि होती है; ये सराग क्रियायें हैं अतः इनको अधर्म माना गया है। इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह उससे सरागता में न्यूनता आती है और वीतरागभाव में वृद्धि होती है अतः उनको धर्म स्वीकार किया गया है। इससे पाठक समझ

---

* मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्वार्थ सूत्र

गये होंगे कि परिग्रह को अधर्म और मूर्च्छा या ममत्व बुद्धि को परिग्रह क्यों स्वीकार किया गया है। अब देखना यह है कि मुनि को वीतरागता के निमित्त किन २ बातों की आवश्यकता है? यद्यपि वीतरागता आत्म-स्वभाव है किन्तु फिर भी अनादिकर्म बन्धन से वह प्रकट नहीं हो पाती। ज्यों २ कर्म बन्धन को हल्का किया जाता है त्यों २ वह प्रकट होती रहती है। अतः वीतरागता की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन कर्मबन्धन का अभाव या न्यून होना है। यह संवर और निर्जरा से हो सकता है। ये दोनों तपस्या साध्य हैं। तपस्या शरीर के ही द्वारा हो सकती है तथा स्थिति के हेतु भोजन पान आवश्यक है। अतः शरीर और भोजन पान का तो वीतरागता का साधन होना निःसन्देह है। इससे मेरा यह तात्पर्य नहीं कि जितने भी शरीर हैं या जितने भी प्रकार के भोजन हैं वे सब वीतरागता के साधन हैं किन्तु यह है कि वीतरागता शरीर और भोजन के बिना नहीं हो सकती। अतः वे व्यक्ति जो केवल इस ही दृष्टि से शरीर और भोजनादिक का सम्बन्ध रखते हैं वे परिग्रही नहीं।

वस्त्र के सम्बन्ध में यह बात नहीं। शरीर की स्थिति के लिये वस्त्र की आवश्यकता नहीं। शरीर की स्थिति तो बिना वस्त्र के भी सम्भव है। जिन लोगों ने शरीर-शास्त्र का अध्ययन किया है वे भी इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि दिगम्बरत्व मनुष्य की आदर्श स्थिति† है। हम देखते हैं कि जब तक हम साधु जीवन

† मनुष्यमात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बर ही है। आदर्श मनुष्य सर्वथा निर्दोष है—विकार शून्य होता है। महात्मा गांधी—
(दिगम्बरत्व और दि० मुनि—)

व्यतीत करते हैं तब तक बिना भोजन के हमारा निर्वाह नहीं होता, किन्तु वस्त्र के बिना भी हो जाता है। दिगम्बर साधुओं का अस्तित्व इसके समर्थन के लिये पर्याप्त है। ऐसा कोई भी समय नहीं रहा है जब कि दिगम्बर साधुओं का बिलकुल अभाव हो गया हो। वस्त्र मनुष्य के लिये अनिवार्य होता या इसके बिना शरीर की स्थिति ही न होती तो लम्बे २ समय तक साधु दिगम्बर न रह सकते थे।

जिस श्वेताम्बर समाज ने निर्ग्रन्थ साधुओं के साथ भी वस्त्र का पुन्छल्ला जोड़ा है वे भी जिनकल्पी साधुओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यदि वस्त्र मनुष्य जीवन के लिये अनिवार्य ही होते तो जिन-कल्पी या अन्य दिगम्बर साधुओं का अस्तित्व न मिल सकता था।

भगवान् महावीर स्वयं दिगम्बर थे। स्वयं श्वेताम्बर समाज ने भी उनका बहुत काल तक दिगम्बर रहना स्वीकार किया है। बौद्ध साहित्य भी भ० महावीर को दिगम्बर प्रतिपादन करता है।

जब कि बिना वस्त्र के भी एक लम्बे चौड़े समय तक जीवन निर्वाह और वह भी विशिष्टसंयमी और ज्ञानी अवस्था में हो सकता है तो यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि वस्त्र भी शरीर स्थिति के लिये अनिवार्य है।

लेखक ने स्वयं भी इसके सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि "दिगम्बर वेष के लिये बिना मुक्ति नहीं हो सकती यह एकान्तवाद है। दिगम्बर वेष से भी मुक्ति हो सकती है और अन्य वेष से भी मुक्ति हो सकती है।" जब लेखक स्वयं यह स्वीकार

करता है कि दिगम्बर वेष से भी मुक्ति होती है तब फिर उसका यह लिखना कि "शरीर की रक्षा के लिये वस्त्र की उपयोगिता आहार बराबर तो नहीं, किन्तु कुछ न कुछ अवश्य है" कहाँ तक सत्य है, यह विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। शरीर की रक्षा के लिये वस्त्र की आवश्यकता यदि अनिवार्य होती, चाहे वह कितनी ही मात्रा में क्यों न सही तब उन दिगम्बर साधुओं की जो कि लेखक के कथनानुसार अपने दिगम्बर रूप से ही युक्त्याधार हैं शरीर रक्षा न हुई होती और ना ही वे मुक्त हो सकते थे। दिगम्बर रूप से मुक्ति स्वीकार कर लेने पर तो वस्त्र की अनिवार्यता की बात स्वयं दूर हो जाती है। शरीर रक्षा के लिये वस्त्र की आवश्यकता तो उस ही अवस्था में जानी जा सकती थी जब कि वस्त्र के अभाव में शरीर की स्थिति में बाधा पड़ती हो। यदि ऐसा होता तब तो दिगम्बर रूप से मुक्ति ही असम्भव थी। मुक्ति प्राप्त करना निर्बल या अस्वस्थ का कार्य कदापि नहीं हो सकता।

इस ही प्रकार लेखक का यह कहना कि गुप्तेन्द्रिय को ढकने के लिये कपड़ा आवश्यक है, समुचित नहीं। गुप्तेन्द्रिय ही क्या हर एक अवयव को ढकने के लिये कपड़ा या तज्जातीय अन्य पदार्थ आवश्यक हैं किन्तु पहले यह भी सिद्ध होना है कि साधु को गुप्तेन्द्रिय का ढकना भी जरूरी है। इससे साधु-जीवन में अमुक २ बाधाएं आती हैं। जब तक यह बात सिद्ध न हो जाय तब तक इस ही आधार से साधु-जीवन में कपड़े का पुन्छल्ला कैसे स्वीकार किया जा सकता है। जो स्वयं दिगम्बर वेष से मुक्ति होना मानते हैं वही यह कहें कि गुप्तेन्द्रिय का ढकना और

उसके ढकने के लिये कपड़ा जरूरी है; कितने आश्चर्य की बात है? इसका तो यह तात्पर्य समझना चाहिये कि दिगम्बर वेष से जितने मुक्त हुए उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया और फिर भी वे मोक्ष चले गये।

दिगम्बर वेष से भी मोक्ष स्वीकार कर लेने पर भी गुप्तेन्द्रिय के ढकने की आवश्यकता बतलाना एक शेखचिल्लियों जैसी बात है।

इन सब बातों के बल पर यही कहना पड़ता है कि शरीर स्थिति के लिये वस्त्र का होना अनिवार्य नहीं।

शरीर स्थिति के अतिरिक्त भी अन्य और कोई मार्ग नहीं जिसके द्वारा वस्त्र को वीतरागता का कारण स्वीकार किया जा सके। अतः यही कहना पड़ता है कि शरीर के रहने पर, भोजन करने पर, आसन पर बैठने पर, और जल पीने पर भी साधु परिग्रही नहीं; क्योंकि वह उन सब कामों के द्वारा केवल वीतरागता की वृद्धि करता है। या यों कहिये कि साधु की वीतरागता की अभिव्यक्ति के लिये यह अनिवार्य है। इनको या इनमें से एक को भी छोड़ दिया जाय तो फिर वीतरागता की आराधना असम्भव हो जाती है अतः इन सब के रहने पर भी साधु को परिग्रही स्वीकार नहीं किया जाता। ये बातें वस्त्र के सम्बन्ध में घटित नहीं होतीं। वस्त्र के साथ शरीर स्थिति या वीतरागता का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है अतः इसको वीतरागता के निमित्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। वीतरागता और सरागता परस्पर विरुद्ध हैं। जहाँ इनमें से एक का अभाव है वहाँ दूसरी का

सद्भाव अवश्यंभावी है। वस्त्र के आधार से साधु में वीतरागता को स्वीकार नहीं किया जा सकता जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं अतः उसके आधार से साधु सरागता ही माननी पड़ती है।

साधु का भोजन स्वयं वीतरागता का साधन नहीं किन्तु वीतरागता के साधन शरीर के साधन हैं अतः इसको भी वीतरागता का साधन माना जाता है। इस ही प्रकार वस्त्र स्वयं सरागता का निमत्त है दूसरे लज्जारूप राग की वृद्धि का कारण है अतः इस दृष्टि से भी यह सरागता का ही कारण समझा जाता है। जितेन्द्रिय और लज्जाजयी को बालक की भांति क्या आवश्यक है कि वह अपनी गुप्तेन्द्रिय को ढके। बालक और जितेन्द्रिय साधु में केवल इतना ही अन्तर है कि अभी बालक में विकारभाव उत्पन्न ही नहीं हुए और साधु में उत्पन्न होकर भी दूर हो चुके हैं।

इन सब बातों के आधार से यह बात प्रगट है कि सवस्त्र अवस्था में पूर्ण वीतरागता एवं उससे होने वाली मोक्ष का साधन नहीं हो सकता अतः मोक्ष के लिये नग्नता को अनिवार्य ही स्वीकार करना पड़ता है।

मुद्रक—कपूरचन्द जैन, महावीर प्रेस, किनारी-बाजार, आगरा।

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	८	सामायिक	सामयिक
२	१४	,,	,,
४	११	,,	,,
४	१२	,,	,,
७	१०	सर्वज्ञ	सर्वत्र
८	१०	को	का
१०	१७	से	में
११	१४	सामायिक	सामयिक
१६	२५	अनगारधर्मामृत	मूलाचार
१७	४	इस	अतः
१६	२०	रखने	रख
२०	१२	सामान्य	विशेष
२१	१६	उपस्थिति	उपस्थित ;
२४	३	अविश्वासनीय	अविश्वसनीय
५३	१६	युक्तियुक्ति	युक्तियुक्त
६३	१०	इण्डिया के	इण्डिया के तारीख १४ अप्रेल ३५
७६	१६	उपस्थिति	उपस्थित

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	२४	देखें	देख सकेंगे
८०	१०	उपस्थिति	उपस्थित
८२	१४	लक्ष्य	×
८२	२२	पत्रासौ	यत्रासौ
६३	५	उसमें	उससे
६३	६	सबका	सब में इसका
६३	१४	समान	×
१०६	१२	नहीं	ही
१३५	१८	अनुमायक	अनुमापक
१३६	४	व्यभिचारी	व्यभिचार
१४३	१२	विपयता	विषयता
१५३	६	समान से समान	समान से समान, समान समान
१६६	१५	रह	कहे
१६६	१७	रहा	कहाँ
१७१	१३	प्रसिद्ध प्रस्तुत	प्रस्तुत कथन
१७१	१४	इस पर	इसको
१७२	१	धरित	घटित
१७२	५	”	”
२२३	२	अपूर्व	अपूर्ण
२३८	७	के	से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४३	१४-५	अपनी लेखमाला में स्वतन्त्र रीति से १६-१७ पेज लिख चुके हैं	इस ही पुस्तक में स्वतन्त्र रीति से लिखेंगे
२५५	५	क्यों नहीं घटती	क्यों नहीं घटती उत्तर।
२७६	१०	प्रमाणाज्ञान	प्रमाणज्ञान
२८६	२३	यदि नो	यदि ने
२८७	६	विरोध	विशेष
२६३	३	मनोपयोगी	मनोयोगी
३२०	८	मनोपयोग	मनोयोग
३२०	८-६	अपने १४ वें लेख में	अपने पूर्व लेख में
३२१	१०	सकता	सकता। परिहार—
३२६	१४	मा	उमा
३३०	५	का	क्या
३४६	७	सिद्ध हुआ	सिद्ध हुआ। परिहार—
३६८	२१	सिद्ध होती है	सिद्ध होती है। परिहार
३७०	१	व	तव
४०८	७	उस	उसकी
४१६	११	नही	नहीं"